मिश्रित

विवेकानन्द-चरित

श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार

विवेकानन्द-चरित

स्वामी प्रेमानन्द

समर्पण

श्रीश्रीरामकृष्ण-लीला-सहचर

श्रीमत् स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज

की पुण्य-स्मृति में

यह ग्रन्थ सादर समर्पित करता हूँ।

सेवक—

श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार

वक्तव्य

जनता की आग्रहपूर्ण माँग के कारण 'विवेकानन्द-चरित' का यह द्वितीय संस्करण हमें जल्द ही प्रकाशित करना पड़ा है। यह पुस्तक बंगला के प्रसिद्ध लेखक श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार की मूल पुस्तक 'विवेकानन्द-चरित' का अनुवाद है। स्वामी विवेकानन्द भारत के महान् सन्त थे जिनके हृदय में स्वदेश-प्रेम की अग्नि सतत प्रज्ज्वलित रहती थी। आपने भारतीय और विश्व-संस्कृति के पुनरुद्धार और विकास में अमूल्य योग-दान दिया है। आध्यात्मिक उपदेष्टा तथा राष्ट्र-निर्माता के रूप में आपका भारतीय इतिहास में अत्यन्त उच्च तथा स्पृहणीय स्थान है। आपने हिन्दू-धर्म को नव-जीवन से अनुप्राणित किया, पाश्चात्य देशों को वेदान्त के सत्य से अवगत किया तथा विश्व-विख्यात 'रामकृष्ण मिशन' को प्रस्थापित कर "आत्मनो मोक्षाय, जगद्धिताय च" के उच्च आदर्श के अनुसार सेवा के महत्व को प्रचारित किया। उनके सन्देश तथा उनके दैवी एवं अतुल शक्तिशाली व्यक्तित्व ने नव भारत को नए ढाँचे में ढाला है जिससे वह उनका सदैव कृतज्ञ रहेगा।

हमारा विश्वास है कि स्वामी विवेकानन्द का यह जीवन-चरित हिन्दी जनता को स्फूर्ति प्रदान करेगा तथा अपना उद्देश पूर्ण करने में सफल होगा।

नागपुर,
दि० १ जुलाई १९५१

— प्रकाशक

अनुक्रमणिका

स्वामी विवेकानन्द

विवेकानन्द-चरित

प्रथम अध्याय

बालक विवेकानन्द

(१८६३-१८८०)

ॐ नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-वेदान्ताम्बुजभास्करम् ।
नमामि युगकर्तारम् आर्तनाथं वीरेश्वरम् ॥

भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के मंगलमय आशीर्वाद को शिरोधार्य कर जिन महापुरुष ने इस उन्मार्गगामी, परानुकरण-मोहाच्छन्न आत्मविस्मृत जाति के मध्य खड़े होकर अद्वैतवाद की गम्भीर गर्जना से सनातन धर्म का पुनः उद्घोष किया—जिनका समाधिपूत अपूर्व ज्ञान तपःसम्भूत अमित तेज की उज्ज्वल प्रभा को विकीर्ण कर दस वर्ष तक मध्याह्न सूर्य की तरह समस्त जगत् में अपनी किरणें फैलाता रहा,—जिनकी अक्लान्त चेष्टा तथा निर्भीक आत्मोत्सर्ग से भारत के एक गौरवमय भविष्य का सूत्रपात हुआ,— और केवल भारत ही क्यों, जो अखिल मानव की कल्याण-कामना से महान् युगादर्श को अपने जीवन में मूर्त बनाकर अवतीर्ण हुए थे, उन जगद्गुरु आचार्य श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव एवं तिरोभाव दोनों ही आज अतीत की घटनायें हो चुकी हैं।

भारतीय इतिहास के एक संकटमय संक्रान्तिकाल में, इस पराजित जाति के अधःपतन की चरमावस्था में संन्यास के महावीर्य का आश्रय ले जिन महापुरुष ने धर्म, समाज और राष्ट्र में समष्टि-मुक्ति के महान् आदर्श को प्रतिष्ठित

किया है, उनके कार्य तथा उपदेशों का ऐतिहासिक महत्व इतने अल्प काल में स्पष्ट रूप से हृदयंगम कर लेना बहुत ही कठिन है। समाज की श्रेणियों में जिस समय उच्च और नीच का भेद असहनीय हो उठता है, राजदण्ड जहाँ दुर्बलों को अन्यायपूर्वक व्यर्थ पीड़ित करता रहता है, मानव-समाज में जिस समय धर्म की ग्लानि प्रकट होती है, अत्याचारपूर्ण दुर्नीतियाँ जब शतशः रूप धारण करती हुई दीख पड़ती हैं, विनाश जब अवश्यम्भावी तथा निकट हो जाता है, तब पुरातन की जीर्ण मृत देह को श्मशान-चिता में फूँककर उसी की राख की ढेरी पर नव स्फुलिंग द्वारा फिर से एक नई सृष्टि का सूत्रपात होता दिखाई देता है। मनुष्य-समाज को समय समय पर ध्वस्त कर गढ़ते रहने की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए श्री स्वामी विवेकानन्द जैसे महापुरुषों का प्रादुर्भाव होता रहता है।

एक दिन, भारत में स्त्री, शूद्र और ब्राह्मणों का भेद चरम सीमा को पहुँच गया था,—अश्वमेध, गोमेध, नरमेध यज्ञों के आडम्बरों से भारतभूमि खून से लथपथ हो उठी थी, चक्रवर्ती सम्राट प्रजाशक्ति के कबंध पर अपने विजयी रथचक्रों को सोन्माद चला रहे थे, प्रजाशक्ति निर्दयता से रौंदी जा रही थी, वेद तथा शास्त्रों का ज्ञान केवल ब्राह्मणों की श्रेणी तक ही सीमित था, सभ्यता अपनी स्वाभाविकता खोकर कृत्रिम हो उठी थी, उस समय इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप भगवान् बुद्धदेव अवतीर्ण हुए;—वेद अस्वीकृत हो गए, ब्राह्मण वर्ग को दूर हटा दिया गया, स्त्री तथा शूद्र धर्म के नाम पर संघबद्ध हुए, चक्रवर्ती सम्राट अपने सिंहासन और राजदण्ड को दूर फेंक बुद्धदेव के पदचिह्नों का अनुसरण कर साधारण भिक्खु के वेष में जीवन के सायंकाल में देश की वीथी-वीथी में भ्रमण करने लगे। सभ्यता की कृत्रिमता का मैल धुल गया, उच्च-नीच सर्वसाधारण में ज्ञान का आलोक फैल गया, और भारतवासियों ने एक अनुपम साम्यवाद के आदर्श में अनुप्राणित होकर धर्म और समाज को नए साँचे में ढाल लिया—राष्ट्र साम्यवाद के इस रूप से प्रभावित हो उठा।

यूरोप के रंगमञ्च पर भी बीते युग में ऐसा ही एक अभिनय हो चुका है। रोम साम्राज्य में जिस दिन उच्च और नीच का भेद प्रबल हो उठा था, विलास और व्यभिचार स्रोत की तरह अनिर्बंध बहने लगे थे, रोम का सम्राट अपने साम्राज्य में शासन के नाम पर प्रजापीड़न करने लगा था, दुर्बल प्रजा पीड़ित, आर्त, भयभीत होकर जब मृतप्राय बन गई थी और धर्म के नाम पर अधर्म का बोलबाला होने लगा था, रोम के नेता जब इन्द्रिय-दास तथा भोग-लोलुप बने हुए थे, उस समय सभ्यता की उस कृत्रिमता के विरुद्ध, उस अधर्म के विरुद्ध, दुर्बल की रक्षा के लिए प्रतिक्रिया के रूप में एक नवीन शक्ति का स्फुरण हुआ था। एक दीन दरिद्र मूर्ख बढ़ई के लड़के ने यूरोपीय इतिहास को अपने अंगुलिनिर्देश-मात्र से पलभर में परिवर्तित कर दिया। ग्रीस व रोम की सभ्यता के बाद यूरोप जब बर्बरता की बाढ़ में बहा ही जा रहा था तब, उस समय प्रलय-पयोधि से महात्मा ईसा ने यूरोप को खींचकर उसकी रक्षा की थी।

हमने स्वामी विवेकानन्द के श्रीमुख से सुना है, "अब तो भारत ही केन्द्र है।" और यह भी सुना है, "हे मानव, मृत की पूजा से हम तुम्हें जीवन्त की पूजा के लिए बुला रहे हैं, गतकाल के लिए शोक करना छोड़कर वर्तमान में प्रयत्न करने के लिए हम तुम्हें बुला रहे हैं, लुप्त मार्ग के पुनरुद्धार में वृथा शक्तिक्षय करने के बजाय नवनिर्मित, विशाल तथा समीप के पथ में हम तुम्हें बुला रहे हैं। बुद्धिमान! समझ लो। जिस शक्ति के आविर्भाव के साथ ही दिग्-दिगन्तर में उसकी प्रतिध्वनि उठ चुकी है, अपनी कल्पना द्वारा उसकी पूर्णता का अनुभव करो और वृथा सन्देह, दुर्बलता तथा दास-जाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष को छोड़, इस महायुगचक्र के परिवर्तन में सहायता करो।"

स्वामी विवेकानन्द के विचार एवं चारित्र मानव सभ्यता के परिवर्तन के इतिहास की परम्परा को बचाकर ही एक के बाद दूसरे स्तर में क्रमशः विकसित हुए हैं। उस विकास की धाराएँ वैचित्र्यपूर्ण होने के कारण समझने में कठिन हैं; अतः उनके सामञ्जस्य की रक्षा करते हुए संगृहीत सामग्री को

ठीक ठीक उपस्थित करने में, सम्भव है, सभी जगह मैं सफल न हो सकूँ; फिर भी महापुरुषों के इस वचन पर श्रद्धा रखते हुए कि लोकोतर चरित्र-सम्पन्न महामानवों की पवित्र जीवनी की चर्चा द्वारा हमारा विशेष कल्याण होता है, मैं इस कार्य में अग्रसर होने का दुःसाहस कर रहा हूँ। अस्तु—

कलकत्ता नगरी के उत्तर भाग में सिमुलिया मोहल्ले में गौरमोहन मुकर्जी स्ट्रीट के दत्त-परिवार के विशाल भवन का एक जीर्ण बहिर्द्वार अभी भी अतीत वैभव का साक्षी बना खड़ा है। दत-वंश का ऐश्वर्य और ख्याति, बारह महीनों के तेरह उत्सवों का आडम्बर एक समय कलकत्ते के धनी समाज में ईर्ष्या उत्पन्न करता था। कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के नामी वकील राममोहन दत्त के समय में सिमुलिया के दत्तों ने नगर में काफी प्रभाव और प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। राममोहन के पुत्र दुर्गाचरण ने उस समय की प्रथा के अनुसार संस्कृत तथा फारसी भाषा में शिक्षा प्राप्त कर तथा कामचलाऊ राजभाषा अंग्रेजी भी सीखकर थोड़ी ही उम्र में वकालत करना शुरू कर दिया था, परन्तु राममोहन की ऐश्वर्य-लिप्सा तथा धनोपार्जन की प्रवृत्ति उनमें न थी। उस समय के धनी सन्तानों की तरह नव नागरिक सभ्यता के भोग-विलास उन्हें अपनी ओर आकर्षित न कर सके। यह धर्मानुरागी युवक अवसर तथा सुयोग पाते ही धर्मशास्त्रों की चर्चा तथा सत्संग किया करते थे। उत्तर-पश्चिम देशों से आये हुए हिन्दुस्तानी वेदान्ती साधुओं के भाव से अनुप्राणित होकर दुर्गाचरण ने पच्चीस वर्ष की उम्र में ही सारा ऐश्वर्य व सम्मान का लोभ छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लिया; घर में वे छोड़ गये अपनी चिरविरहिणी धर्मपत्नी और एकमात्र शिशु पुत्र। कहते हैं, एक बार बनारस में दुर्गाचरण की धर्मपत्नी ने विश्वेश्वरजी के मन्दिर के फाटक पर एकाएक अपने पतिदेव का दर्शन किया था। संन्यासियों के नियम के अनुसार बारह वर्षों के बाद दुर्गाचरण एक बार अपने जन्मस्थान का दर्शन करने भी आये थे तथा बालक पुत्र विश्वनाथ को आशीर्वाद दे गये थे। उसके बाद उन्हें और किसी

ने नहीं देखा। पिता के आगमन के एक वर्ष बाद ही विश्वनाथ अपनी माता को खो बैठे। संन्यासी के सुपुत्र विश्वनाथ दत्त ही विश्वविख्यात संन्यासी विवेकानन्द के पिता हैं।

विश्वनाथ ने राममोहन का अनुसरण कर वकालत करना प्रारम्भ किया। विश्वनाथ प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, वकालत में व्यस्त रहते हुए भी अध्ययन से उनका प्रबल अनुराग था। उन्होंने फारसी भाषा सीखी थी। हाफिज की कविताएँ उन्हें विशेष प्रिय थीं। अंग्रेजी साहित्य, इतिहास आदि पढ़ने के परिणामस्वरूप धार्मिक कट्टरता उनमें न थी। कई ऊँचे खानदान के मुसलमान उनके आसामी थे तथा लखनऊ, इलाहाबाद, दिल्ली, लाहौर आदि स्थानों की यात्रा करने से वे उस समय के अनेक शरीफ मुस्लिम परिवारों के घनिष्ठ संपर्क में भी आ चुके थे। फलतः वे मुसलमानी रीति-रिवाजों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे और उनकी पाबंदी भी करते थे, परन्तु धर्म के सम्बन्ध में बाइबिल के अध्ययन के कारण वे ईसाई धर्म के प्रेमी थे। तात्पर्य यह कि धर्म, ईश्वर आदि के बारे में वे कुछ विशेष ऊहापोह नहीं करते थे, धनोपार्जन करना तथा जीवन को सुखी रखना, इसी एक साधारण आदर्श पर वे चलते थे। जैसा कमाते थे खर्च भी वैसा ही करते थे। आत्मीय स्वजन, बन्धु-बान्धवों के आतिथ्य में और आवश्यकता से अधिक नौकर-चाकर तथा गाड़ी-घोड़े रखकर शान से रहना विश्वनाथ दत्त पसन्द करते थे। स्वातंत्र्य-प्रेमी, उदार-हृदय, मित्रवत्सल, आश्रितों के प्रतिपालक विश्वनाथ के धनजनपूर्ण विशाल भवन में किसी पार्थिव सुख का अभाव न था। परन्तु पति-सौभाग्य-गर्विता भुवनेश्वरी देवी एक प्राचीनपंथी हिन्दू महिला थीं। बुद्धिमती, कर्म-कुशल गृहिणी के प्रेम व शासन में इस विराट परिवार के सभी कार्य बड़ी कुशलता के साथ सम्पन्न होते थे। वे बंगला लिखना व पढ़ना भलीभाँति जानती थीं। रामायण, महाभारत और भागवत आदि पुराणों का नियमित रूप से पाठ करती थीं और उसी प्रकार अपने पति तथा पुत्रों के साथ

विचार-परामर्श द्वारा तत्कालीन विचारधारा से भी परिचित रहती थीं। उनके तेजस्वी चरित्र में शील सौजन्य का एक ऐसा सुंदर मेल था जो अनायास ही पड़ोसी स्त्रियों की श्रद्धा को आकर्षित करता था। वे मिष्टभाषी परन्तु गम्भीर प्रकृति की थीं। उनके सामने कोई भी स्त्री वाचाल बनने का साहस नहीं करती थी। इन सबसे बढ़कर उनकी विशेषता थी उनकी धर्मपरायणता। वे प्रतिदिन अपने हाथ से शिवपूजा करती थीं। अपने इष्ट के प्रति उनकी निष्ठा को देख-कर परिवार की अन्य महिलाएँ भी संयत धर्म-जीवन व्यतीत करती थीं।

देवी भुवनेश्वरी के चित्त में एक दुःख था। पुत्र न होने के कारण वे कभी कभी बड़ी ही उद्विग्न हो जाती थीं। पुत्रमुख देखने की लालसा ने धीरे धीरे उन्हें बहुत ही व्याकुल कर डाला। वे प्रतिदिन प्रातः सायं शिवमन्दिर में पुत्र-कामना से कातर होकर प्रार्थना करने लगीं। सरल भक्ति तथा सहज विश्वास के साथ देवाधिदेव की सन्तुष्टि के लिए वे कठोर व्रतों का पालन करने लगीं, परन्तु फिर भी उनके चित्त को शान्ति न हुई। उस समय दत्त परिवार की एक वृद्ध महिला काशी में रहती थी। भुवनेश्वरी ने अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए उनके पास एक विस्तृत पत्र लिखा और उनसे अनुरोध किया कि वे उनकी ओर से प्रतिदिन श्री विश्वेश्वर के सम्मुख पुत्र-कामना से पूजा व होम आदि की व्यवस्था करें। यह जानकर कि उनकी इच्छा के अनुसार कार्य हो रहा है माता भुवनेश्वरी प्रफुल्लित तथा आश्वस्त हुई। श्रद्धा व आशा से उत्फुल्ल उनका हृदय देवाधिदेव महादेव के स्मरण-चिन्तन में विभोर हो उठा। गृह कार्य के बजाय गृह-देवता के मन्दिर में ही शिवार्चन में वे अपना अधिकांश समय व्यतीत करने लगीं।

एक दिन प्रातःकाल शिव-पूजा के बाद देवी भुवनेश्वरी ध्यानमग्न हो गईं। दोपहर बीतकर सूर्य पश्चिम की ओर ढलने लगा। देवी भुवनेश्वरी का मानो बाह्य ज्ञान लुप्त हो चुका था। भगवान् के ध्यान में वे पूर्ण रूप से मग्न हो गईं। धीरे धीरे सन्ध्या का धूसर आलोक उनके तपःक्लान्त तथा संयम के

पुण्य से उज्ज्वल मुखमण्डल को स्वर्गीय तेज द्वारा सुशोभित कर विलीन हो गया। अधिक रात्रि में थकी हुई माता सो गईं। उनकी बहुत दिनों की आकांक्षा मानो पूर्ण हुई; भुवनेश्वरी ने स्वप्न में देखा—तुषारधवल कर्पूरगौर कैलाशपति शिव उनके सामने खड़े हैं। धीरे धीरे दृश्य बदल गया। भक्त के विस्मयमुग्ध हृदय को एक अपूर्व आनन्द से परिप्लुत कर एक छोटे शिशु का रूप धारण-कर उन्होंने माता की गोद में शरण ली।

स्वर्गीय आनन्द से पुलकित देह में निद्राभंग के बाद माता ने जब भूमिशय्या का त्याग किया, उस समय सूर्यदेव के उग्र तथा उज्ज्वल किरणों से चराचर विश्व भर गया था। "हे शिव, हे शंकर, हे करुणामय" कहती हुई सती भक्ति के साथ भूमि पर साष्टांग हो बार बार प्रणाम करने लगीं।

१८६३ ईसवी की बारह जनवरी। पौष संक्रान्ति का पुण्य प्रभात कुहरे से ढका हुआ था। शीत से संकुचित होकर नर-नारियों के दल काँपते हुए मकर सप्तमी के स्नान के लिए भागीरथी की ओर जा रहे थे। ऐसे ही समय सूर्योदय से छः मिनट पूर्व छः बजकर तैंतीस मिनट तैंतीस सेकण्ड पर देवी भुवनेश्वरी ने विश्वविजयी पुत्र को जन्म दिया। आनन्द-उल्लास-पूर्ण हर्ष-कोलाहल से दत्तभवन मुखरित हो उठा। नारीगण मंगल शंख बजाकर मांगलिक ध्वनि करने लगीं। बंगाल के घर घर में पौष पर्व का आनन्दोत्सव मनाया जा रहा था; मानो नवजात शिशु की सादर अभ्यर्थना करने के लिए लाखों बालक-बालिकाओं के आनंद-कोलाहल से बंगभूमि का प्रत्येक गृहप्रांगण मुखरित हो उठा।

धीरे धीरे नामकरण का दिन आ गया। बालक की आकृति बहुत कुछ उसके संन्यासी पितामह की तरह देख परिवार के कुछ लोगों ने शिशु का नाम 'दुर्गादास' रखने की इच्छा प्रकट की। परन्तु माता ने अपने स्वप्न का स्मरण कर कहा, "उसका नाम वीरेश्वर रखा जाय।" आत्मीय जन उस नाम को संक्षिप्त बना कर 'बिले' कहकर पुकारते थे। अन्त में शुभ अन्नप्राशन के

समय बालक का नाम रखा गया श्री नरेन्द्रनाथ। प्रत्येक हिन्दू सन्तान के दो नाम होते हैं, एक राशि-नाम—दूसरा जनसाधारण में प्रचलित नाम। इसलिए भविष्य में यह शिशु 'नरेन्द्रनाथ' नाम से ही सर्वसाधारण में परिचित हुआ।

अशान्त नरेन्द्रनाथ ज्यों ज्यों बड़े हुए त्यों त्यों अधिकाधिक नटखटी होते चले। स्वेच्छाचारी बालक के अशिष्ट आचरण से सभी लोग तंग आ गए थे। शासन-वाणी का प्रयोग, भयप्रदर्शन आदि किसी भी तरह से अपनी इस उद्धत सन्तान को विनयी, विनम्र बनाने में असमर्थ होकर माता ने एक अद्भुत उपाय का आविष्कार किया। "शिव शिव" कहते हुए माथे पर कुछ जल डाल देने से ही मन्त्र-मुग्ध साँप की तरह बालक नरेन्द्र शान्त हो जाया करते थे। आशुतोष शिव जलाभिषेक से ही सन्तुष्ट होते हैं। इस विश्वास से ही माता ने इस नवीन उपाय का आविष्कार किया था—इसमें सन्देह नहीं। बालक का जन्म शिवांश से हुआ है, इस पर अपना दृढ़ विश्वास होते हुए भी बुद्धिमती माता किसी के पास यह बात प्रकट न करती थीं। एक दिन बालक के उधम से तंग आकर उन्होंने कह ही तो डाला, "महादेव ने स्वयं न आकर न जाने कहाँ से एक भूत भेज दिया है!" अपनी इच्छा के अनुसार काम करने में बाधा प्राप्त होने पर बालक इतने ज़ोर से रोने लगता था कि सारे घरवालों को बेचैन हो जाना पड़ता था। तब माता गुस्से में आकर कहती थी, "देख, बिले, अगर तू उधम मचाएगा तो महादेव तुझे कैलाश में आने न देंगे।" बालक भयभीत नेत्रों से माँ की ओर इकटक देख उसी समय चुप हो जाता।

बालक नरेन्द्रनाथ के उधम से परेशान होकर उसकी दो बड़ी बहनें कभी कभी उसे पीटने के लिए उसका पीछा किया करती थीं। परन्तु चतुर नरेन्द्रनाथ चट से नाले में उतरकर बदन पर कीचड़ लगाकर खड़े हो जाते थे। अपवित्र होने के भय से जब वे उन्हें पीटने में असमर्थ होकर लौट जातीं

तो शुचि-अशुचि-ज्ञानहीन यह बालक मानो विजयी का गर्व लेकर ताली पीटते हुए कहने लगता, "कहो, पकड़ो न मुझे।"

बालक नरेन्द्र गाड़ी पर सवार होकर घूमने में बहुत ही आनंद का अनुभव करते थे। माँ की गोद में बैठकर गाड़ी में से दोनों ओर की चीज़ें देखते हुए एक के बाद दूसरा प्रश्न पूछते हुए माता को हैरान कर डालते थे। गाड़ी को वे इतना चाहते थे कि प्रतिदिन अपने मकान के सामने बैठकर प्रत्येक गाड़ी को ध्यान से देखते थे। एक दिन उनके पिताजी ने उनसे पूछा, "नरेन्द्र, तू बड़ा होने पर क्या बनेगा बोल तो?" नरेन्द्र ने सिर हिलाते हुए गम्भीर मुद्रा बनाकर उत्तर दिया, "घोड़े का सईस या कोचवान बनूँगा।" कोचवान का छाती फुलाकर बैठना, तेज घोड़े की लगाम को खींचकर उसे हाँकने में कुशलता, उसकी खास पोशाक, चपरास, जरीदार पगड़ी आदि का बालक के मन पर जो विशेष प्रभाव पड़ा होगा, इसमें भला कौनसी विचित्र बात है! कोचवान बनने की आशा से बालक ने अपने पिताजी के बूढ़े कोचवान के साथ मित्रता कर ली थी और अवसर पाते ही अस्तबल में जाकर वह सईस व कोचवानों के कामों को देखा करता था।

माँ के मुँह से रामायण व महाभारत की कहानियाँ सुनना नरेन्द्रनाथ को बहुत पसंद था। माता भुवनेश्वरी अपने प्यारे पुत्र को गोद में बिठाकर सीताराम की कहानी सुनाती हुई अपने अवकाश का समय बिताया करती थीं। दत्त-भवन में प्रायः प्रतिदिन दोपहर में रामायण तथा महाभारत की कथा होती थी। कोई वृद्ध महिला पाठ करती थी, कभी कभी भुवनेश्वरी खुद भी पढ़ती थीं—घर के कार्य समाप्त कर दूसरी औरतों से घिरकर वह बैठती थीं। इस छोटी सी महिला-सभा में दुर्दान्त नरेन्द्र को शान्त होकर बैठे रहते देखा जाता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुराणों की कहानियों का बालक के मन पर गम्भीर प्रभाव पड़ा था। सुदूर, अतीत युग के धर्मवीरों की पवित्र जीवनियाँ सुनकर उनके शिशु-हृदय में न मालूम भावों की क्या क्या लहरें

उठा करती थीं जिससे वे अपनी स्वाभाविक चंचलता को छोड़ घण्टों मंत्रमुग्ध जैसे रहा करते थे।

रामायण सुनते सुनते उनका सरल शिशु-हृदय भक्ति-रस से परिपूर्ण हो उठता था। एक दिन अपने खेलने के एक साथी को साथ लेकर वे बाजार से श्री सीताराम की एक युगल मूर्ति खरीदकर ले आए थे। मकान के छत पर एक सुनसान कमरे में उसकी स्थापना कर बालक उस मूर्ति के सामने ध्यानमग्न जैसे बैठे रहते थे। सीताराम के प्रति बालक का यह प्रेम उनके पश्चिम देशीय कोचवान मित्र के लिए बड़ा ही आनन्ददायक था। शिशु-हृदय की किसी भी समस्या, किसी भी प्रश्न का हल कर देने में वह कभी विरक्ति या क्लान्ति का अनुभव नहीं करता था। एक दिन बात बात में विवाह की बात चली। किसी अज्ञात कारण से कोचवान को विवाह पसंद न था और इसीलिए उसने विवाहित जीवन की अशान्ति का ऐसा जीता-जागता वर्णन किया कि बालक नरेन्द्रनाथ के सुकुमार चित्त पर उसकी छाप गम्भीर रूप से अंकित हो गई। उनके मन में अनेक चिन्ताएँ उठीं, और बेचैन होकर आँखों में आँसू लिए नरेन्द्र माता के पास लौट आए। उनकी आँखों में आँसू देखते ही चिन्तित होकर माता ने उनसे कारण पूछा। कोचवान से उन्होंने जो कुछ सुना था, वह काँपते हुए कण्ठ से कहते हुए नरेन्द्र बोले, "मैं सीताराम की पूजा कैसे करूँ? सीता राम की तो बहू थी!" प्रेममयी माता ने अत्यन्त प्यारे पुत्र को गोद में उठाकर उसका मुँह चूमते हुए कहा, "सीताराम की पूजा न भी करो तो क्या हानि है? कल से शिवजी की पूजा किया करो बेटा!"

माता को दूसरा काम करते देख बालक धीरे से कमरे से निकल आए। प्रियतम श्री सीताराम की मूर्ति को लेकर किसी को कुछ न बतलाते हुए छत पर खड़े हो गए! सन्ध्या का अन्धकार उस समय धीरे धीरे गाढ़ा होता जा रहा था — ऊपर घूमते हुए असंख्य उज्ज्वल नक्षत्रों से शोभित

नीलाकाश — नीचे आदर्श दाम्पत्य-प्रेम के सर्वश्रेष्ठ आदर्श को दोनों हाथों में लिए सन्देहचित्त भावी संन्यासी विवेकानन्द। एक ओर सीताराम के प्रति गम्भीर भक्ति और दूसरी ओर विवाह के प्रति तीव्र विरक्ति — बालक का छोटा सा हृदय व्यग्र हो उठा। नहीं — विवाहित जीवन उन्नत — कितना ही पवित्र क्यों न हो मेरा आदर्श नहीं है। छत पर से मूर्ति नीचे फेंक दी गई और वह चूर चूर हो गई। विजयी वीर की तरह गर्व के साथ कदम रखते हुए नरेन्द्र छत से नीचे उतरे।

शिशु-काल से ही नरेन्द्र हिन्दू घरों में अर्से से माने जाने वाले देशाचार व लोकाचार जैसे छोटे मोटे नियमों को नहीं मानते थे। इसके लिए कभी माँ झुंझला उठने पर तुरन्त वे उनके कारण पूछ बैठते थे। "भात की थाली छूकर बदन पर हाथ लगाने से क्या होता है?" "बायें हाथ से जलपात्र उठाकर जल पीने से हाथ क्यों धोना पड़ता है? हाथ में तो भला जूठा लगा नहीं?"— आदि आदि प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर देने में माँ कभी कभी हतबुद्धि हो जाया करती थीं। सन्तोषजनक उत्तर न पाने पर नरेन्द्र के अनाचार की मात्रा दुगनी हो जाती थी।

विश्वनाथ बाबू के एक पेशावरी मुसलमान मुअक्किल थे। ये भद्र पुरुष नरेन्द्र से विशेष स्नेह रखते थे। उनके आने का समाचार पाते ही नरेन्द्र उनके पास आ जाते थे तथा उनकी गोद में बैठकर हाथी तथा ऊँट की सवारी वाले पंजाब और अफगानिस्तान की अपूर्व भ्रमण-कहानियाँ एकाग्र चित्त से सुनते थे; और कभी कभी बालक नरेन्द्र उन देशों में भ्रमण करने के लिए उनके साथ जाने का अनुरोध भी करने लगते थे। वह मुसलमान सज्जन हँसते हुए कहा करते थे, "तुम और दो उंगली बड़े हो जाओ, फिर मैं तुम्हें जरूर ले जाऊँगा।" आग्रह की अधिकता से बालक कभी कभी दूसरे ही दिन कह बैठते थे, "आज रात भर में मैं दो उंगली बढ़ गया हूँ; अब आप मुझे ले चलिए।" इस प्रकार नरेन्द्र उनसे इतने अनुरक्त हो गए कि उनके हाथ से

संदेश (मिठाई), फल आदि खाने पीने की चीजें ग्रहण करने में वे ज़रा भी सोचविचार न करते थे। पर इस बात को लेकर उनके परिवार वालों ने एक बड़ा भारी आन्दोलन खड़ा कर दिया। विश्वनाथ बाबू कट्टर पंथी हिन्दू नहीं थे। सभी जाति के लोग उनकी दृष्टि में एक सी प्रीति तथा श्रद्धा के पात्र थे। अतः पुत्र के ये 'मन माने अनाचार' वे दण्डनीय न समझकर हँसते हुए उनकी उपेक्षा कर देते थे।

अनेक जाति के मुअक्किल मुकदमे के सिलसिले में उनके पिताजी के घर आते थे। अतः उस समय के रीति रिवाज के अनुसार बैठक-घर के एक कोने में चांदी-जड़ाऊ कई हुक्के भी सजाकर रखे रहते थे। मुसलमानों के हाथ का संदेश खाकर नरेन्द्र को अपने घरवालों से बुरी तरह गाली खानी पड़ी थी। उसी दिन से जाति-भेद उनके सामने एक विशेष समस्या का विषय हो उठा। कोई व्यक्ति दूसरे किसी के हाथ का क्यों नहीं खाता? अगर कोई किसी दूसरी जात बिरादरी के हाथ का खा ले तो उसका क्या होगा? क्या उसके माथे पर घर की छत टूट पड़ेगी? क्या वह मर जायगा?— आदि आदि। इस प्रकार के विचारों में मग्न नरेन्द्र बैठक-घर में आये। वहाँ पर किसी अन्य व्यक्ति को न देखकर वे साहस के साथ एक एक करके वहाँ रखे हुए सारे हुक्कों को अपने होंठों से लगाने लगे। पर उससे उन्होंने देखा कि उनका कोई परिवर्तन तो हुआ नहीं। वे जैसे पहले थे वैसे ही अब भी। उसी समय विश्वनाथ एकाएक वहाँ आए और पुत्र को उस स्थिति में देखकर पूछा, "क्यों, यह क्या कर रहा है बिले?" नरेन्द्र ने तुरन्त उत्तर दिया, "मैं इसी बात की परीक्षा कर रहा था कि अगर जाति-भेद न मानूँ तो मेरा क्या होगा।" पिता हँसते हुए करुणार्द्र दृष्टि से पुत्र की ओर एक बार देखकर सोचते हुए अपने कमरे में चले गए।

नरेन्द्र ने श्री सीताराम की मूर्ति को तोड़कर दूसरे ही दिन उसके स्थान पर एक शिव-मूर्ति की स्थापना की। माता का अनुकरण कर वे प्रतिदिन

शिवपूजा करते थे, कभी पद्मासन में बैठकर ध्यान लगाते थे तो कभी अपने साथियों को बुलाकर सब मिलकर शिवमूर्ति के चारों ओर घिरकर ध्यानस्थ हो बैठते थे। यह खेल उन्हें बहुत भाता था। इस प्रकार ध्यान में बैठे बालक नरेन्द्र क्या सोचते थे, वे ही जाने। बड़े होने पर एक दिन बात बात में उन्होंने कहा था कि उन दिनों एक दिन ध्यान लगाते उन्हें अपनी माता की बात याद आ गई। दुःखी होकर वे सोचने लगे, "क्या मैं दुष्ट हूँ इसलिए सच ही शिव ने मुझे अपने पास से हटा दिया है?" सोचते हुए बालक उदास चित्त से माता के पास आकर बोले, "माँ, अगर मैं साधु हो जाऊँ तो क्या शिव जी मुझे अपने पास लौट जाने देंगे?" माता ने उन्हें शान्त करते हुए कहा, "हाँ, क्यों नहीं?" पर यह बात अनजान में कह जाने के बाद ही एकाएक किसी अनिर्दिष्ट भय से माता का हृदय काँप उठा। अपने दादा की तरह अगर नरेन्द्र भी कहीं संसार छोड़कर चला जाय तो! माता भुवनेश्वरी को अपने मन की बात गुप्त रखने का अभ्यास था। दृढ़हृदय माता ने शिव जी का स्मरण कर क्षणिक स्नेह की दुर्बलता को हृदय से दूर हटा दिया। सोचा, भगवान् की जो इच्छा होगी वही तो होगा, मैं उसमें बाधा देने वाली कौन हूँ?

एक दिन, सन्ध्या के कुछ ही पूर्व नरेन्द्र अपने साथियों के साथ खेल के कमरे में उपस्थित हुए। उनकी नकल कर सभी लड़के शरीर पर भस्म लगाकर ध्यान में बैठे। इसी बीच में एक बालक ने आँखें खोलकर देखा तो सामने एक बड़ा भारी साँप! डरकर वह लड़का 'साँप, साँप' चिल्ला उठा। सभी लड़के हड़बड़ा कर कमरे से बाहर निकल गए। नरेन्द्र बाह्य-ज्ञान-शून्य थे—चीत्कार, कोलाहल, उनके कान में कुछ भी न पहुँचा। लड़कों ने जल्दी से उतरकर सब को यह समाचार सुनाया। नरेन्द्र के माँ-बाप तथा अन्य सभी लोग दौड़कर छत पर आए। उस समय आकाश में चन्द्रमा निकल चुका था।

कोमल चन्द्र किरणों के संयोग से नरेन्द्रनाथ का किशोर, सुन्दर मुख-मण्डल एक स्वर्गीय आभा से शोभायमान प्रतीत होता था—देह स्पन्दनहीन; कुमार योगी पद्मासन पर ध्यानमग्न—सामने विषधर सर्प भीषण फन फैलाकर मंत्र मुग्ध की तरह निश्चल; इस भयंकर व मधुर दृश्य के सम्मुख एकाएक उपस्थित दर्शकगण भी भयविह्वल हो किंकर्तव्यविमूढ़ खड़े थे। थोड़ी देर बाद अपना फन समेटकर साँप चला गया, और ढूँढ़ने पर भी वह फिर देखने में नहीं आया। ध्यान टूटने पर आँखें खोलते हुए घरवालों को उस दशा में देखकर नरेन्द्र कुछ विस्मित से हुए। साँप की बात सुनकर बालक ने आश्चर्य-चकित होकर कहा, "मैं साँप की बात आदि कुछ भी नहीं जानता, मैं तो एक अपूर्व आनंद का उपभोग कर रहा था।"

यह घटना निस्सन्देह अद्भुत है। सदा चञ्चल क्रीड़ाप्रिय नरेन्द्रनाथ ध्यान में बैठकर आँखें बन्द करने के साथ ही साथ बाह्य जगत् को भूल जाते थे—सुनना तो दूर रहा, कई बार बदन पर हाथ लगाने पर भी उन्हें मालूम न होता था। एक संयतमना योगी की अनके वर्षों की साधना का फल इस बालक को कैसे मिला?—इस प्रकार का प्रश्न मन में उठना स्वाभाविक है।

स्मरणातीत शैशव काल से ही नरेन्द्रनाथ दोनों आँखें बन्द करने के साथ ही दोनों भौहों के बीच में एक गोलाकार दिव्य ज्योतिःपिण्ड का दर्शन करते थे। सोते समय आँखें बन्द करने के साथ ही वह ज्योति गोलक उनके भौहों के बीच में प्रकट हो जाता था और धीरे धीरे विस्तृत होकर उनकी समस्त देह में फैल जाता था। चिन्मय ज्योतिःसमुद्र में उनका 'मैं' पन डूब जाता था—बालक सो जाता था। इस प्रकार की घटना प्रतिदिन ही हुआ करती थी—इसीलिए इसके असाधारणत्व के सम्बन्ध में उनके मन में कभी कोई प्रश्न नहीं उठा। दस वर्ष की अवस्था तक भी उनका यह विश्वास था कि शायद सोने के पूर्व सभी को ऐसा होता है। इस अद्भुत ज्योतिःपिण्ड की सहायता से उनका मन अपने आप ही एकाग्र हो जाया करता था—

इसीलिए उन्हें कभी ध्यानस्थ होने के लिए मन के साथ, वासनाओं के साथ संग्राम करने की प्रबल चेष्टा नहीं करनी पड़ी।

बचपन से ही नरेन्द्र साधु संन्यासी देखकर आनंदित होते थे। उनकी प्रार्थनाओं को पूर्ण करने में नरेन्द्र सदा से मुक्तहस्त थे। कभी कभी नंगे होकर अपने पहने हुए वस्त्र तक दे डालते थे। घर की नित्य आवश्यक चीजें दान में देकर कभी कभी डाट खाने पर भी समय पर उसे भूल जाते थे। कभी तो पहने हुए वस्त्र को फाड़कर कौपीन पहनकर सुन्दर नरेन्द्रनाथ 'शिव शिव' कहते हुए ताली बजाकर आँगन में नाचने लगते थे — उस अद्भुत नृत्य को, प्रफुल्ल सुन्दर मुखमण्डल, विभूति-भूषित बाल संन्यासी को अतृप्त नेत्रों से देखती हुई स्नेहमुग्ध जननी ताड़न, शासन करने की बात ही भूल जाती थीं।

बचपन से ही लगातार रामायण व महाभारत सुनते सुनते इन ग्रन्थों का बहुत सा भाग उन्हें कण्ठस्थ हो गया था। बालक समय समय पर अपने सुमधुर कण्ठस्वर से उन्हें सुनाकर श्रोताओं को मुग्ध कर देते थे। कभी कभी वे भिक्षुक गायकों से सीखे हुए राधाकृष्ण या सीताराम की लीला सम्बन्धी गीतों अथवा गीतांशों को अपने सुमधुर कण्ठ से गाकर घरवालों को तथा अपने पिता के मित्रों को प्रसन्न करते थे। सदानंद नरेन्द्र सभी के प्रिय पात्र थे। लाड़प्यार से पले हुए बालक के स्वेच्छाचारी तथा स्वाधीनता-प्रिय होने पर भी उनके किशोर-चरित्र में अपने माता-पिता के नाना प्रकार के सद्गुणों का समावेश हो गया था। पग पग पर नीति शास्त्र के कठिन नियंत्रण द्वारा बाधा प्राप्त न होने के कारण उनका चरित्र अप्रत्यक्ष रूप से अपनी स्वाभाविक मधुरता के साथ स्वतः ही विकसित हो रहा था।

श्रीरामचन्द्र जी के कार्य में अपने जीवन को अर्पित कर देने वाले वीर भक्त हनुमान के अलौकिक कार्यों की कथा सुनना उन्हें बहुत ही अच्छा लगता था। माता से उन्होंने सुना कि हनुमानजी अमर हैं, वे अभी भी जीवित हैं। उस समय से उन्हें देखने के लिए नरेन्द्र के प्राण छटपटाने लगे।

एक दिन नरेन्द्र कथा सुनने गये थे। कथाकार पण्डितजी नाना प्रकार की आलंकारिक भाषा में हास्य रस मिलाकर श्री हनुमानजी के चरित्र का वर्णन कर रहे थे। ऐसे समय नरेन्द्र धीरे धीरे उनके पास जा पहुँचे। बालक ने उनसे पूछा, "पण्डितजी, आपने जो कहा कि हनुमानजी केला खाना पसंद करते हैं और केले के बगीचे में ही रहते हैं, क्या मैं वहाँ जाकर उनका दर्शन पा सकूँगा?" बालक ने किस गम्भीर विश्वास — किस परिपूर्ण आन्तरिकता के साथ यह प्रश्न पूछा, इसे समझने का अवसर या सामर्थ्य कथाकार पण्डितजी में न था। उन्होंने हँसी में कह दिया, "हाँ बेटा, केले के बगीचे में ढूँढ़ने पर तुम उन्हें पा सकते हो।"

नरेन्द्र फिर घर न लौटे। सचमुच मकान के पासवाले एक बगीचे में जाकर केले के पेड़ के नीचे बैठे वे हनुमानजी की प्रतीक्षा करने लगे। काफी समय बीत गया, परन्तु हनुमान जी न आए, अन्त में लाचार होकर अधिक रात बीतने पर निराश हो वे घर लौटे। अभिमान के साथ माता को सारी घटना सुनाकर उन्होंने इसका कारण पूछा। बालक के विश्वास के मूल पर आघात करना बुद्धिमती माता ने उचित न समझा। उनके विषण्ण मुखमण्डल को चूमकर कहा, "तुम दुःख न करो, सम्भव है आज श्री हनुमान जी श्रीरामजी के काम से कहीं दूसरी जगह गये हों, किसी और दिन मिलेंगे।" आशामुग्ध बालक का चित्त शान्त हुआ — उनके मुँह पर फिर से हँसी की रेखा आ गयी। इसके बाद बालक ने फिर कभी इस प्रकार श्री हनुमान जी के दर्शन के लिए चेष्टा की या नहीं यह तो हमें ज्ञात नहीं, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्री हनुमान जी के प्रति गम्भीर श्रद्धा का भाव उनके मन से कभी लुप्त नहीं हुआ। उत्तर काल में स्वामी विवेकानन्द ब्रह्मचर्य-ग्रहण के अभिलाषी प्रत्येक युवक को महावीर के चरित्र को आदर्श बनाने के लिए कहा करते थे। दूसरों के लिए आत्मत्याग को जिन्होंने अपना उद्देश्य बनाया है ऐसे शिष्यों से दास्यभक्ति की जीतीजागती मूर्ति श्रीहनुमान जी की बात

कहते कहते उनका मुखमण्डल भावावेश की अधिकता से लाल हो उठता था। सिंह की तरह गजरते हुए वे बोल उठते थे, "देश में महावीर श्री हनुमान जी की पूजा चला दो न। दुर्बल हिन्दू जाति के सामने इस महावीर्य का आदर्श रखो। शरीर में शक्ति नहीं, हृदय में साहस नहीं, क्या होगा इन जड़ पिण्डों से? मैं चाहता हूँ घर घर में महावीरजी की पूजा हो।" एक समय उन्होंने बेलूड़ मठ में महावीरजी की प्रस्तर मूर्ति की स्थापना का संकल्प किया था, परन्तु इसे वे पूरा नहीं कर सके।

इधर पाँचवाँ वर्ष पूरा हो जाने के बाद ही नियमानुसार नरेन्द्रनाथ का विद्यारम्भ हो गया। नरेन्द्रनाथ के गृहशिक्षक 'गुरु महोदय' अपने इस छात्र को लेकर बड़े ही परेशान थे। मारपीट कर सिखाने की जिस सनातन नीति का प्रयोग वे अपने दूसरे छात्रों पर बेरोक-टोक करते आए थे उससे इन पर कुछ भी परिणाम न हुआ। उस महाराज के गुस्से में आते ही नरेन्द्र-नाथ अड़ जाते थे। लाचार होकर गुरुजी महाराज को अपनी पुरानी प्रथा को छोड़कर इस छोटे से छात्र को मीठी बातों से सन्तुष्ट करना पड़ता था। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा समाप्त होने पर नरेन्द्र मेट्रोपोलिटन इन्स्टिट्यूशन में भेज दिये गए। समवयस्क सहपाठियों का साथ पाकर नरेन्द्र के आनन्द की सीमा न रही। नये साथियों को लेकर नरेन्द्र के नेतृत्व में शीघ्र ही एक छोटा सा दल संगठित हो गया। प्रातः तथा तीसरे प्रहर में खेलनेवाले बालकों के कोलाहल से दत्त-भवन का सुविशाल आँगन गूँजा करता था।

परन्तु इधर स्कूल में जाकर पहले पहल नरेन्द्रनाथ बड़ी ही कठिनाई में पड़े। पग पग पर उनकी स्वाधीनता संकुचित होने लगी। वे एक ही तरह से बहुत देर तक बैठे नहीं रह सकते थे। कभी खड़े होते थे, कभी बैठते थे और कभी बिना कारण के ही कमरे से दौड़कर बाहर चले जाते थे। कभी कभी तो जब करने को कुछ नहीं रहता था, तब अपना ही पहना हुआ वस्त्र या पुस्तक फाड़ डालते थे। उनके माता-पिता की तरह शिक्षकगण भी

समय समय पर तंग आ जाते थे और यह जानकर कि शासन की कठोर वाणी से नियन्त्रित होने वाला लड़का नरेन्द्रनाथ नहीं है, वे उन्हें मीठी बोली से शान्त करते थे। चंचल प्रकृति का बालक होने पर भी उनके चरित्र में बचपन से ही साधारण बालकों की अपेक्षा कुछ अधिक वैशिष्ट्य देखने में आता था। खेलते समय साधारण बातों को लेकर जब कोई झगड़ने लगता तो वे बहुत असन्तुष्ट होते थे और स्वयं अग्रसर होकर फैसला कर दिया करते थे। अगर उनका उपदेश न मानकर लड़के आपस में मारपीट करने को तैयार होते तो नरेन्द्रनाथ निर्भीक भाव से उनके बीच में खड़े होकर उन्हें रोक देते थे। शारीरिक शक्ति में नरेन्द्रनाथ किसी से कम न थे बल्कि उनका असीम साहस देख कई लोग चकित हो जाते थे। घूँसा-घूँसी में निपुण होने के कारण नरेन्द्र से अनेक दुष्ट बालक बड़े भयभीत रहते थे। न्यायी, उदार, क्षमावान, शक्तिमान व प्रतिभाशाली नरेन्द्रनाथ को उनके सहपाठियों ने स्वयं ही नेतृत्व-पद दे दिया था।

बचपन से ही भय किसे कहते हैं, वे नहीं जानते थे। जब उनकी उम्र केवल छः वर्ष की थी उस समय वे एक दिन अपने साथियों के साथ 'चड़क' का मेला देखने गए थे। मिट्टी की बनी महादेव की कुछ मूर्तियाँ खरीदकर वे लौट रहे थे कि इस बीच में एक छोटा सा लड़का दल से अलग होकर फूटपाथ से रास्ते में चला गया। ठीक उसी समय सामने से एक गाड़ी आती देख वह बालक घबड़ा गया। पथिकगण भयंकर विपत्ति की सम्भावना समझकर चीत्कार कर उठे। शोर सुनकर पीछे की ओर ताकते ही नरेन्द्र ने विपत्ति को ताड़ लिया। एक क्षण का भी विलम्ब न करते हुए महादेव की मूर्ति को किनारे फेंककर झटपट प्रायः घोड़े के पैर के नीचे से उस बालक को वे घसीटकर बाहर निकाल लाये। इसमें सन्देह नहीं कि और एक सेकण्ड का विलम्ब हो जाता तो उस बालक की हड्डियाँ चूर चूर हो जातीं। छोटे से बालक के इस निर्भीक कार्य को देखकर सभी लोग मुक्त

कण्ठ से उसकी प्रशंसा करने लगे। कोई कोई भाव की अधिकता के कारण उनके मस्तक पर हाथ फेरते हुए आनन्दविभोर हो गद्गद् कण्ठ से उन्हें आशीर्वाद देने लगे। सारी घटना सुनकर माता अंचल से अपने आनंदाश्रु को पोंछती हुई नरेन्द्र को गोद में उठाकर रुद्ध कण्ठ से बोली, "बेटा, इसी भाँति सदैव मनुष्य की तरह काम करना।" सन्तान को किस तरह मनुष्य बनाना होता है यह वह जानती थीं। इस श्रेष्ठ माता के अपने हाथ से गढ़े हुए नरेन्द्र, महेन्द्र, भूपेन्द्र नामक तीनों पुत्रों की महिमासमुज्ज्वल कीर्ति बंगाल के इतिहास का एक गौरवमय पृष्ठ है। एक दिन बाल्यकाल के बारे में किसी शिष्य से बातें करते हुए स्वामीजी ने कहा था, "बचपन से ही मानो मैं जिद्दी शैतान था। नहीं तो क्या खाली हाथ सारी दुनिया घूम आ सकता था?"

जो लड़के हौआ, भूत आदि का नाम सुनते ही भयभीत न होकर भूत को देखना चाहते हैं, नरेन्द्र उसी श्रेणी के बालक थे। डराकर उन्हें किसी काम से रोकना असम्भव था। नरेन्द्र के एक पड़ोसी साथी के घर में चम्पक फूल का एक पेड़ था। उस पेड़ की शाखा में पैर अड़ाकर सिर व हाथ नीचे की ओर कर झूलना नरेन्द्र का एक प्रिय खेल था। घर के बूढ़े मालिक एक दिन नरेन्द्र को ऊँची टहनी पर उस प्रकार झूलते देखकर भय-भीत हो गये—इधर नरेन्द्र के उत्पात से टहनी के टूटने की भी काफ़ी आशंका थी। वे नरेन्द्र के स्वभाव से परिचित थे, जानते थे कि धमकाने से उल्टा फल होगा। अतः मीठी बोली में बोले, "बेटा, उस पेड़ पर न चढ़। नरेन्द्र ने पूछा, "क्यों? इस पेड़ पर चढ़ने से क्या होता है?" वृद्ध ने कहा उस पेड़ पर ब्रह्मराक्षस रहता है।" यह कहकर वृद्ध ने ब्रह्मदैत्य की विकट आकृति का वर्णन किया। और साथ ही दो चार उदाहरण देकर यह भी समझाया कि ब्रह्मराक्षस अपने आश्रित वृक्ष का अपमान सहन नहीं करेंगे। नरेन्द्र को चुप देखकर वृद्ध ने सोचा कि उनका उद्देश्य सिद्ध हो गया। वहाँ

से वृद्ध के जाने के साथ ही नरेन्द्र फिर पेड़ की टहनी पर चढ़ बैठे। मन ही मन सोचने लगे, "ब्रह्मराक्षस महोदय को एक बार देखूँ तो!" नरेन्द्र के खेल का साथी काफ़ी भयभीत हो गया था। कातर कण्ठ से उसने कहा, "नहीं भाई, ब्रह्मराक्षस की बात कौन जाने? न मालूम कब किधर से आकर गर्दन मरोड़ दे।" नरेन्द्र ने हँसते हुए कहा, "तू बिलकुल मूर्ख है! तेरे दादा डराने के लिए झूठमूठ बात बना गये। अगर सचमुच इस पेड़ पर ब्रह्मराक्षस रहता तो उसने मेरी गर्दन कब की मरोड़ दी होती।"

दूसरों से सुनकर जिस किसी बात पर विश्वास कर लेना नरेन्द्र के स्वभाव के विरूद्ध था। बचपन से ही किसी बात पर प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना वे विश्वास करना नहीं जानते थे। युवावस्था में इसी भाव की प्रेरणा से नरेन्द्रनाथ पुस्तक में लिखे दार्शनिक तत्व की आलोचना से तृप्त न होकर सत्य की प्राप्ति के लिए साधना में प्रवृत्त हुए थे।

चौदह वर्ष की उम्र में नरेन्द्रनाथ के पेट में रोग हुआ। लगातार कई दिनों तक रुग्ण रहकर उनका शरीर अस्थि-चर्म मात्र रह गया। उस समय विश्वनाथ अपने काम के सिलसिले में मध्यप्रदेश के अन्तर्गत रायपुर में रहते थे। हवा बदलने से स्वास्थ्य की उन्नति होगी, इस आशा से उन्होंने अपने परिवार को रायपुर में बुला लिया। १८७७ ई० में नरेन्द्र रायपुर में पिताजी के पास पहुँच गए।

उस समय मध्यप्रदेश में सभी जगह रेल-मार्ग नहीं था। इलाहाबाद व जबलपुर होकर नागपुर तक रेल से जाना होता था। नागपुर से रायपुर जाने में करीब पन्द्रह दिन तक बैलगाड़ी का सफर करना पड़ता था। सुदीर्घ पथ घूमकर आधे भारतवर्ष का चक्कर लगाने के परिणाम में नरेन्द्रनाथ के तरुण मन पर भारत माता के विचित्र रूप ने जादू का सा प्रभाव डाला। आज न जाने किसने विश्व प्रकृति के अनन्त रूप के भण्डार को उनके सामने खोल दिया। किशोर कविहृदय के प्रथम आवेग में सुन्दरता के प्रति जो आकर्षण उत्पन्न

हुआ था, वह अनन्त के आनन्द की असीम तृप्ति में डूब गया। इस स्वर्गीय अनुभूति की बात नरेनन्द्रनाथ कभी न भूले। उनके गुरुभाई पूजनीय स्वामी शारदानन्दजी ने उनसे जैसा सुना था उसे 'लीलाप्रसंग' * में इस प्रकार लिपिबद्ध किया है —

"वे कहा करते थे, 'वन के बीच में पगडण्डी पर चलते चलते उस समय जो कुछ देखा या अनुभव किया है वह स्मृति पर हमेशा के लिए दृढ़ रूप से अंकित हो गया। विशेष रूप से एक दिन की बात है। उस दिन हम अत्युच्च विन्ध्य पर्वत के निम्न भाग की राह से होकर जा रहे थे। मार्ग के दोनों ओर पहाड़ की चोटियाँ आकाश को चूमती हुई खड़ी थीं। तरह तरह की वृक्षलताएँ, फल और फूलों के भार से लदी हुई पर्वतपृष्ठ को अपूर्व शोभा दे रही थीं। अपने मधुर कलरव से समस्त दिशाओं को पूर्ण करते हुए रंग-बिरंग पक्षी कुञ्ज कुञ्ज में घूम रहे थे अथवा कभी कभी आहार की खोज में भूमि पर उतर रहे थे। इन दृश्यों को देखते हुए मैंने मन के अपूर्व शान्ति का अनुभव किया। धीर मन्थर गति में चलती हुई बैलगाड़ियाँ एक ऐसे स्थान पर आ पहुँची जहाँ पहाड़ की दो चोटियाँ मानो प्रेमवश अग्रसर होकर एक ही साथ वनपथ को स्पर्श कर रही हैं। उस समय उन शृंगों का विशेष रूप से निरीक्षण करते हुए मैंने देखा कि पास वाले एक पहाड़ में नीचे से चोटी तक एक बड़ा भारी सुराख है और उस खाली स्थान को पूर्ण कर मधुमक्खियों के युगयुगान्तर के परिश्रम के प्रमाणस्वरूप एक प्रकाण्ड मधुचक्र लटक रहा है। उस समय विस्मय में मग्न होकर उस मक्षिका-राज्य के आदि व अन्त की बात सोचते सोचते मन तीनों जगत् के नियन्ता ईश्वर की अनन्त उपलब्धि में इस प्रकार डूब गया कि थोड़ी देर के लिए मेरा सम्पूर्ण बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया। कितनी देर इस भाव में मस्त होकर मैं बैलगाड़ी में पड़ा रहा, याद

---

* 'लीलाप्रसंग' श्रीरामकृष्ण परमहंस देव की जीवनी है जिसकी रचना पूजनीय स्वामी शारदानन्दजी ने की है।

नहीं। जब फिर से होश में आया तो देखा उस स्थान को छोड़ काफी दूर आगे बढ़ आया हूँ। बैलगाड़ी में मैं अकेला ही था, इसलिए यह बात और कोई न जान सका।' प्रबल कल्पना की सहायता से ध्यान-राज्य में विचरण करते हुए एकाएक तन्मय हो जाने का नरेन्द्रनाथ के जीवन में, सम्भव है, यही पहला मौका था।"

रायपुर में उस समय स्कूल नहीं था। अतएव विश्वनाथ स्वयं पुत्र को शिक्षा देने लगे। उन्हें उस समय न मामला-मुकदमों में माथापच्ची करनी पड़ती थी और न अदालतों में ही दौड़धूप की परेशानी उठानी पड़ती थी। इसलिए उन्हें काफी अवकाश मिलता था। पुत्र की प्रतिभा उनसे छिपी न थी। पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त इतिहास, दर्शन तथा साहित्य सम्बन्धी अनेक पुस्तकें वे पुत्र को पढ़ाने लगे। उनके घर में प्रतिदिन रायपुर के गुणी, ज्ञानी व्यक्ति आया-जाया करते थे। नरेन्द्र प्रायः अधिकांश समय वहाँ उपस्थित रह कर साहित्य, दर्शन आदि विविध विषयों पर वादविवाद ध्यान से सुना करते थे। कभी कभी विश्वनाथ नरेन्द्र से वादविवाद में शरीक होने के लिए कहकर उसे अपनी राय प्रकट करने का भी निर्देश देते थे। बालक के उम्र में छोटे होने पर भी अनेक बड़े बूढ़े कई बार उसके युक्तिपूर्ण विचारों को सुनकर आनंदित होते थे। पुत्र की योग्यता देख विश्वनाथ भी आनंद के साथ हर तरह से उन्हें उत्साहित करते थे। एक दिन उनके पिताजी के मित्र जो बंगसाहित्य के एक नामी लेखक थे, बंग साहित्य के सम्बन्ध में वादविवाद कर रहे थे। नरेन्द्रनाथ भी पिता की अनुमति से उस वादविवाद में बुला लिए गए। उस नामी साहित्यिक ने थोड़े ही समय में समझ लिया कि इस बालक ने अधिकांश प्रसिद्ध लेखकों के ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया है। उन्होंने विस्मय तथा आनन्द के साथ नरेन्द्र से कहा, "बेटा! आशा है एक दिन तुम्हारे द्वारा बंगभाषा गौरवान्वित होगी।" और इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी विवेकानन्द द्वारा लिखित 'वर्तमान भारत,' 'परिव्राजक,' 'भावबार कथा' (सोचने योग्य

बात), 'प्राच्य और पाश्चात्य' आदि ग्रन्थों ने उनकी भविष्य-वाणी को सत्य प्रमाणित कर दिया।

पुत्र की विकासोन्मुख बुद्धि व प्रतिभा को भलीभाँति जानने के कारण विश्वनाथ ने नरेन्द्र की शिक्षा-पद्धति में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर दिया। किताबी विद्या के भार से पुत्र की प्रखर स्मृति-शक्ति को क्लान्त न कर वे पुत्र को साथ अनेकानेक विषयों पर तर्क किया करते थे और नरेन्द्र को स्वाधीन भाव से अपना मत प्रकट करने का अवसर देते थे। इधर नरेन्द्रनाथ भी पिता के ज्ञान की गम्भीरता से मुग्ध हो जाते। संसार में हमेशा से ही श्रद्धावान व्यक्ति वांछित वस्तु को प्राप्त करते हैं। विशालहृदय दयालु विश्वनाथ दूसरों के दुःखों को सहन करने में असमर्थ होकर अपनी धन-दौलत खुले हाथ से दान कर गये। साथ ही कष्ट से उपार्जित ज्ञानरूपी दौलत को हजार धाराओं से योग्य पुत्र को अर्पित कर वे कृतार्थ हुए थे। नरेन्द्रनाथ ने दो वर्ष तक पिता के पास रहकर केवल ज्ञानलाभ ही न किया, बल्कि उनके किशोर चरित्र पर पिता की महानता की गम्भीर छाप भी पड़ी। तेजस्विता, दूसरों को दुःखी देखकर विकल होना, विपत्ति में धैर्य को न छोड़ते हुए निर्विकार चित्त से अपना कर्तव्य करते जाना नरेन्द्र ने अपने पिता से ही सीखा था। शिक्षा के साथ ही नरेन्द्र ने पिता के चरित्र की विशिष्टताओं को भी अपना लिया था। विश्वनाथ मितव्ययी न थे, इसलिए वे धन बटोर न सकते थे। इस समय नरेन्द्र की जो उम्र थी उसमें भविष्य की बात उनके मन में उदित होना सम्भव नहीं था। सम्भव है, किसी आत्मीय या स्वजन के लिखने पर ही नरेन्द्र ने पिता से पूछा था, "पिताजी, आप हमारे लिए क्या छोड़ रहे हैं?" इस प्रश्न को सुनते ही विश्वनाथ ने दीवार पर लटकते हुए आइने की ओर उंगली से इशारा करते हुए कहा, "जा, इस आइने में अपना चेहरा देख, तभी समझेगा कि मैंने तुझे क्या दिया है।" बुद्धिमान किशोर बालक ने बात समझ ली। पुत्रों को शिक्षा देने के लिए, उनमें आत्मविश्वास

उत्पन्न करने के लिए विश्वनाथ कभी उन्हें बुरा नहीं कहते थे, कभी गाली न देते थे। उदाहरण के रूप में एक और घटना कही जा सकती है। एक दिन बालकोचित चंचलता के वशीभूत होकर नरेन्द्र ने अपनी माता के प्रति बुरे शब्दों का प्रयोग किया था। इसके लिए पुत्र को बुरी तरह धमकाने के बदले जिस कमरे में नरेन्द्र अपने सहपाठी तथा मित्रों के साथ वार्तालाप या लिखाई-पढ़ाई करते थे उस कमरे की दीवार पर विश्वनाथ ने कोयले से बड़े बड़े अक्षरों में लिख दिया, "नरेन्द्र बाबू ने आज अपनी माता के प्रति इन दुर्वचनों का प्रयोग किया है।" इससे नरेन्द्रनाथ को जो लज्जा तथा पश्चात्ताप हुआ था उसका उन्हें आजीवन स्मरण रहा। हमने पहले ही कहा है कि दत्तभवन में अनेक दूर के रिश्तेदारों, आत्मीय अथवा अनात्मीय व्यक्तियों ने स्थायी रूप से डेरा डाल रखा था। इनमें ऐसे भी कई व्यक्ति थे जिनके नियमित नशा-व्यसन का खर्च भी विश्वनाथ को ही देना पड़ता था। निकम्मों तथा नशाखोरों को इस तरह आश्रय देने के विरुद्ध पिता के निकट एक दिन नरेन्द्रनाथ ने शिकायत की थी। विश्वनाथ ने स्नेह के साथ पुत्र को गोद में लेकर गद्गद् कण्ठ से कहा, "जीवन में कितने दुःख हैं, तुम क्या समझोगे बेटा! बड़े होकर देखोगे कि किस गम्भीर दुःख के पंजे से, जीवन की शून्यमय व्यर्थता की ग्लानि के पंजे से क्षणिक छुटकारे के लिए वे लोग नशा करते हैं। जब इस बात को जानोगे तब तुम्हारी भी उन पर दया ही होगी।"

इस तरह की शिक्षा द्वारा नरेन्द्र के हृदय में पिता के प्रति गम्भीर श्रद्धा उत्पन्न हुई थी। कभी कभी वे अपने मित्रों के पास पिता के गुणों का वर्णन कर गौरव अनुभव करते थे। 'मैं एक महान् व्यक्ति का पुत्र हूँ' इस बात की घोषणा वे बड़े अभिमान के साथ करते थे और इसीलिए एक प्रबल आत्माभिमान उनके प्रत्येक वाक्य तथा आचरण में स्पष्ट हो उठता था। अगर कोई बालक समझकर उनकी लापरवाही करता तो वे क्रुद्ध हो जाते थे। उनके औद्धत्य तथा अहंकार में ईर्ष्या-द्वेष नहीं था — धनी-दरिद्र, उच्च-नीच सभी श्रेणियों के

पड़ोसी उनके लिए एक सदृश प्रेम तथा सम्मान के पात्र थे। सच बोलना और सचाई का व्यवहार करना उनके जीवन का मूल मंत्र था।—वे निडर होकर लोगों के मुँह पर ही निष्कपट भाव से अप्रिय सत्य कह डालते थे। इसलिए कभी कभी दण्ड भी अवश्य पाते थे, परन्तु फिर भी सत्य को छिपा न सकते थे।

किशोरावस्था में उनके प्रत्येक कार्य में उनकी शक्तिमत्ता तथा बुद्धि का परिचय मिलता था। यदि कोई उनकी युक्तिपूर्ण बातों को बालकोचित धृष्टता समझकर उनकी उपेक्षा करता तो नरेन्द्रनाथ क्रोध के मारे आपे से बाहर हो जाते थे, उस समय उन्हें छोटे बड़े का भी ख्याल न रहता था। यहाँ तक कि, अवज्ञा करने पर बालक की कठोर समालोचना से उनके पिता के मित्रगण तक छुटकारा न पाते थे। समझदार तथा उम्र में बड़ों को अपमानित कर आत्मगौरव प्राप्त करने की नीचता तो उनमें न थी। गहरी चोट न पाते तक वे कभी आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अग्रसर न होते थे। उनके इस औद्धत्य के लिए विश्वनाथ उन्हें कभी क्षमा न करते थे, बल्कि उचित दण्ड दे उन्हें भविष्य के लिए सावधान कर देते थे। परन्तु साथ ही पुत्र की इस आत्मनिष्ठा को देखते हुए मन ही मन आनन्दित भी होते थे।

थोड़े ही महीनों में नरेन्द्र को पूर्व स्वास्थ्य प्राप्त हो गया। सोलह वर्ष की उम्र में उनके दीर्घ और बलिष्ठ शरीर को देखकर कई लोग उनकी उम्र का अनुमान बीस वर्ष का लगाते थे। नियमित रूप से शरीर के अंग-प्रत्यंगों की पुष्टि के लिए कुस्ती का वे बचपन से ही अभ्यास करते थे। उस समय के 'हिन्दू मेला' के प्रवर्तक नवगोपाल मित्र महाशय ने शिमला मुहल्ले में कार्नवालिस स्ट्रीट के ऊपर एक व्यायामशाला की स्थापना की थी। नरेन्द्रनाथ इस अखाड़े में नियमित रूप से व्यायाम करते थे। यौवन के प्रारम्भ में बाक्सिंग खेल में सर्वप्रथम होकर एक बार उन्हें चांदी की बनी हुई एक तितली इनाम में मिली थी। उस समय के छात्र-समाज में क्रिकेट के उत्कृष्ट खिलाड़ी के रूप में भी उन्होंने काफी नाम कमाया था।

विश्वनाथ अच्छी रसोई बना सकते थे । नरेन्द्र ने रायपुर में रहते हुए पिता से तरह तरह के सुस्वादु भोजन-व्यञ्जन बनाना सीखा था। कालेज में पढ़ते समय वे समय समय पर अपने मित्रों को बुलाकर अपने हाथ से रसोई बनाकर खिलाते थे। नरेन्द्र आजीवन पाकशास्त्र के प्रेमी रहे। विश्वविख्यात स्वामी विवेकानन्द बनकर भी वे अपनी इस कला को छोड़ न सके थे। प्रायः तरह तरह की रसोई बनाकर आग्रह के साथ शिष्यों को परोसते हुए वे आनन्द का अनुभव करते थे।

करीब दो वर्ष के बाद प्रियदर्शन नरेन्द्रनाथ शारीरिक व मानासिक परिवर्तन प्राप्त कर रायपुर से अपने मित्रों के बीच लौटे। बहुत दिनों के बाद उन्हें पाकर उन लोगों के आनन्द की सीमा न रही। करीब दो वर्ष तक गैर-हाजिर रहने के कारण प्रवेशिका श्रेणी में भरती होने में उन्हें कुछ अड़चन हुई। अन्त में उनके गुणमुग्ध शिक्षकों ने अधिकारियों की विशेष अनुमति प्राप्त कर उन्हें भरती कर लिया। दो वर्षों की पाठ्य पुस्तकें कठोर परिश्रम के साथ एक ही वर्ष में समाप्त कर वे प्रवेशिका-परीक्षा के लिए तैयार हुए। जिस समय वे प्रशंसा के साथ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए उस समय उनके मित्र तथा परिवार वालों के आनन्द का पारावार न था। स्कूल के अधिकारी भी नरेन्द्र की इस सफलता पर विशेष रूप से प्रसन्न हुए, क्योंकि एक मात्र उन्होंने ही प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर के स्कूल गौरव की रक्षा की थी।

मेट्रोपोलिटन इन्स्टिटयूशन में पढ़ते समय नरेन्द्र को यह पता मिला कि एक पुराने माननीय शिक्षक काम से अवकाश ग्रहण कर रहे हैं। अतएव कुछ उत्साही छात्रों को साथ ले नरेन्द्र ने उन्हें बिदाई का अभिनन्दन देने की तैय्यारी की। निश्चय यह हुआ कि आगामी-पुरस्कार वितरण की सभा में शिक्षक महोदय का वे अभिनन्दन करेंगे। देशविख्यात् सुवक्ता स्वर्गीय सुरेन्द्र-नाथ बैनर्जी उक्त सभा का नेतृत्व कर रहे थे। उनके सामने खड़े होकर कौन भाषण देगा यह सोचकर सभी लड़के संकोच कर रहे थे। अन्त में सभी के

अनुरोध से नरेन्द्रनाथ ही भाषण देने के लिए चुने गए। नरेन्द्र ने सभामञ्च पर खड़े होकर करीब आध घण्टे तक अपने स्वाभाविक सुमधुर कण्ठ से सुन्दर अंग्रेजी में उक्त शिक्षक महोदय के गुणों का वर्णन किया। अन्त में छात्रों के क्षोभ तथा दुःख की बात कहकर जब वे बैठे तो सुरेन्द्रनाथ ने खड़े होकर अपना हार्दिक सन्तोष प्रकट करते हुए नरेन्द्र के भाषण की प्रशंसा की। सोलह या सत्रह वर्ष के किशोर बालक के लिए सुविख्यात व्याख्याता सुरेन्द्रनाथ के सामने खड़े होकर भाषण देना असाधारण दृढ़ता या आत्मनिर्भरता का ही काम था।

जिन महामानवों ने युग-युग में जन्म लेकर मानव-जाति की विचार-धारा में अभूतपूर्व परिवर्तन किया है, जिन्होंने देश और समाज के कल्याण की कामना से अमित शक्ति के साथ अथक परिश्रम किया है, उनमें से प्रत्येक को बचपन से ही अपने असाधारणत्व का थोड़ा बहुत अनुभव हुआ है। नरेन्द्रनाथ के भी मन में इसी प्रकार का विचार समय समय पर उत्पन्न अवश्य होता था। चारों ओर की परिस्थिति तथा दूसरे बालकों की तुलना में कई बार वे अपने को एक विशिष्ट व्यक्ति के रूप में महसूस किया करते थे। इसीलिए उनकी उस समय की आत्मनिष्ठा तथा दृढ़ता साधारण व्यक्ति की दृष्टि में अहंकार सी लगती थी। और यदि उसे अहंकार भी मान लिया जाय तो भी वह दूसरों को पीड़ादायक न था — यदि ऐसा होता तो वे अपने सहपाठी तथा पड़ौसी, बच्चे बूढ़े, स्त्री-पुरुषों का हृदय अपनी ओर कभी भी आकर्षित न कर सकते।

नरेन्द्रनाथ के चरित्र में जो कुछ भी महान् तथा सुन्दर था वह सब उनकी सुशिक्षित तथा उच्च विचारशील माता की शिक्षा व प्रयत्नों का ही परिणाम था। सन्तानों के चरित्र में किसी प्रकार की हीनता न आने पाए, इस विषय में वे सदा सतर्क रहती थीं। मातृभक्त नरेन्द्र कभी माता की आज्ञा का उल्लंघन न करते थे। सन्तान की यशोवृद्धि की कामना भला कौन माता न करेगी? परन्तु उस यशोवृद्धि का उपाय बहुधा सभी माताएँ नहीं जानतीं।

आजकल की माताएँ जब पारिवारिक कलह में लिप्त होकर अज्ञानवश अपने दुध-मुँहे बच्चों के हृदय में ईर्ष्या-द्वेष का विष फैलाती हैं, तब वे यह सोचने तक का अवसर नहीं पातीं कि जिस बालक के सम्बन्ध में ज्योतिषियों ने 'असाधारण लक्षण' बताए हैं वह भी भविष्य में सिर्फ दूसरों की उन्नति को देख जलने वाला, संकीर्ण हृदय तथा नीच प्रवृत्ति का भोग-विलासप्रिय 'बाबू' ही बनेगा। हमारे देश के माता-पिता सन्तान की आकांक्षा तो रखते हैं परन्तु यह नहीं जानते, न सीखते और न कभी सोचते ही हैं कि उन्हें 'मनुष्य' कैसे बनाया जाय। लकीर के फकीर की तरह दिन में तीन बार भोजन कराकर संसार में दूसरों के जूठन में से दो दाने चुनकर खाने के लिए अपने बच्चों को छोड़ देते हैं; परिणामतः देश में लोकसंख्या की तो अवश्य ही वृद्धि हो रही है, परन्तु 'मनुष्यों' की संख्या धीरे धीरे घटती जा रही है।

माता भुवनेश्वरी सिंहिनी थीं और इसीलिए तो उन्होंने नरेन्द्रनाथ की तरह पुरुषसिंह का प्रसव किया था। नारी की कोमलता के पीछे उनके चरित्र में एक ऐसी दृढ़ता थी जो अन्याय, असत्य तथा असद्-विचार के विरुद्ध सदा दर्प के साथ सिर ऊँचा कर खड़ी हो जाती थी। अतीत काल की रजपूत रमणियों की तरह वे जिस प्रकार उच्च व्रतों का ग्रहण करने के लिए अपने पुत्रों को उत्साहित व उत्तेजित करती थीं, सम्भव है कि आज भी बंग देश उसे न भूला होगा। स्वामी विवेकानन्द के देहत्याग के बाद भी यह महिमामयी माता नौ वर्ष तक जीवित रहीं। उन्होंने अपने प्यारे पुत्र नरेन्द्रनाथ को विश्व-विख्यात स्वामी विवेकानन्द बनते देखा था। संसार ने विस्मय चकित होकर देखा यह तेजस्विनी माता पवित्र गंगा तट पर अपने पुत्र की चिता के पास खड़ी होकर धीर स्थिर भाव से अन्तिम प्रार्थना में सम्मिलित हुई थीं। उस समय उनके शोककातर मुखमण्डल पर वेदना का जो चित्र अंकित हो उठा था उसका कारण केवल सन्तान-वात्सल्य ही न था—वरन् विवेकानन्द के अधिक दिन जीवित रहने पर अखिल विश्व का जो असीम

कल्याण होता उसीका दुःख उन्हें अधिक सता रहा था। वे विवेकानन्द की माँ हैं—इस गौरव का गर्व उनके संयमशील, गम्भीर एवं प्रशान्त मुखमण्डल पर सदा ही जाग्रत रहकर सभी की श्रद्धायुक्त दृष्टि को आकर्षित करता था। २५ जनवरी १९११ ई० में इस महिमामयी माता का देहान्त हुआ।

पिता-माता की स्निग्ध गोद में नरेन्द्रनाथ का शैशव तथा कैशोर जीवन हँसी, आनंद तथा खेलकूद में व्यतीत हुआ। उनका बाल्य जीवन यद्यपि अलौकिक अथवा असाधारण नहीं है तथापि वैशिष्ट्यपूर्ण अवश्य है। सोलह वर्ष की उम्र में ही उनमें जिस प्रकार तीक्ष्ण विद्याबुद्धि, प्रबल आत्म-निष्ठा व ज्ञानप्राप्ति का तीव्र आग्रह देखा गया है वह वास्तव में अतुलनीय है। उन्होंने पिता से बचपन से ही संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी तथा उस समय गाने बजाने में भी उनकी दक्षता कम न थी। यह बुद्धिमान, तेजस्वी तथा चपलस्वभाव बालक एक ओर जैसे हास्यप्रिय, क्रीड़ा-प्रेमी व हठीले थे, वैसे ही दूसरी ओर गम्भीर चिन्ताशील, धर्मपरायण, दयालु व मित्रवत्सल थे। उनके चालचलन में एक ऐसी निष्कपट सरलता प्रकट होती थी कि जिससे वे अपने आत्मीय, स्वजन तथा मित्रों की दृष्टि में प्रिय से भी प्रियतर हो गये थे। प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण होकर कालेज में भरती होने के बाद ही घटनाओं के घातप्रतिघात में नरेन्द्र के सरल व स्वाभाविक जीवन के एक विचित्र तथा जटिल अध्याय का प्रारम्भ हुआ।

द्वितीय अध्याय

सुधार-युग

(१८००–१८८०)

"सुधारकगण असफल हुए हैं—इसका क्या कारण है? कारण यह है कि उनमें से बहुत ही कम व्यक्तियों ने अपने धर्म का भलीभाँति अध्ययन या चिन्तन किया है और उनमें से एक ने भी 'सब धर्मों को जन्म देने वाले' को समझने के लिए जिस साधना की आवश्यकता होती है उस साधना का अनुष्ठान नहीं किया है। ईश्वर की कृपा से मैं दावे से कहता हूँ कि मैंने इस समस्या को हल कर लिया है।"

—स्वामी विवेकानन्द

अठारहवीं सदी के भारतवर्ष में दो महाजातियों के वंशधर आदर्शच्युत तथा आत्मविस्मृत हो धर्म में, समाज में व राष्ट्र में अधःपतन की चरम सीमा पर जा पहुँचे थे। विधाता के अचिन्त्य विधान से इस दुर्बलता व जड़ता का दण्ड उन्हें बड़े ही भयानक रूप में प्राप्त हुआ;—मुगल साम्राज्य का सुविख्यात मयूर सिंहासन डाकुओं ने लूट लिया, नवोत्थित शक्ति के गर्व में चूर महाराष्ट्र जाति के गौरवपूर्ण अभ्युत्थान का उन्नत शिर विधाता के कठोर वज्र-दण्ड से चूर चूर हो गया, वणिक् अंग्रेजों का मापदण्ड (तराजू) एकाएक भारतवासियों के सिर पर राजदण्ड के रूप में प्रकट हुआ, सिक्खों का गौरवसूर्य उदयाचल के शिखर पर ही अस्त हो गया। बारहवीं सदी के भारतवर्षमें जिस प्रकार असहाय होकर हिन्दू और बौद्ध एक ही साथ शिर झुकाते हुए इस्लामी राजशक्ति के सामने खड़े हुए थे, अठाहरवीं सदी में ठीक उसी तरह हिन्दू व मुसलमान दोनों बदनसीब जातियाँ प्रायः बिना प्रतिवाद के ही अंग्रेजों के चरणों में झुक चुकी थीं। इस अद्भुत राजनीतिक परिवर्तन द्वारा, पश्चिमी देशों से

आए हुए वणिक्रूप व्याधों के सुलभ मृगया-क्षेत्र बने हुए भारतवर्ष की दीनता व दुर्बलता का प्रायश्चित्त प्रारम्भ हुआ उन्नीसवीं सदी में।

आदर्शच्युत तथा बिखरी हुई हिन्दू जाति समस्त इस्लाम युग में भी प्राणपण से अपने जातीय स्वातंत्र्य व वैशिष्ट्य को काफी मात्रा में ज्यों का त्यों बनाये रखे हुए अपनी आत्मरक्षा कर सकी थी। परन्तु ब्रिटिश युग में एक विपरीत शिक्षा व सभ्यता-संघर्ष से प्राचीन समाज की पुरानी रक्षणशीलता का कोई भी उपयोग न रहा। इस्लामी शिक्षा व सभ्यता के प्रभाव से आत्मरक्षा करने के लिए जो उपाय काम में लाए गए थे उनका अन्धानुकरण इस नवीन शिक्षा व सभ्यता के प्रभाव को रोक न सका। काल व परिस्थिति की विभिन्नता में आत्मरक्षा तथा आत्मप्रतिष्ठा के लिए आवश्यक व्यवस्था करने में सम्पूर्ण रूप से असमर्थ हिन्दू समाज सदियों के कुसंस्कारों के भार से दबकर प्रायः सभी प्रकार से कमजोर हो चुका था। विजित जाति सहज में ही विजयी जाति के गुणगौरव से मोहित हो जाती है, कई सदियों की पराधीनता के परिणाम में आत्मविस्मृत हिन्दू जाति के सामने पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता जिस दिन मरुमरीचिका की सम्मोहिनी शक्ति लेकर रंगबिरंगे इन्द्रधनुष्य की तरह कई प्रकार के विचित्रतापूर्ण दृश्यों से उद्भासित हो उठी उस दिन भारतीय इतिहास और विशेषकर बंगाली जाति के इतिहास का एक नया अध्याय शुरू हुआ। विशेष रूप से बंगालियों के उल्लेख का उद्देश यही है कि इतनी तरह दूसरे किसी भी प्रान्त के निवासियों ने उतने असंयत भाव से पाश्चात्य सभ्यता के स्रोत में बह जाने की चेष्टा नहीं की। इसके परिणाम में पाश्चात्य आदर्श के साथ प्राच्य के संघर्ष से जिस क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रारम्भ हुआ, दासों की तरह दूसरों के अनुकरण करने की प्रवृत्ति ने समाज-जीवन में जिस चंचलता की सृष्टि की, वह मुख्यतः बंग भूमि में ही जोर से पनपी। और इस आन्दोलन का केन्द्र स्थल बना — भारत की नवप्रतिष्ठित राजधानी कलकत्ता नगरी।

इस देश पर अंग्रेजों का राज्य भलीभाँति स्थापित होने के साथ ही

ईसाई मिशनरी निश्चिन्त होकर हीदनों (Heathens) को अन्धकार से आलोक में लाने के लिए जी जान से लग गए। मिशनरियों के दल पर दल इस देश में आने लगे। धर्म का प्रचार करने के लिए पहले पहल उन्हें बंगला भाषा सीखनी पड़ती थी। धीरे धीरे प्रचार-कार्य में आने वाले विघ्नों को सोचकर उन्होंने स्थिर किया कि शिक्षा के विस्तार के साथ ही अगर ईसाई धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया जाय तो प्रचार का काम अधिक सरलता से चल सकेगा। इस प्रकार वे स्थान स्थान पर विद्यालय खोलने लगे तथा शिक्षा के द्वारा कोमलमति बालक तथा तरलमति युवकों के चित्त पर प्राणपण से ईसाई धर्म की महिमा की मोहर लगाने के लिए प्रवृत्त हुए। साथ ही साथ यह बात है कि कुछ उदारहृदय मिशनरी अथवा अंग्रेज, जो केवल शिक्षा प्रचार के लिए ही शिक्षा दान करने को तैयार हुए थे तथा अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विघ्न व विपत्ति के साथ लड़े थे — हमारी जाति इतनी अकृतज्ञ नहीं कि उनकी पवित्र स्मृति को आसानी से जाति के इतिहास से मिटा दे।

१८०० ई० में पहले पहल कलकत्ता नगर में फोर्ट विल्यम कालेज स्थापित हुआ। ठीक उसी वर्ष आधुनिक शिक्षा के अन्यतम जन्मदाता डेविड हेअर बंगाल में पधारे। ये मनीषी नास्तिक होने पर भी अनेक सद्‌गुणों से युक्त थे। कुछ दिनों बाद उन्होंने अन्य सब कामों को छोड़कर एकमात्र शिक्षा-प्रचार में ही आत्मनियोग किया था।

ईसाई मिशनरीगण धीरे धीरे साहस पाकर धर्म-विद्वेष का विष उगलने लगे। प्राचीन, पंगु तथा जड़पिण्ड सदृश हिन्दू समाज ने कान खड़ेकर सुना कि उनका आचार-व्यवहार, रस्म-रिवाज सभी निन्दनीय है, भयावह है तथा पैशाचिकता से पूर्ण है! इसके परिणाम में वे इस लोक में सर्व प्रकार के सुख-भोग से वंचित हैं तथा परलोक में भी अनन्त नरक भोगेंगे। जितने उपायों से निन्दा की जा सकती है उनमें से मिशनरियों ने किसी को भी न छोड़ा। एक अंग्रेज महिला मिशनरी ने हिन्दू धर्म को गाली व अभिशाप देने के लिए योग्य

भाषा न पाकर अन्त में अपने प्राणों की ज्वाला को शान्त करने के लिए काफी छानबीन के बाद लिखा कि — "Crystallized immorality and Hinduism are same thing" — अर्थात् स्फटिकाकार में घनीभूत दुश्चरित्रता व हिन्दू धर्म एक ही चीज़ है।

प्राचीन रक्षणशील हिन्दू समाज ने इस नवीन आक्रमण को रोकने के लिए किसी भी प्रकार की चेष्टा नहीं की। पठान व मुगलों के समय इस्लाम धर्म के प्रचारकों को बाधा देना ब्राह्मणों के लिए राजनीतिक कारण से असाध्य था। सम्भव है कि इस समय भी उन्होंने सोचा हो कि ईसाई पादरियों के प्रचार-कार्य का प्रकट रूप से विरोध करने पर ईसाई राजशक्ति के कोप का भाजन होना पड़ेगा। एक और प्रधान कारण था, — इस्लाम या ईसाई धर्म की तरह हिन्दू धर्म प्रचारशील न था। हिन्दू समाज बनावटी जातिभेद-प्रथा के कारण छोटी छोटी श्रेणियों में विभक्त था, इसलिए उसके धर्म, नीति, सदाचार आदि समाज के सभी स्तरों में एक जैसे न थे और आपस में एक दूसरे के प्रति घृणा भी काफी थी। समाज की ऐसी स्थिति में सब के लिए अपनापन सामाजिक जीवन से लुप्त ही हो गया था। विगत दो तीन सदियों में बंगाल के हजारों परिवार मुसलमान बन जाने पर भी जिस प्रकार हिन्दू समाज विचलित नहीं हुआ उसी प्रकार अभी भी मिशनरियों के आक्रमण से वह व्यग्र न हुआ। लकीर का फकीर हिन्दू समाज कुछ पुरानी प्रथा तथा निषेधों को मानकर चलना, बारह महीनों के तेरह त्यौहार, तीर्थ-यात्रा, गंगा-स्नान, ब्राह्मण-वैष्णवों को दान तथा खान पान, लेन-देन के कुछ निर्दिष्ट नियमों को मानकर चलना ही अपना धर्म मानता था। ब्राह्मणों के बीच में बहुत ही कम व्यक्ति न्याय-शास्त्र व स्मृतिशास्त्र की चर्चा करना आवश्यक समझते थे, वेद व वेदान्त की चर्चा तो बंगभूमि में प्रायः विलुप्त सी ही हो गई थी। धर्मकार्य के नाम से धनी या बड़ों का शोषण तथा उनके गुणकीर्तन द्वारा अर्थोपार्जन, मंत्र देकर शिष्य के धन का अपहरण, देशाचार, लोकाचार व स्त्री-आचारों का

पालन तथा सामाजिक दलबन्दी आदि आदि में ही ब्राह्मणगण व्यस्त रहते थे। सर्वसाधारण हिन्दुओं में ज्ञान-विद्या की चर्चा की कोई चेष्टा न थी। अरबी, फारसी पढ़कर नौकरी अथवा घरगृहस्थी का काम चलाने योग्य चिट्ठी पत्री लिख सकना या हिसाब रखना-रखाना ही शिक्षा का चरम आदर्श था। अंग्रेज-राज्य के प्रारम्भ में धनी व बाबू बंगालियों का चरित्र कई तरह से भ्रष्ट हो चुका था। धन रहने पर पत्नी या पत्नियों के सामने ही और कई उपपत्नियाँ रखते थे, विद्यासुन्दर की कविताओं से तथा आशुकवियों के अश्लील व कुरुचिपूर्ण संगीतमय वाक्-युद्ध के अभिनय से तृप्त होते थे। कलकत्ते के बाबू लोग बुलबुल की लड़ाइयाँ, पतंगों का खेल, वेश्याओं के साथ बगीचों में मौज उड़ाना तथा चटकीली भड़कदार पोशाक में ही मस्त रहते थे। ऐसे ही समय एक मेधावी महापुरुष कलकत्ता नगर में आविर्भूत हुए। ऊँघती हुई बंगाली जाति ने एक कठोर आघात द्वारा चेतना पाकर देखा,—महामनीषी राजा राममोहन राय (१८७२–१८३३)। राममोहन के धर्म तथा समाज संस्कार के आन्दोलन से कलकत्ता नगरी विक्षुब्ध हो उठी—बंगाल में सर्वत्र इन्हीं की चर्चा होने लगी। "बाबुओं के बैठकखाने में, भट्टाचार्यों की चौपालों में, गाँवों के चण्डी-मण्डपों में जहाँ देखिए राममोहन की ही चर्चा। अन्तःपुर के अन्दर भी इस प्रवाह की लहरें अपना असर करने में खाली न रहीं!"

राममोहन धनी तथा अभिजात ब्राह्मण वंश में पैदा हुए थे। बाल्य काल में उन्होंने पटना में अरबी तथा फारसी भाषा सीखी थी तथा उसी भाषा में कुरान, युक्लिड व आरिस्टॉटल के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उसके बाद काशी में जाकर उन्होंने संस्कृत व वेदान्त का अध्ययन किया। वेदान्त और कुरान का अध्ययन करते समय वे मूर्तिपूजा के विरोधी तथा एकेश्वरवादी बन गये। प्रचलित धर्म की निन्दा कर उन्होंने अरबी भाषा में एक ग्रन्थ की रचना की जिसके परिणाम में वे अपने पिता तथा स्वजनों से

परित्यक्त हो गए। इसके बाद कलकत्ते में आकर उन्होंने अंग्रेजी, लैटिन तथा हिन्दू भाषा सीखकर बाइबिल आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। अनेक भाषाओं के ज्ञाता तथा विभिन्न धर्मों के तत्वों को जानने वाले राममोहन ने ही सर्वप्रथम विभिन्न धर्ममतों की तुलनामूलक समालोचना का सूत्रपात किया। इससे पूर्व, पाश्चात्य देशों में भी किसी पण्डित ने इस प्रकार युक्तिवाद की सहायता से विभिन्न धर्ममतों की तुलनामूलक समालोचना का प्रयत्न न किया था। अस्तु—

पिता की मृत्यु के बाद १८०३ ई० में राममोहन फिर से अपने परिवार वालों के साथ सम्मिलित हो गये। १८०५ ई० से १८१४ ई० तक उन्होंने कई स्थानों में कलेक्टर के सरस्तेदार का कार्य किया। रंगपुर में रहते समय (१८०९—१८१४) ही राममोहन ने वेदान्त-चर्चा का श्रीगणेश किया और वे उपनिषदों के अनुवाद के कार्य में प्रवृत्त हुए। उसके बाद नौकरी छोड़कर १८१४ ई० में कलकत्ते में आकर उन्होंने 'आत्मीय सभा' नामक एक समिति की स्थापना की और साथ ही कुछ प्रेमी सज्जनों के सहयोग से वर्षों से लुप्तप्राय उपनिषदों का प्रचार करना और साथ ही साथ मूर्तिपूजा तथा प्रचलित पौराणिक हिन्दू धर्म के विरुद्ध आन्दोलन करना प्रारम्भ किया। केवल हिन्दू धर्म के कुसंस्कार व युक्ति विरुद्ध मतवादों की ही नहीं, ईसाई धर्म और विशेष रूप से मिशनरियों द्वारा प्रचारित मतवाद की भी सारहीनता प्रमाणित कर इस विषय पर वे निबन्ध तथा पुस्तकादि की रचना कर प्रचार करने लगे। उनके इस प्रचार के परिणामस्वरूप प्राचीन पंथी हिन्दू समाज व मिशनरीगण तंग आ गए। १८२१ ई० में विल्यम आडाम नामक एक मिशनरी ने राममोहन के पदचिह्नों पर चलते हुए ईसाई मत के त्रित्व वाद को छोड़ एकेश्वरवाद को ग्रहण कर लिया। इस बात को लेकर मिशनरी समाज में भी एक हलचल खड़ी हो गई। मिशनरियों ने देखा कि मूर्तिपूजा या तथाकथित आचार-व्यवहार पर हिन्दू धर्म निर्भर नहीं है, उसका मूल है

वेदान्त-दर्शन। बस, मैर्समेन, केरी आदि श्रीरामपुर के मिशनरियों ने वेदान्त-दर्शन पर आक्रमण किया। राममोहन भी तैयार थे। वे धीर स्थिर भाव से उनके युक्तिविरुद्ध मतों का एक एक करके खण्डन करने लगे। यह विख्यात वेदान्त-युद्ध एक ऐतिहासिक घटना है। बंगालियों को ईसाई बनाने के लिए मिशनरियों की आप्राण चेष्टा के विरुद्ध राजा राममोहन अकेले खड़े हुए थे। कहना न होगा कि उस समय उनका साथ देना तो दूर रहा, हिन्दू समाज ने उनका उल्टा विरोध किया था। एक ओर अपनी जाति के सदियों के सञ्चित कुसंस्कार और दूसरी ओर धर्मान्ध ईसाइयों द्वारा हिन्दू धर्म और दर्शन की ग़लत व्याख्या,—इन दोनों के विरुद्ध एक ही साथ राममोहन को शास्त्र और युक्ति का प्रयोग करना पड़ा।

उन्नीसवीं सदी के प्रथम भाग में अमित शक्तिशाली राममोहन की चिन्ता व चरित्र ने समाज की अभ्यस्त जड़ता पर बार बार आघात करते हुए एक नये जीवन की चहलपहल सी पैदा कर दी। धर्म में, समाज में और राष्ट्र में अधःपतित जाति को हीनता के दलदल से घसीटकर उठकर खड़ा कर देने के लिए राजा ने सारी प्रतिकूल शक्तियों के विरुद्ध अकेले खड़े होकर जिस असाध्य बात को सम्भव बनाने की चेष्टा की थी उसकी कल्पना भी आज एक सदी के बाद करना कई कारणों से कठिन है। रवीन्द्रनाथ की भाषा में कहना होगा, "उन्होंने क्या नहीं किया? शिक्षा, राजनीति, बंगला भाषा, बंग साहित्य, समाज, धर्म कुछ भी कहिये बंगाली समाज के जिस किसी विभाग में उत्तरोत्तर जो भी उन्नति हो रही है वह मानो केवल उन्हीं का हस्ताक्षर है जो नये नये पृष्ठों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक परिस्फुट हो रहा है।"

उस समय के बंगाली समाज में राममोहन राय की प्रतिभा तथा उनके गम्भीर स्वदेश-प्रेम की उपलब्धि करने योग्य व्यक्ति भी बहुत कम थे। उन अल्पसंख्यक साथियों को साथ लेकर उन्होंने कुसंस्कार, निरर्थक सामाजिक प्रथाएँ, प्राणहीन आचार आदि के विरुद्ध निर्भय होकर संग्राम का श्रीगणेश

किया था। मूर्तिपूजा या जातिभेद-प्रथा के विरुद्ध राजा ने जो आन्दोलन चलाया उसके अतिरिक्त सहमरण (सती) प्रथा की निन्दनीय निष्ठुरता के विरुद्ध चलाये हुए उनके आन्दोलन ने रक्षणशील समाज को अधिकतर क्षुब्ध कर डाला था। पति के देहान्त के साथ ही साथ शोकार्ता विधवा को कई प्रकार के बहानों से तथा बलपूर्वक खुले आम मृत पति के साथ जला डालने को महा पुण्यकार्य मानकर समर्थन करने वाले लोगों की कमी न थी! कुसंस्कार का कैसा भीषण प्रभाव! साधारण दृष्टि से जो लोग दयालु व न्याय-परायण हैं वे भी प्रथा के मोह में हिताहित-ज्ञान से शून्य होकर निर्दय आचरण करने में ग्लानि का बोध नहीं करते। इसीलिए हम देखते हैं कि रक्षणशील दल राजा सर राधाकान्त देव के नेतृत्व में एक 'धर्मसभा' की स्थापना कर 'सतीदाह' प्रथा का समर्थन करने लगा। यद्यपि वे लोग जानते थे कि कभी कोई विरली ही नारी स्वेच्छा से सहमृता होती है, अधिकांश अवसरों पर तो सम्पत्ति तथा धन के लोभ से ही उपवासक्लिष्ट शोकार्त विधवा को भंग, धतुरा आदि खिला-कर उससे सहमरण की संमति ले ली जाती थी तथा विधवा को चिता पर बाँधकर बाँस से दबाकर जला दिया जाता था, फिर भी सत्य को छिपाते हुए वे लोग युक्तिविहीन जिद करने लगे।

कुछ भी हो, इससे पूर्व अनेक अंग्रेज शासकों ने इस कुप्रथा को दूर करने की चेष्टा अवश्य की थी, परन्तु राममोहन के पूरे बारह वर्षों के आन्दोलन के परिणाम में १८२९ ई० की ४ दिसम्बर को सतीदाह प्रथा को निषिद्ध ठहराने वाला एक कानून बन गया। लॉर्ड विल्यम बेन्टिन्क ने राममोहन की युक्ति के औचित्य को समझ लिया। राजा राममोहन के परामर्श से गवर्नर जनरल ने गंगासागर में सन्तान फेंकने की प्रथा को भी कानून द्वारा बन्द करा दिया। प्राचीन समाज विधवाओं को जिन्दा जलाने का अवसर खोकर 'हिन्दू धर्म नष्ट हो गया' कहकर चिल्लाने लगा। हिन्दू जाति के कपाल पर से राममोहन की चेष्टा द्वारा कलंक की दो अमिट रेखाएँ मिट गईं। अब सर राधाकान्त का

दल विफल होकर राममोहन के मूर्ति-पूजा अस्वीकार तथा वेदान्त-आन्दोलन का प्रतिवाद करने लगा। इस वितण्डावाद में कुरुचि, ईर्ष्यादि काफी थी, परन्तु इसका अच्छा परिणाम यह हुआ कि विस्मृतप्राय प्राचीन शास्त्रों की चर्चा सर्वसाधारण के बीच में होने लगी और रक्षणशील समाज में भी सुधारवादियों के दल जाग उठे, क्योंकि हम देखते हैं कि राममोहन के विरोधी सर राधाकान्त ने ही उस समय स्त्री-शिक्षा के लिए आन्दोलन खड़ा किया।

पाश्चात्य प्रणाली से तथा अंग्रेजी भाषा की सहायता द्वारा शिक्षा देने के उद्देश्य से विद्यालय आदि की स्थापना के लिए आन्दोलन प्रारम्भ करते हुए राममोहन को उस समय के राजपुरुषों की सहायता व सहानुभूति प्राप्त हुई थी। स्वदेश के भी कई उदारहृदय व्यक्तियों ने राममोहन की यथोचित सहायता की थी। इसके परिणाम में १८१७ ई० में जब उन्हीं की चेष्टा से हिन्दू कालेज की स्थापना हुई उस समय प्राचीनपंथीगण राममोहन को उसका सदस्य बनाने में सहमत न हुए। महानुभाव राममोहन ने देश-सेवा की दृष्टि से उस अपमान को हँसते हँसते सहन कर लिया। उन्होंने केवल इतना ही कहा, "भला यह भी कोई बात है? क्या मेरा नाम रहना कोई इतनी बड़ी चीज़ है कि जिसके लिए एक अच्छे काम को बिगाड़ा जाय?" अँग्रेजी शिक्षा को चलाने के विरुद्ध भी कुछ लोगों ने आन्दोलन अवश्य उठाया परन्तु वह आन्दोलन टिका नहीं।

कुछ ही समय में हिन्दू कालेज के छात्रगण पाश्चात्य शिक्षादीक्षा पाकर स्वेच्छाचारी हो गए। स्वाधीनता के नाम से उच्छृंखलता प्रारम्भ हुई। अभक्ष्य भक्षण, शराब पीना, खुले आम मुसलमानों की दूकान से मांस आदि खरीद कर खाना तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य सत्साहस के परिचायक माने जाने लगे। कलकत्ता नगर के इस छोटे से समाज-विप्लव के सहायक हुए — कालेज के ईसाई अध्यापकगण। इसी समय अठारहवीं सदी के फ्रान्सीसी विप्लवरूपी सागर-मन्थन से उद्भूत गरल को लेकर आए — एक प्रतिभाशाली शिक्षक

डी रोजियो। वे जाति में युरेशियन थे, धर्म में क्या थे कहना कठिन था। बिना किसी प्रकार की रोकटोक सभी तरह से व्यक्तिगत स्वाधीनता का उपभोग करना, यही था उनका मूलमंत्र।

दृढ़हृदय, शक्तिशाली शिक्षक डी रोजियो को नेता के रूप में पाकर हिन्दू कालेज के छात्रगण उत्साह से अधीर हो उठे। उनका आचार-व्यवहार धीरे धीरे समाज के सभी श्रेणी के लोगों के लिए असहनीय हो उठा। जो भी कुछ हिन्दू का या हिन्दुत्वपूर्ण है वही कुसंस्कार है,— इस अद्‌भुत धारणा को लेकर शराब को ही कुसंस्कार नष्ट करने का तथा चरित्र को उन्नत बनाने का एक प्रधान उपाय मानते हुए वे सुरापान में मस्त हुए। हिन्दू कालेज के सफल छात्रगण धीरे धीरे बंगाल के विभिन्न नगरों में जाकर अपने आदर्श का प्रचार करने लगे। इनका हठ-धर्म व उच्छृंखलता धीरे धीरे धीरता की सीमा पार कर गई। इस बीच में १८३० ई० में पादरी अलेक्जैण्डर डफ कलकत्ते में आए। राममोहन ने इनके लिए एक स्कूल खोल दिया। इससे पूर्व राममोहन के मित्र अडम साहब ने भी एक विद्यालय की स्थापना की थी। हिन्दू कालेज में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती थी। छात्रों के नैतिक चरित्र को भ्रष्ट होते देख राममोहन ने उनकी शिक्षा को धर्मानुगत करने की चेष्टा की। इसी समय राममोहन को कई कार्यों के लिए विलायत जाना पड़ा। भारतवर्ष से सर्वप्रथम हिन्दू सन्तान राममोहन विलायत गए— यह एक इतिहास-प्रसिद्ध घटना है और इसमें भी राममोहन के असीम साहस का परिचय पाया जाता है।

हिन्दू कालेज के छात्रों के ऐसे पैशाचिक आचार-व्यवहार को — अपनी बड़ी प्यारी पाश्चात्य शिक्षा के इस विषमय विकृत फल को देखकर राममोहन बड़े दुःखी हुए। उनके जीवन-चरित्रकार ने लिखा है*—

---

* "In his younger years, his mind had been deeply struck with the evils of believing too much, and against_that he

"उन्होंने (राममोहन ने) अपने प्रथम जीवन में स्वदेशवासियों की अत्यधिक विश्वासप्रवणता को देखकर हृदय में गम्भीर वेदना का अनुभव किया और इसके विरुद्ध अपनी सारी शक्ति को लगा दिया था। परन्तु बाद में वे समझने लगे थे कि स्वल्प विश्वास चाहे घोर घातक भले ही न हो, पर विपत्ति का कारण अवश्य हो सकता है। कलकत्ते में विशेष रूप से संगठित विनयशून्य युवकों के एक दल की बात वे अक्सर खेद के साथ कहा करते थे। इन युवकों में कोई कोई बुद्धिमान भी थे और पूरी तरह से सन्देहवादी हो उठे थे। वे कहा करते थे कि यह दल हिन्दू व फिरंगी युवकों के सम्मेलन से बना हुआ है। वे लोग नई शिक्षाप्रणाली के प्रभाव में आकर अपना धर्ममत तो छोड़ देते थे, परन्तु दूसरे किसी धर्म-मत को ग्रहण न करते थे। इस प्रकार किसी भी धर्म में विश्वासविहीन स्थिति एक कुसंस्कार वाले हिन्दू की स्थिति से भी अधिकतर शोचनीय है और इनका मतवाद किसी भी प्रकार की नैतिक उन्नति का विरोधी है। (राजा राममोहन राय का जीवन-चरित्र, लन्दन, १८३३—३४)

पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता की प्रबल लहरों के आघात से एक अति

---

directed all his energies; but, in his latter days, he began to feel that there was as much, if not greater, danger in the tendency to believe too little. He often deplored the existence of a party which had sprung up in Calcutta, composed principally of imprudent young men, some of them possessing talent, who had avowed themselves sceptics in the widest sense of the term. He described it as partly composed of East Indians, partly of the Hindu youths, who from education, had learnt to reject their own faith without substituting any other, these he thought more debased than the most bigoted Hindu, and their principles the bane of all morality." — Biography of Raja Ram Mohan Roy. London. 1833–34.

प्राचीन सभ्यता के वंशधर निस्सहाय होकर बह न जायँ तथा वे समयानुसार उपाय के अवलम्बन से अपने जातीय जीवन के आदर्श की रक्षा करते हुए जीवन-संग्राम में डटे रह सकें इसी महती सद्भावना की प्रेरणा लेकर राजा राममोहन ने धर्म और समाज के संस्कार का व्रत ग्रहण किया था। परन्तु अपने आरब्ध कार्य को भलीभाँति प्रतिष्ठित कर जाने का अवसर उन्हें अपने जीवन में न मिल सका। इसीलिए उनका आदर्श भलीभाँति परिस्फुट न हुआ।

दुर्भाग्यवश वे इंग्लैंड से लौट न सके। २७ नवम्बर १८३३ ई० को उनका देहान्त हो गया। उनकी संस्थापित 'ब्राह्म सभा' आचार्य रामचन्द्र विद्यावागीश की चेष्टा से जैसे तैसे टिकी रही! उस समय जो लोग राजा के साथी थे उनमें से कोई भी इस प्रचण्ड भावधारा को संचालित करने के लिए दृढ़ता से अग्रसर न हुआ। स्वामी विवेकानन्द राममोहन की शिक्षा के तीन मूल सूत्रों का निर्देश करते थे,—उनका वेदान्त-ग्रहण, स्वदेशप्रेम-प्रचार तथा उनकी हिन्दू और मुसलमानों से समान प्रीति। वे कहा करते थे कि इन सब बातों में राजा राममोहन राय की उदारता व दूरदर्शिता द्वारा जिस कार्यप्रणाली का श्रीगणेश हुआ था वे स्वयं केवल उसी के सहारे अग्रसर हुए हैं।

हिन्दू धर्म के संस्कार के लिए अग्रसर होकर राममोहन श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद की नींव पर खड़े हुए थे। उपनिषद व तंत्रादि शास्त्रों की प्रामाणिकता को जिस भाव से ग्रहण कर वेद को जिस प्रकार प्रधानता देकर राममोहन ने हिन्दू धर्म की व्याख्या की है उसके सम्बन्ध में कई प्रकार के मत-भेद रहते हुए भी यह बात विशेष दुःख के साथ कहनी पड़ती है कि उनके अनुयायियों ने उनके सिद्धान्तों को ठीक ठीक ग्रहण नहीं किया था, वे ग्रहण न कर सके। इधर यह भी साहस के साथ नहीं कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में राममोहन सभी दृष्टियों से अचूक सिद्धान्त पर पहुँचे थे। उनके रचित ग्रन्थों का एक तिहाई तो बिल्कुल लुप्त हो गया है और जो आज है

भी, उसकी निरपेक्ष भाव से आलोचना करने पर अर्थात् उसे बाद के ब्राह्म संस्कारकों के दृष्टिकोण से न देखने पर निम्नलिखित बातें समझ में आ जाती हैं—

(१) बंगाल के शाक्त व वैष्णव ये दो प्रधान सम्प्रदाय कालक्रम से कई भागों में विभक्त होकर बिगड़ गए थे, देश की साधारण जनता धर्म के नाम से केवल कुछ रिवाज व नियमों को बिना विचारे ही मानती थी। इसके अतिरिक्त छोटे छोटे सम्प्रदायों के आपस में एक दूसरे के साथ विरोध व विद्वेष का अन्त न था। वेदान्त के सहारे उन्होंने इन विभिक्त विच्छिन्न सम्प्रदायों को एकतामूलक एक दार्शनिक नींव पर लाने की चेष्टा की। परन्तु इस चेष्टा में राममोहन शाक्त व वैष्णवों के इतिहास, साहित्य, दर्शन, गुरु व अवतारवाद, मंत्र, साधना व सिद्धि के विषय में ठीक ठीक विचार नहीं कर सके। वैष्णव आदर्श को उन्होंने अश्लील बताकर एक प्रकार से उसकी अवहेलना ही की। स्वयं तंत्र के प्रति विशेष अनुरक्त होते हुए भी, तांत्रिक साधक के शिष्य होकर भी तथा तंत्रोक्त चक्रसाधना में शक्तिग्रहण व शैव विवाह का समर्थन करते हुए भी उन्होंने तंत्र के मातृभाव का परित्याग किया है।

(२) हिन्दू शास्त्रों का अध्ययन कर राजा ने सिद्धान्त किया था कि हिन्दू लोग धर्म के तत्व-निरूपण में उन्नति के चरम शिखर पर आरूढ़ होकर भी नीति की दृष्टि से अत्यन्त अवनत हैं। हिन्दू की धर्म-नीति से ईसाई धर्म-नीति उनकी दृष्टि में अधिकतर उपयोगी जँची। राजा खुले आम प्रचार करते थे कि हिन्दू जाति के पुनरुत्थान के लिए ईसाई नीति-मार्ग के पथिक होने के अलावा और कोई गति नहीं है।

(३) वेदान्तकथित निराकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना के प्रचार द्वारा राममोहन ने हिन्दू के साम्प्रदायिक विरोध को दूर करने की चेष्टा की थी।

(४) जाति-भेद, मांस खाने में अनिच्छा, बाल्यविवाह, बहुविवाह, मूर्तिपूजा, विदेश जाने में अनिच्छा, समुद्र-यात्रा को पाप मानना आदि राजा के मत में हमारे जातीय जीवन की अवनति के कारण हैं। और इन सभी

प्रथाओं के विरुद्ध अपनी कठोर लेखनी के प्रयोग में वे किसी प्रकार की आलोचना से भयभीत नहीं हुए।

(५) राजा ने देश में स्वाधीन चिन्ता व विचार-बुद्धि के विकास के उद्देश्य से अंग्रेजी शिक्षा को चलाने के लिए भरसक चेष्टा की थी। वे शिक्षा के द्वारा संस्कार के पक्षपाती थे। देश के नए विद्यालयों में गणित, पदार्थ-विज्ञान, रसायन शास्त्र, शरीर-विज्ञान इत्यादि विषयों के शिक्षण के लिए उन्होंने विशेष चेष्टा की थी। बंगला भाषा की गद्य रचना में अधिक उत्कृष्ट प्रणाली के अवलम्बन द्वारा मातृभाषा की उन्नति कराने में भी राममोहन का काफी हाथ था।

सारांश में राममोहन की सर्वतोमुखी प्रतिभा की प्रखर दृष्टि जातीय जीवन के सभी विभागों पर पड़ी थी। स्वधर्मानुराग तथा जातीयता-बोध के प्रथम पुरोहित राजा राममोहन ने ही सबसे पहले नव-जागरण के भेरी-निनाद से देश को जाग्रत होने के लिए पुकारा था। इतने पर भी इस महापुरुष की चिन्ता व चरित्र पर आज तक निरपेक्ष रूप से कोई चर्चा नहीं की गई। हम साहस के साथ कहेंगे कि ब्राह्म सुधारकों ने साम्प्रदायिक संकीर्णता के वशीभूत हो राममोहन के उदार सार्वभौम आदर्श के सम्बन्ध में इतनी भ्रमपूर्ण धारणा कर लेने का मौका दिया है कि आज बंगाल के इस महापुरुष को न जानने के दुर्भाग्य के बजाय भूल जाने का दुर्भाग्य ही अधिक है।

"आत्मा व परमात्मा के अभेद-चिन्तन-रूप मुख्य उपासना" को नींव मानकर राममोहन धर्म व समाज के संस्कार में प्रवृत्त हुए थे। कई प्रकार की त्रुटियों के मध्य में भी राममोहन भारत की सनातन साधना व सभ्यता के मर्म को समझने में सफल हुए थे और इसीलिए कुछ प्रचलित लोकाचार व अनुष्ठानों का प्रतिवाद करते हुए भी उन्होंने किसी नवीन धर्म या सम्प्रदाय की स्थापना न की। जो 'ब्राह्म धर्म' राममोहन के नाम की छाप लेकर इतने दिनों से चला आ रहा है उसके संस्थापक हैं महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर—

राजा राममोहन नहीं। देश में अभी तक कहीं कहीं इस प्रकार की भ्रमात्मक धारणा है कि राममोहन ही 'ब्राह्म धर्म' के प्रवर्तक हैं, इसीलिए इस विषय पर संक्षेप में थोड़ी बहुत चर्चा करना आवश्यक है।

१८४३ ई० के ७ पौष को महर्षि देवेन्द्रनाथ ने अपने बीस मित्रों के साथ ब्राह्म धर्म में दीक्षा ली। इस ब्राह्म धर्म का विकास राममोहन की इच्छा के अनुसार नहीं हुआ। ब्राह्म समाज के अन्यतम प्रचारक मनीषी स्वर्गीय बिपिनचन्द्र पाल महाशय राजा राममोहन व महर्षि के आदर्शों की समालोचना कर निम्नलिखित सिद्धान्तों पर पहुँचे हैं, —

"* * * राजा राममोहन ने शास्त्र की प्रामाणिकता का सम्पूर्ण रूप से त्याग नहीं किया। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने वेद का प्रामाण्य अस्वीकार कर केवल व्यक्तिगत विचार-बुद्धि को ही ऐकान्तिक रूप से सत्यासत्य व धर्माधर्म की मीमांसा को एक मात्र प्रमाण माना। राजा ने इस बात को कभी अस्वीकार नहीं किया कि धर्म की साधना में गुरु का भी एक विशेष स्थान है। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने जैसे शास्त्र को वैसे ही गुरु को भी छोड़कर प्रत्यक्ष आत्मशक्ति तथा अप्रत्यक्ष ब्रह्मकृपा के सहारे ही सिद्धि की सम्भावना को स्थापित किया। राजा ने धर्म के तत्वांग या साधनांग, किसी भी अंग में, भारतीय सनातन साधना के साथ अपने धर्मसंस्कार का प्राणगत योग सदा ही बनाए रखा। महर्षि ने एक प्रकार की स्वदेशीयता के विशेष पक्षपाती होते हुए भी वास्तव में इस सम्बन्ध की रक्षा नहीं की, और न करने की चेष्टा ही की। राजा ने वेदान्त के ऊपर ही अपने तत्व-सिद्धान्त की स्थापना की। महर्षि ने वास्तव में अठारहवीं ई० सदी के यूरोपीय युक्तिवाद पर ही अपने ब्राह्म धर्म को खड़ा किया। राजा ने वेदान्त द्वारा प्रतिपादित धर्म को ही ब्राह्म धर्म कह कर प्रचार किया। महर्षि ने उनके निजी 'आत्मप्रत्यय या स्वानुभूतिप्रतिपाद्य' धर्म की ही ब्राह्म धर्म के नाम से प्रतिष्ठा की।

"* * * इसमें सन्देह नहीं कि महर्षि के ब्राह्म धर्म-ग्रन्थों में केवल

उपनिषद के ही उपदेशों का उद्धरण व व्याख्या की गई है। परन्तु इन सब उध्दृत उपदेशों का प्रामाण्य वेदों के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है, बल्कि वह महर्षि की अपनी स्वानुभूति पर ही प्रतिष्ठित है। उपनिषद की जो श्रुतियाँ महर्षि को सत्य जँचीं, उन्हें छाँटछाँट कर उन्होंने अपने ब्राह्म धर्म-ग्रन्थों में रख दिया— ऋषियों ने सत्य के रूप में क्या प्रत्यक्ष किया था या जाना था, इसका अनुसन्धान उन्होंने नहीं किया। किसी श्रुति का उत्तरार्ध और किसी का पूर्वार्ध,— जिसका जितना अंश उन्हें अनुकूल मिला उतना ही उन्होंने काट छाँटकर अपने ब्राह्म धर्म-ग्रन्थ में जोड़ दिया। अतः महर्षि के ब्राह्म धर्म ग्रन्थों में अनेक श्रुतियों के उद्धरण रहते हुए भी वह ग्रन्थ उनका निजी है, इसका मतामत उन्हीं का है, प्राचीन ऋषियों का नहीं। संस्कृत श्लोकों का उद्धरण न देकर यदि वे इन मतामतों को बंगला भाषा में ही लिखते तो भी इसकी जितनी प्रमाणिकता रहती, उपनिषद के प्रमाण देने पर भी उससे अधिक प्रामाणिकता उसे प्राप्त न हुई।”

—‘पण्डित शिवनाथ शास्त्री व ब्राह्मसमाज’ से उध्दृत।

जो भी हो राजा के आदर्श के साथ काफी भेद रहते हुए भी ‘व्यक्तित्वाभिमानी योरोपीय युक्ति या तर्कवाद पर स्थापित ब्राह्म धर्म’ की स्थापना व प्रचार करने के लिए महर्षि ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। इस कार्य में उनके सहायक हुए प्रसिद्ध साहित्यिक बंग भाषा के अन्यतम निर्माता अक्षयकुमार दत्त व मनीषी राजनारायण बसु।

महर्षि देवेन्द्रनाथ प्रिन्स द्वारकानाथ ठाकुर के पुत्र थे। जोड़ासाँको के ठाकुर परिवार का कलकत्ते के धनी समाज में काफी मानसम्मान था। ऋणग्रस्त पैत्रिक सम्पत्ति जब महर्षि के संयम व उद्यम से ऋणमुक्त हो गई तो वे फिर से कलकत्ते के धनी समाज मे अग्रगण्य हो गए और उनकी आर्थिक सहायता व विशेष चेष्टा से ब्राह्म धर्म का प्रचार-कार्य चलने लगा। महर्षि के धनबल तथा जनबल की सहायता से ब्राह्म समाज ने थोड़े ही समय में शिक्षित समाज की दृष्टि को आकर्षित कर लिया था।

मूर्तिपूजा आदि क्रियाकाण्ड को त्यागने पर भी महर्षि वास्तव में समाज-संस्कार में प्रवृत्त न हुए थे, बल्कि हिन्दू समाज के साथ मेल की भावना की रक्षा करते हुए ही रक्षणशील, देवेन्द्रनाथ अपने नवीन धर्म के प्रचार में संलग्न हुए थे।

पादरी अलेक्जैण्डर डफ की अथक चेष्टा से हिन्दू कालेज के छात्रों में नास्तिकता का भाव धीरे धीरे कम होता जा रहा था। उन्होंने आशा की थी कि अब वे शिक्षित बंगालियों को ईसाई बना ले सकेंगे। ऐसे ही समय पर उनके संकल्प की सिद्धि के पथ में एक घोर विघ्न खड़ा हो गया और वह था —महार्षि द्वारा प्रचलित ब्राह्म धर्म। पादरी डफ की चेष्टा से इससे पहले ही डी रोजियो के शिष्यों में से महेशचन्द्र घोष, कृष्णमोहन बन्द्योपाध्याय, ज्ञानेन्द्र-मोहन ठाकुर आदि ईसाई बन चुके थे और उनका अनुसरण कर कई अनेक लोगों ने भी ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। इसी अवसर पर और कई व्यक्ति ईसाई बनने का सोच ही रहे थे कि ऐसे समय पर 'ईसा के स्वर्गराज्य में जाने का' द्वार बन्द करने के लिए खड़ा हो गया — ब्राह्म समाज। बस फिर से वेदान्त-युद्ध का श्रीगणेश हुआ। वेदान्त के पक्ष का समर्थन कर महर्षि की 'तत्वबोधिनी' पत्रिका में लेख प्रकाशित होने लगे। डफ साहब ने भी प्राणपण से अपने दलबल के साथ वेदान्त पर आक्रमण किया। इस आन्दोलन से कल-कत्ता नगरी डगमगा उठी। डफ साहब को हिन्दू धर्म व समाज के प्रति गलियों की वर्षा करते देख हिन्दू कालेज के नेताओं ने छात्रों पर डफ व डियेल्ट्री के व्याख्यान सुनने का प्रतिबंध लगा दिया। परिणाम में, काल की गति को रोकने में असमर्थ होकर पादरी डफ निराश हो १८६३ ई० में अपने देश को लौट गए।

१८५० ई० में अक्षयकुमार व राजनारायण के परामर्श से बाध्य होकर महर्षि ने वेद की अपौरुषेयता तथा अभ्रान्तता के सिद्धान्त का ब्राह्म समाज से परित्याग किया जिससे हमेशा के लिए ब्राह्म समाज हिन्दू धर्म से अलग हो गया। फिर भी इन्हीं लोगों की अथक चेष्टा से बंगाल के विभिन्न

स्थानों में ब्राह्म समाज की स्थापना हुई—समाज का काम अधिक व्यापक बन गया।

इस समय एक और शक्तिशाली पुरुष का बंगाली समाज में आविर्भाव हुआ—वे थे वीरसिंह ग्राम के मनीषी पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर। एक ओर परानुकरण के मोह को और दूसरी ओर आत्मविस्मरण को छोड़, विविध सद्गुणों से मण्डित इनके चिरस्मरणीय चरित्र में मनुष्यत्व की एक अत्युज्ज्वल मूर्ति विकसित हो उठी। बंग भाषा के निर्माता व पालक विद्यासागर, शिक्षा के प्रचार में व्रती विद्यासागर, दीनदरिद्र, दुःखी व आर्तों की सेवा में आत्मोत्सर्ग करने वाले विद्यासागर, सब से बढ़कर समस्त देश के समाज की दुर्गति व दुर्नीति को दूर करने का व्रत लिए हुए विद्यासागर की अतुलनीय कीर्ति कथा नव बंगाल के इतिहास की एक अक्षय सम्पत्ति है।

विद्यासागर ने लिखा है,—"विधवाओं का विवाह चलाना मेरे जीवन का सर्वप्रधान सत्कर्म है, इस जन्म में इससे बड़ा और कोई सत्कर्म मैं कर सकूँगा, इसकी सम्भावना नहीं है। इस बात के लिए मैं अपना सर्वस्व अर्पण कर चुका हूँ और आवश्यकता होने पर प्राणान्त करने से भी न चुकूँगा।"

बालविधवा के ब्रह्मचर्य तथा नारी के सतीत्व धर्म की महिमा के कीर्तन से मुखरित भारतभूमि में हतभाग्य अबला जाति पर युग युगान्तर से जो पैशाचिक अत्याचार हो रहा था उसके विरुद्ध जिस दिन विद्यासागर दण्डायमान हुए, "उस दिन देश के लोग विद्यासागर के प्राणनाश के लिए गुप्त षड्यंत्र कर रहे थे तथा देश के पण्डितगण शास्त्रों का मन्थन कर कुयुक्तियों की तथा भाषा का मन्थन कर कटु वचनों की वर्षा विद्यासागर के शिर पर कर रहे थे।"

परन्तु माता की पदधूलि व आशीर्वाद को शिर पर धारण कर पौरुष के प्रचण्ड अवतार विद्यासागर ने बालविधवाओं के दुःख को दूर करने का व्रत ग्रहण किया था। वे विचलित न हुए, क्षुब्ध न हुए,—"संस्कृत श्लोक तथा बंगला गाली के मिश्रित विकट कोलाहल" का खण्डन कर ब्राह्मण वीर

विजयी हुए। विधवा-विवाह को उन्होंने शास्त्रसम्मत प्रमाणित किया और उन्हीं की ऐकान्तिक चेष्टा के परिणाम में विधवा-विवाह कानून राजद्वार में स्वीकृत हो गया।

विगत शताब्दी के मध्य भाग में प्रचण्ड मार्तण्ड की तरह यह अकेला निस्संग महापुरुष आलोक तथा उत्ताप विकीर्ण कर, सारे समाज की अज्ञता, कट्टरपन व कुसंस्कार के साथ अविराम संग्राम कर, क्षुधित दुर्दशाप्रात रोगी के आँसू पोंछ कर, अकृतज्ञों के सभी उद्धत आचरणों के लिए उन्हें क्षमा करते हुए, 'अपने पुष्प जैसे कोमल तथा वज्र जैसे कठिन वक्ष में असहनीय वेदना के शल्य को लेकर अपने आत्मनिर्भरशील उन्नत व बलवान चरित्र के महान आदर्श को राष्ट्र के मानस-पट पर चिरकाल के लिए अंकित करते हुए बंगला सन १२९८ के १३ श्रावण को रात्रि में इहलोक से विदा हो गए।'

"हा भारतवर्षीय मानवगण! अभ्यास के दोष से तुम्हारी बुद्धि व धार्मिक प्रवृत्तियाँ इस प्रकार दूषित तथा विकल हो गई हैं कि हतभाग्य विधवाओं की दुर्दशा देखकर तुम्हारे चिरशुष्क हृदय में करुणा का संचार होना तक कठिन है —व्यभिचार के दोष में व भ्रूणहत्या के पाप के प्रबल स्रोत में देश को बहते देख भी तुम्हारे मन में घृणा के उदय होने की सम्भावना नहीं है। * * * तुम लोग समझते हो कि पति के मरने से ही स्त्री जाति का शरीर पत्थर का बन जाता है, दुःख उसे दुःख जैसा नहीं लगता और न यंत्रणा यंत्रणा जैसी। * * * हाय! कैसे शोक का विषय है! जिस देश की पुरुष जाति में दया नहीं, धर्म नहीं, न्याय-अन्याय का विचार नहीं, हिताहित का ज्ञान नहीं, सत् और असत् की विवेचना नहीं, केवल लौकिक आचार-रक्षा ही प्रधान कर्म व परम धर्म माना जाता है उस देश में हतभागिनी अबला जाति अब आगे जन्मग्रहण न करे।"

विधवा के दुःख से इतने अधिक महत्व की तथा ऐसी पौरुषयुक्त वाणी की गर्जना बंगाल में और कभी न हुई थी। जिस प्रकार एक दिन

शिवजी के जटाजूट से एकाएक निकली हुई जगत् को पवित्र करने वाली भागीरथी धराधाम में गिरकर अगणित धाराओं से मुक्ति लाई थी, उसी प्रकार एक दिन भारत की अभिशप्त नारी जाति व विधवा के अपमान तथा दुःख के ऊपर बंगाली विद्यासागर की महती दया का अभय आशीर्वाद करुणा-विगलित भावधारा के रूप में बरस पड़ा था।

"ईश्वरचन्द्र का हृदय लेकर हम सभी इस मर्त्यभूमि में नहीं आए हैं। बालविधवा के आँसू हमारे पाषाण-हृदय पर रेखा नहीं खींच सके। इसीलिए हम भण्डतापूर्ण ब्रह्मचर्य के कुत्सित आवरण से उस आँसू को पोंछना चाहते हैं। ईश्वरचन्द्र की वीरता विधवा का दुःख दूर करने में सफल न हुई, देशाचार की विजय अवश्य हुई है, परन्तु यही प्रकृति का विधान है। स्वाभाविक, सरल, छद्मवेषहीन मानवता इससे निस्सन्देह म्रियमाण होगी, परन्तु इसलिए दुःख-प्रकाश का कोई परिणाम न होगा, क्योंकि यही विधि का विधान है।" —बंगला १३०३ सन के भाद्रमास में बंगाल के अन्यतम मनीषी आचार्य, रमेन्द्र सुन्दर के इस हृदयभेदी विलाप की भी स्मृति इस प्रसंग में आ रही है।

बंगला के नवयुग की साधना व सिद्धि के मूर्त स्वरूप भगवान श्रीरामकृष्ण ने एक दिन विद्यासागर के पास आकर कहा था, "इतने दिन नाला, गढ़ा व तालाव देखा है, आज समुद्र देखने को मिला।" वास्तव में विद्यासागर मनुष्यत्व के महासागर थे। कविकुलगुरु रवीन्द्रनाथ की भाषा में "विद्यासागर जैसे व्यक्ति ने चारों ओर के उपेक्षारूपी पाषाणखण्डों से बार बार टकराते हुए अपने कर्मसंकुल जीवन को मानो चिरकाल व्यथापूर्ण क्षुब्धता के साथ इसलिए बिताया है कि वे पारमार्थिकता से भ्रष्ट हुए बंगाल में पैदा हुए थे। वे मानो सैन्यविहीन विद्रोही की तरह अपने चौमुखी वातावरण की परवाह न करते हुए जीवन के अन्त तक जयध्वजा को अपने कन्धे पर अकेले उठाते रहे। उन्होंने न किसी को पुकारा, और न किसी ने उन्हें सुना। परन्तु

बाधा थी पग पग पर। * * * वे जिस शवसाधना में प्रवृत्त हुए थे उसके उत्तर साधक भी वे स्वयं ही थे।"

१८५९ ई० में केशवचन्द्र सेन (१८३८-८४) ब्राह्म समाज में सम्मिलित हुए। संस्कार-युग के एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ हुआ। देवेन्द्र-नाथ के पुत्र सत्येन्द्रनाथ ठाकुर थे केशव के सहपाठी; वे ही केशव को ब्राह्म समाज में लाए थे। इस इक्कीस वर्ष के नवयुवक ने अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा तथा भाषण-पटुता के बल पर बड़ी ही सरलता से नवीन ब्राह्मों का नेतृत्व प्राप्त किया। इस समय हिमालय से महर्षि देवेन्द्रनाथ के लौट आने पर गुरु और शिष्य का साक्षात्कार हुआ (१८६३)। महर्षि ने केशवचन्द्र को 'ब्रह्मानन्द' नाम देकर अपने सहकर्मी, पुत्र तथा प्रियतम शिष्य के रूप में ग्रहण कर लिया।

कुलगौरव तथा धनगौरव की दृष्टि से केशवचन्द्र की तुलना राममोहन या देवेन्द्रनाथ से नहीं की जा सकती थी। अंग्रेजों के राज्य में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति आकृष्ट नवीन शिक्षा में शिक्षित मध्य-श्रेणी की सन्तान केशवचन्द्र की चिन्ता, चरित्र व रुचि उपरोक्त दो पूर्ववर्तियों से सम्पूर्ण रूप में पृथक् थीं। सोलह वर्ष की उम्र में राममोहन ने इस्लाम धर्म के प्रति आकृष्ट होकर हिन्दुओं की मूर्तिपूजा पर आक्रमण किया था और नवयुवक केशवचन्द्र ईसाई धर्म तथा पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता के आदर्श तथा भावधारा से अनुप्रणित होकर ब्राह्म धर्म व समाज को उसी आदर्श के अनुसार चलाने के लिए तैयार कर रहे थे। राममोहन तो दूर रहे, वे देवेन्द्रनाथ की तरह भी संस्कृत भाषा न जानते थे। उस समय वे वेद-वेदान्त अथवा शास्त्रादि से बिल्कुल अपरिचित थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ जिसे स्वागत कर लाए उसे अपने भाव से अनुप्राणित न कर सके। मनीषी बिपिनचन्द्र ने कहा है, "शास्त्र के पुराने अधिकार के विरुद्ध विचार-विवेचना के अधिकार की स्थापना, गुरु के प्राचीन अधिकार के विरुद्ध असं-स्कृत व असिद्ध स्वमत के अधिकार की स्थापना, सामाजिक विधि-निषेध

आदि के विरुद्ध व्यक्तिगत रुचि व प्रकृति की संस्थापना यही केशवचन्द्र के प्रथम जीवन में कर्मचेष्टा के मूल सूत्र थे।"

महर्षि देवेन्द्रनाथ के आत्मविश्वास व स्वाभाविक ज्ञान पर स्थापित ब्राह्म धर्म की साधना, तथा समाज-संस्कार के क्षेत्र में डेविड हेअर व डी रोजियो का अठारहवीं सदी का पाश्चात्य अन्य-निरपेक्ष व्यक्तिस्वातंत्र्य-वाद — इन दोनों धाराओं को आत्मस्थ करके केशव व उनके साथी ब्राह्म समाज को पाश्चात्य समाज के आदर्श पर गढ़ने के लिए सचेष्ट हुए। रक्षणशील व मध्य-पन्थी ब्राह्म समाज के नेता देवेन्द्रनाथ केशवचन्द्र और उनके साथियों को वश में लाने के लिए व्यर्थ में चेष्टा करने लगे। परन्तु उस समय केशवचन्द्र का प्रभाव व सम्मान केवल ब्राह्म समाज तक ही सीमित न था। उस समय के अंग्रेजी शिक्षित 'उदार' हिन्दू और विशेष करके कालेज के छात्रगण उनके अनुयायी हो गए। केशव की थी असाधारण भाषणपटुता। अंग्रेजी भाषा में भाषण देने में उनकी बराबरी का और कोई न था। उनका भाषण सुनकर उच्च पदाधिकारी अंग्रेज तक उनकी प्रशंसा किया करते थे और उनका आदर करते थे — जन-समाज में उनकी ख्याति अतुलनीय थी। कलकत्ते के अंग्रेजी शिक्षित समाज पर केशवचन्द्र के असाधारण प्रभाव का कारण उनकी भाषण-पटुता ही थी। श्रेष्ठ वक्ता केशवचन्द्र के भाषणों की आँधी से कलकत्ता नगरी विक्षुब्ध हो उठी। कृष्णनगर में इसकी प्रतिध्वनि उठी, उस समय ऐसे बहुत ही कम शिक्षित युवक थे जो उनकी प्रतिभा से प्रभावित न हुए हों। इनमें से कई तो खुले आम ब्राह्म समाज में सम्मिलित हुए और कई थोड़े बहुत ब्राह्म-भावापन्न हुए।

स्त्री-स्वाधीनता, असवर्ण विवाह, खान-पान में पुराने विधि-निषेधों का उल्लंघन, उपवीतहीन तथा अब्राह्मण आचार्यों द्वारा ब्राह्म समाज की उपासना आदि संस्कारों के प्रस्ताव के साथ ईसाई धर्म के प्रति अत्यधिक प्रीति व ईसाई नीतिवाद के प्रति आकर्षण को सम्मिलित कर केशव-परिचालित ब्राह्म समाज

जिस पथ पर चलना चाहता था सामाजिक व्यवहार में रक्षणशील देवेन्द्रनाथ के लिए उसे सम्पूर्ण रूप से मानकर चलना असम्भव हो उठा। विद्रोही तथा पुत्रतुल्य केशवचन्द्र के युक्तिरूपी बाणों की वर्षा को धीर भाव से सहन कर महर्षि अटल रहे। इस विच्छेद के बारे में रवीन्द्रनाथ ने कहा है:—

"प्रत्येक व्यक्ति जिस समय अपनी प्रकृति के अनुसार पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है उस समय वह मनुष्यत्व प्राप्त करता है—साधारण मनुष्यत्व व्यक्तिगत विशेषत्व पर ही निर्भर है। मनुष्यत्व हिन्दू में या ईसाइयों में वास्तव में एक ही है। फिर भी हिन्दू विशेषत्व, 'मनुष्यत्व' की एक विशेष सम्पत्ति है तथा ईसाई विशेषत्व भी 'मनुष्यत्व' का विशेष लाभ है। इनमें से किसी को भी पूर्ण रूप से छोड़ने पर 'मनुष्यत्व' हीनता को प्राप्त हो जाता है। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ धन है वह भी सार्वभौमिक है, तथा यूरोप का जो कुछ श्रेष्ठ धन है वह भी सार्वभौमिक है, फिर भी भारतीयता व यूरोपीयता इन दोनों में स्वतंत्र सार्थकता है और इसीलिए इन दोनों को एक नहीं किया जा सकता। * * * नवीन ब्राह्म समाज ने जिस समय पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव में आकर इस बात को भुला दिया, जिस समय धर्म के स्वदेशी रूप की रक्षा को वह संकीर्ण समझने लगा, जिस समय उसने यह मान लिया कि विदेशी इतिहास का फल भारतीय शाखा में पैदा करना सम्भव है तथा इसी चेष्टा में वास्तविक उदारता की रक्षा होती है उस समय पितृदेव (महर्षि) ने सार्वभौमिक धर्म के स्वदेशी स्वरूप को एक मिश्रित एकाकारत्व के बीच डुबो देने से इन्कार कर दिया। इससे उनके अनुवर्ती असाधारण प्रतिभाशाली धर्मोत्साही अनेक तेजस्वी युवकों के साथ उनका विच्छेद हो गया।"

हमने पहले ही कहा है, महर्षि और केशवचन्द्र की शिक्षा व प्रकृति में काफी अन्तर था,—घात-प्रतिघात के परिणाम में यही अन्तर विच्छेद के रूप में प्रगट हुआ और वह भी एक साधारण घटना को निमित्त बना कर,—अर्थात् महर्षि ने जब जनेऊधारी आचार्यों को वेदी के काम से भगा देने से

इन्कार कर दिया तब गुरु देवेन्द्रनाथ की उपेक्षा करते हुए ही ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र ने अपना अलग दल बना लिया। १८६६ ई० में ब्राह्म समाज दो भागों में बँट गया। महर्षि के समाज का नाम पड़ा 'आदि समाज' तथा केशव, विजयकृष्ण आदि ने जिस नूतन समाज की स्थापना की उसका नाम पड़ा 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज'। इस नवीन समाज ने यूरोप की ईसाई प्रणाली में समाज को ढालने की चेष्टा करते हुए जातिभेद की प्रथा को उठा दिया, असवर्ण विवाह की प्रथा चालू की और इस प्रकार के विवाह को कानून द्वारा स्वीकृत कराने के लिए प्रबल आन्दोलन खड़ा किया। १८७२ ई० के तीसरे कानून के अनुसार एक प्रकार से असवर्ण विवाह राजदरबार में कानून की दृष्टि से स्वीकृत हुआ। केशव द्वारा परिचालित इस नवीन समाजसंस्कारक आन्दोलन के ब्राह्म प्रचारकगण रक्षणशील प्राचीन समाज पर आक्रमण करते हुए भाषण आदि देने लगे। इधर ब्राह्म समाज की धार्मिक साधना भी भिन्न रूप की बनी। केशव की ईसाईधर्म-प्रीति से पाप का बोध, पाप से भय, पश्चात्ताप, भाव के आवेश में रोना आदि को ब्राह्म साधकगण आध्यात्मिक उन्नति के सहायक मानने लगे।

निराकार व एकाकार की इस विलायती परिपाटी की नकल करते हुए प्राचीनपन्थियों ने 'हरिसभा', 'धर्मसभा' आदि की स्थापना द्वारा 'हिन्दुत्व' की रक्षा के लिए यथेष्ट प्रयत्न किया। इस हिन्दू आन्दोलन के पीछे कोई आन्तरिक आवेग न था। भरपेट भोजन, संकीर्तन, दान, पैसा देकर व्याख्याताओं को बुलाकर भाषण दिलाना — बस धर्म का चूड़ान्त हो गया। बारह वर्ष के बच्चे भी 'हरिसभा' की वेदी से हरिभक्ति की महिमा के सम्बन्ध में भाषण देते थे और दर्शकगण ताली बजाकर उन्हें आकाश पर चढ़ा देते थे। एक ओर ब्राह्म समाज की वेदी से आचार्य तथा उपाचार्यगण हिन्दुओं के धर्म तथा समाज के शिर पर अग्निमय अभिशापों की वर्षा कर रहे थे और उधर कट्टरपन्थियों का दल घोर अश्लील कविताओं द्वारा तथा कहानियाँ लिख-

कर ब्राह्म समाज की दिखावटी साधुता का बड़ी बुरी भाषा में प्रतिवाद करने लगा। इस वाद-प्रतिवाद के परिणाम में एक श्रेणी के निन्दनीय कुरुचिपूर्ण साहित्य की सृष्टि हुई जो बंग-साहित्य के ललाट पर एक अमिट कलंक है।

नवीन नागरिक सभ्यता की केन्द्रभूमि कलकत्ता जिस समय इन सब प्रबल संस्कारी आन्दोलनों की क्रिया-प्रतिक्रिया से विक्षुब्ध हो रहा था तथा समग्र बंगाल कातर हो रहा था उस समय इस नगर के निकट दक्षिणेश्वर में राणी रासमणि के काली-मन्दिर में एक अप्रसिद्ध व अज्ञात पुजारी ब्राह्मण भारत के सर्वकल्याणकारी पारमार्थिक आदर्श का विकृति व विस्मृति से उद्धार करने के लिए साधना में संलग्न थे। वे थे भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस देव।

हुगली जिले के एक सुदूरवर्ती गांव कामारपुकुर में एक निर्धन ब्राह्मण वंश में १७ फरवरी सन् १८३६ ई० को इन्होंने जन्म लिया। पिता के देहान्त के बाद ये अपने बड़े भाई के साथ कलकत्ता चले आए थे। उद्देश था कुछ विद्याभ्यास करके जीविकोपार्जन करना। बड़े भाई की एक संस्कृत पाठशाला थी और वे एक पण्डित तथा उदार हृदय के ब्राह्मण थे। विद्याभ्यास में प्रवृत्त होकर एकाएक बालक रामकृष्ण ने सोचा कि इस लौकिक विद्या की क्या आवश्यकता है ? सांसारिक उन्नति ? प्राचीन युग के ऋषियों की तरह उन्होंने सोचा, जो कुछ अमृत नहीं है उसे लेकर मैं क्या करूँगा ? वे लिखना पढ़ना छोड़ पारमार्थिक ज्ञान-प्राप्ति का उपाय खोजने लगे। इसी समय कलकत्ते की धनशालिनी व धर्मप्राणा महिला रानी रासमणि ने काफी धन खर्च कर दक्षिणेश्वर में एक मन्दिर की प्रतिष्ठा की। बड़े भाई के निर्देश पर निर्वाह के लिए श्रीरामकृष्ण ने माता आनंदमयी के पुजारी का पद ग्रहण किया। सरलहृदय तरुण पुरोहित प्रतिदिन नियमित पूजा करते और सोचते थे, क्या वास्तव में कोई जगन्माता हैं ? क्या वास्तव में वे विश्व-ब्रह्माण्ड को नियंत्रित कर रही हैं? जगन्माता की प्रत्यक्ष उपलब्धि की आशा से तन्मय साधक ने बाह्य जगत् को भुला दिया — दिन बीता, महीना बीता, वर्ष भी कई बार घूम-फिर गए.

अर्धोन्मत्त रामकृष्ण दिव्य भाव में विभोर गंगा के पश्चिम किनारे अस्तगामी आरक्त सूर्य की ओर ताकते हुए कातर-कण्ठ से कहते — " माँ, एक और दिन भी तो व्यर्थ हुआ, — तुम्हारा दर्शन तो नहीं मिला ! " धीरे धीरे मृण्मयी देवी ने चिन्मयी रूप में दर्शन दिया। फिर से माता के निर्देश पर सन्तान की साधना चली। दक्षिणेश्वर में आए हुए सभी मतों के सभी पंथों के साधकगण, सिद्ध महापुरुषगण आकर उनके साथ सम्मिलित हुए। भैरवी ब्राह्मणी ने आकर उनसे तंत्रोक्त साधना करायी, तोतापुरी ने आकर वेदान्त के अद्वैत ब्रह्म-सत्य की शिक्षा दी, लोकदुर्लभ निर्विकल्प समाधि में सत्य लाभ कर भगवान श्रीराम-कृष्ण ने उसके प्रचार के लिए सभी से पुकारकर कहा, " ओ रे, तुम कौन कहाँ हो, चले आओ ! "

अन्त में एक दिन संस्कार-युग के नेता केशवचन्द्र के साथ श्रीरामकृष्ण का साक्षात्कार हुआ। एक अचिन्तनीय घटना घटी, मूर्तिपूजा-विरोधी केशव मूर्ति-पूजक ब्राह्मण की वाणी का प्रचार कर अपने पत्र में लिखने लगे, " यदि शान्ति चाहते हो, तो दक्षिणेश्वर के महापुरुष के चरणों के पास बैठकर धन्य बनो। " यह आश्चर्यजनक है, परन्तु है सत्य। केशवचन्द्र, प्रतापचन्द्र मुजुमदार, विजयकृष्ण आदि ब्राह्म धर्म के धुरन्धर व्यक्ति इस महापुरुष के प्रभाव से प्रभावित हो उठे और इन्हीं लोगों के प्रचार के परिणामस्वरूप कलकत्ते का शिक्षित समाज श्रीरामकृष्ण देव के सम्बन्ध में जान सका था।

१८७९ ई० के 'Theistic Quarterly Review' के अक्टूबर अंक में नवविधान समाज के प्रचारक प्रतापचन्द्र मुजुमदार महाशय ने श्रीरामकृष्ण सम्बन्धी एक बड़े निबन्ध में लिखा था — " मेरा मन अभी तक एक ऐसे उज्ज्वल ज्योतिर्मय वातावरण में घूम रहा है जिसे वह अद्भुत महापुरुष जहाँ जाते हैं वहीं अपने चारों ओर फैलाए रहते हैं। जब भी उनके साथ साक्षात्कार होता है, वे जिस अनिर्वचनीय रहस्यपूर्ण भाव द्वारा मेरे हृदय को परिपूर्ण कर देते हैं, उसके प्रभाव से मेरा मन अभी तक मुक्त न हो सका।

"उनमें और मुझमें क्या सादृश्य है? मैं—यूरोपीय भावापन्न, सभ्य, आत्माभिमानी, अर्धसन्देहवादी, तथाकथित शिक्षित युक्तिवादी हूँ; और वे—धनहीन, निरक्षर, अमार्जित-रुचि, अर्धपौत्तलिक, मित्र-विहीन हिन्दू भक्त हैं। क्यों मैं उनकी बात सुनने के लिए घण्टों बैठा रहता हूँ? मैं—जो डिसराइल फासेट, स्टेन्ली, मैक्समुलर तथा पाश्चात्य जगत् के सभी विद्वान व धर्मप्रचारकों के उपदेश सुन चुका हूँ, मैं—जो ईसामसीह का एकान्त भक्त तथा अनुचर हूँ, उदारहृदय ईसाई मिशनरियों का मित्र व समर्थक हूँ, युक्ति-पंथी ब्राह्म समाज का अनुगत भक्त व कर्मी हूँ, क्यों मैं उनकी वाणी सुनता हुआ मंत्र-मुग्ध की तरह रह जाता हूँ? और अकेला मैं ही नहीं, मेरी तरह अनेक और व्यक्ति भी इसी प्रकार हो जाते हैं। * * *

"परन्तु जितने दिन वे हमारे निकट जीवित हैं, हम आनंद के साथ उनके श्रीचरणों के पास बैठकर उनसे पवित्रता, वैराग्य, संसार के प्रति अनासक्ति, आध्यात्मिकता तथा भगवत्प्रेमोन्मत्तता के सम्बन्ध में अत्युच्च उपदेशों की शिक्षा ग्रहण करेंगे।"

मुजुमदार महाशय ने उपरोक्त शब्दों में आत्मपरिचय देते हुए सरल भाव से जो राय प्रगट की है, उसे पढ़कर यह समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती कि ब्राह्म समाज पाश्चात्य भाव से कितना अधिक प्रभावित तथा अनुप्राणित हुआ था और इसीलिए श्रीरामकृष्ण के चारित्र व साधना का प्रभाव पहले पहल ब्राह्म समाज पर पड़कर परानुकरण के मोह को काफी मात्रा में दूर करने के लिए कारणीभूत हुआ था। इसीलिए एक जीती जागती जाति की युग-युगान्तरों की चिरपोषित आशा व आदर्शसमूह की जीवन्त मूर्ति के रूप में उस समय के बंगाली समाज ने चकित दृष्टि से ताककर देखा,—दक्षिणेश्वर काली-मन्दिर में, भागीरथी के तट पर, पंचवटी के मूल में बैठे हुए शक्तिसाधक,—निर्विकल्प समाधि में मग्न महायोगी, भक्त-चूड़ामणि—वैष्णव, शाक्त, ईसाई, मुसलमान आदि विभिन्न प्रणालियों से

धर्म-साधना में सिद्ध पुरुष —— भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस देव को, जिनके सम्बन्ध में परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द ने कहा है,——

"कालक्रम से सदाचारभ्रष्ट, वैराग्यविहीन, एकमात्र लोकाचारनिष्ठ, क्षीणबुद्धि आर्यसन्तानों ने * * * वेदान्त के सूक्ष्म तत्वों को स्थूल रूप में प्रचार करने वाले पुराणादि तंत्रों के भी मर्म को ग्रहण करने में असमर्थ होकर अनन्त भावों की समष्टिरूप अखण्ड सनातन धर्म को अनेक खण्डों में विभक्त कर, साम्प्रदायिक ईर्ष्या-द्वेष व क्रोध की आग को भड़का कर उसमें एक दूसरे की आहुति देने के लिए सचेष्ट रहते हुए जिस समय इस धर्मभूमि भारत-वर्ष को प्रायः नरकभूमि में परिणत कर दिया था उस समय आर्य-जाति का वास्तव धर्म क्या है तथा सदा आपस में लड़ने वाले, ऊपर से कई भागों में विभक्त प्रतीत होने वाले, एक दूसरे के सर्वथा विपरीत आचार-विचार वाले सम्प्रदायों में बँटे हुए, स्वदेशियों के लिए भ्रम तथा विदेशियों के लिए घृणा के पात्र हिन्दू धर्म नाम के युग-युगान्तरों से विखण्डित तथा देशकाल के प्रभाव से इतस्ततः विक्षिप्त धर्मखण्ड-समूह के बीच वास्तविक एकता कहाँ है, इसे दिखाने के लिए,—तथा कालप्रवाह में विनष्ट इस सनातन धर्म के के सार्वलौकिक व सार्वभौमिक स्वरूप को अपने जीवन में समाहित करके सनातन धर्म के जीवन्त उदाहरण के रूप में लोकहित के लिए सभी के सामने निज जीवन को प्रदर्शित करने के लिए भगवान श्रीरामकृष्ण अवतीर्ण हुए हैं।"

१८७५ ई० के प्रथम भाग में श्रीरामकृष्ण के साथ केशव की भेंट हुई। भक्त केशवचन्द्र उन्हें देखते ही श्रद्धासम्पन्न हो गए और उनके धर्म-जीवन में एक विचित्र परिवर्तन आ गया। ईसाई धर्म का बखान करने वाले केशवचन्द्र भारत की वैराग्यमूलक साधनों के प्रति आकृष्ट हुए—उन्होंने शारीरिक कठोरता, स्वपाक-भोजन आदि प्रारम्भ कर दिया, यहाँ तक कि हिन्दू देव-देवियों की आध्यात्मिक व रूपक व्याख्या करके भाषण आदि भी देने लगे। युक्तिपंथी ब्राह्मगण केशवचन्द्र की भक्ति की अधिकता, उनका ईसा

के प्रति अधिक झुकाव, विशेष साधनभजन तथा योग, ध्यान आदि नापसन्द करते थे। इस पर ईश्वर के प्रत्यादेश के अनुसार जब वे नवविधान का प्रचार करने लगे तब चरम-पंथी ब्राह्मगण केशव का अनुसरण न कर सके। 'भारत-वर्षीय ब्राह्म समाज' में गृहविवाद का सूत्रपात हुआ। अन्त में १८७८ ई० में केशव की अल्पवयस्क कन्या के साथ कूचबिहार के महाराजा का विवाह हुआ। उक्त विवाह के उपलक्ष्य में केशव अपने ही द्वारा रचित ब्राह्म-समाज के नियमों की मर्यादा की रक्षा न कर सके, बल्कि उनको बाध्य होकर हिन्दू मत के अनुसार कन्या का सम्प्रदान करना पड़ा था। इससे ब्राह्म समाज में एक विराट आन्दोलन खड़ा हुआ। उस समाज का एक दल केशवचन्द्र को संचालक व आचार्य के पद से अलग करने के लिए सचेष्ट हुआ। इस वाद में लज्जाजनक आत्मदुर्बलता को प्रकट कर ब्राह्म समाज फिर से दो भागों में विभक्त हुआ। प्रतिवादकारी ब्राह्मों ने विजयकृष्ण, शिवनाथ आदि नेताओं को सामने रखते हुए 'साधारण ब्राह्म समाज' की स्थापना की।

साधारण ब्राह्म समाज के नायकगण केशव के शीघ्र ही बदलने वाले धर्ममत की तीव्र आलोचना करने लगे। गृह-विवाद से चिन्तित रह कर भी केशव अपने 'नवविधान' का प्रचार करते रहे। श्रीरामकृष्ण के बताए हुए 'सभी धर्म सत्य हैं' तथा 'जितने मत उतने ही पथ' इत्यादि वाक्यों को आंशिक रूप में हृदयंगम कर वे हिन्दू, ईसाई, बौद्ध आदि धर्मशास्त्रों के अनु-सार अपने शिष्य व अनुयायियों को नई नई साधना के पथ प्रदर्शित करने लगे।

'नवविधान' समाज में केशव ने परमहंस देव के आदर्श पर 'माँ' का नाम चला दिया और स्वयं भी मातृभाव से भगवान की साधना में अग्र-सर हुए। मातृभाव में भगवान की उपासना केशव बाबू ने परमहंस देव से प्राप्त की थी। इसी विषय पर बहुत दिनों के बाद उक्त समाज के प्रचारकगणों ने निषेधसूचक लेख आदि लिखे थे। प्रोफेसर मैक्समूलर द्वारा रचित श्रीराम-कृष्ण-जीवनी में केशव के धार्मिक जीवन में परिवर्तन, उन्नति तथा साधनादि

की आकांक्षा का प्रधान कारण उक्त महापुरुष ही बताए गए हैं। इस पर उन प्रचारकगणों की यह भावना हुई कि उनके 'आचार्य' का स्थान छोटा किया गया है। अतएव वे लेख तथा पुस्तकें लिखकर यह उलटा प्रचार करने लगे कि श्रीरामकृष्ण परमहंस ही केशव के शिष्य बनकर धर्म-जीवन में उन्नति कर सके थे इत्यादि इत्यादि। केशव के परवर्ती काल के शिष्यगण शायद न जानते हों कि उन्हीं में से एक व्यक्ति, 'नवविधान चर्च' के अन्यतम मिशनरी बाबू गिरीशचन्द्र सेन महाशय ने बहुत समय पूर्व लिखा था:—

"भगवान के मातृभाव सम्बन्धी भाव ब्राह्म समाज ने परमहंस देव की जीवनी से प्राप्त किए हैं। विशेष कर हमारे आचार्य केशवचन्द्र सेन ने उनसे ईश्वर को माँ कहकर पुकारना तथा उससे शिशु की सरलता व अभिमान के साथ हठपूर्वक माँगना सीखा था। इससे पूर्व ब्राह्म धर्म ज्ञानप्रधान व शुष्क तर्क-युक्तिओं से पूर्ण था। परमहंस देव के जीवनादर्श ने ब्राह्म धर्म से शुष्कता को दूर कर उसे अधिकतर प्रिय तथा भक्तिमय बनाया था।"

—धर्मतत्व, १ आश्विन, १८०९ शकाब्दी।

उदार भाव, सार्वजनीन धर्म इत्यादि के बहाने ब्राह्म समाज में जो लज्जाजनक दलबन्दी शुरू हुई, उससे ब्राह्म धर्म का प्रभाव विशेष रूप से घट गया।

उधर १८७० ई० से ब्राह्म समाज के विरुद्ध सनातनपंथियों का आन्दोलन सफल होने लगा। इनमें प्रचारक श्रीकृष्णप्रसन्न सेन महोदय की चेष्टा, भाषण-शक्ति व कर्मोत्साह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नगर नगर में घूम घूम कर ये परिव्राजक संन्यासी सनातन धर्म का प्रचार करते हुए ब्राह्मभावापन्न शिक्षित व्यक्तियों को फिर से अपने धर्ममत में लाने लगे जिसे देखते हुए ब्राह्म प्रचारकगण हतोत्साह हो गए। पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि के हिन्दू शास्त्रों पर व्याख्यानों ने भी कलकत्ता नगर में कम क्षुब्धता पैदा नहीं की। इससे पूर्व शोभा बाजार के राजा कमलकृष्ण बहादुर द्वारा स्थापित 'सना-

तन धर्मरक्षिणी सभा' भी नवीन शक्ति के साथ उठ खड़ी हुई थी। प्राचीन शास्त्रों की व्याख्या, सात्विक आचार-व्यवहार की स्थापना तथा हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में भाषण, विचारविमर्श व प्रबन्ध-पाठादि होने लगे। इस समय से ही देश के शिक्षित समाज पर ब्राह्म समाज का प्रभाव घटने लगा। स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ बन्दोपाध्याय तथा स्वर्गीय आनंदमोहन बसु की चेष्टा से राजनीतिक आन्दोलन भी भलीभाँति उठ खड़ा हुआ और केशव का १८६०-६६ ई० का 'यंग बंगाल' उसी ओर झुक पड़ा। तथाकथित धर्म व समाज-संस्कार के द्वारा राष्ट्रीय समस्याओं के हल करने में असमर्थ होकर शिक्षित व्यक्तिगण राजनीति की सहायता से उनकी मीमांसा करने के लिए तैयार हो गए।

ऐसे ही समय—"उन्नीसवीं सदी के शेष भाग में—जब हम संस्कार के स्रोत में पड़कर यह नहीं समझ रहे थे कि किधर जाएँ, पाश्चात्य की प्रखर चकाचौंध से जब हमारी आँखें चौंधिया रही थीं, जब समस्त राष्ट्र का दिग्भ्रम होने जा रहा था, जब राष्ट्र के सामने प्रश्न के बाद प्रश्न, सन्देह के बाद सन्देह धीरे धीरे एकत्रित होते जा रहे थे, विजातियों के पथ पर जब स्वजाति का संस्कार-रथ चलने में असमर्थ होकर रुक सा गया था, एक दीर्घ शताब्दी के संस्कार के परिणाम को सोचकर जब हम एक तरह से निराश से होकर बैठ गए थे, आगे 'क्या करें' यह सोच न सके थे उस समय संस्कार की उस आँधी द्वारा आलोड़ित व मथित बंगाली समाज के गर्भ से आविर्भूत हुए—स्वामी विवेकानन्द!"

संस्कार-युग के प्रवर्तक राममोहन की बात अगर छोड़ दी जाय तो आज तक उनके परवर्ती संस्कारकों ने ध्वंसनीति का अनुसरण करते हुए शक्ति का इतना अधिक क्षय किया कि संगठन या निर्माण उनके लिए असम्भव व असाध्य हो गया, यहाँ तक कि अन्त में तोड़ने के प्रबलतम आग्रह से वे आत्मशरीर तक को तीन भागों में विभक्त कर शक्तिहीन व दुर्बल हो गए।

अनुदार धर्ममत का प्रचार, पाश्चात्य सभ्यता का अन्ध अनुकरण तथा प्राचीन समाज व धर्म के मस्तक पर अकारण अभिशापों की बौछार परवर्ती काल के शक्तिहीन, दुर्बल संस्कारकों का एक मात्र पेशा हो गया। अन्य कई गम्भीर कारणों के साथ विशेष रूप से इन सब कारणों से ऊब कर विजयकृष्ण गोस्वामी ब्राह्म समाज की सीमा को छोड़ विश्व-वैकुण्ठ के पथ पर निकल पड़े। ब्राह्म समाज ने काफी सोच-विचार के बाद उनका नाम काट दिया।

गत शताब्दी के सुधारकों में से किसी किसी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी साधारण रूप से विवेकानन्द ने संस्कार या सुधार-युग में कुछ विशेष श्रद्धास्पद नहीं पाया। विवेकानन्द ध्वंस के विरोधी थे। उनका मूल मंत्र था—संगठन। इधर यदि ऐसा कहा जाय कि संस्कारकों या सुधारकों के आदर्श में संगठन का प्रसंग था ही नहीं तो यह भी ठीक न होगा और साथ ही यह भी कहना मिथ्या होगा कि विवेकानन्द के आदर्श व कार्य-प्रणाली में बुराइयों को दूर करने की चेष्टा न थी। फिर भी स्वामी विवेकानन्द ब्राह्म संस्कार-युग के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिवाद के रूप में खड़े थे। कौन कहेगा कि इस प्रतिवाद की आवश्यकता नहीं थी? जिसका प्रतिवाद किया जाता है उसके सम्बन्ध में मनुष्य विशेष रूप से सचेत रहता है। इस दृष्टि से ब्राह्म-युग के सम्बन्ध में विवेकानन्द विशेष रूप से सतर्क थे और इसीलिए एक ओर राममोहन, विद्यासागर व केशवचन्द्र के संस्कार का प्रभाव व प्रतिवाद जिस प्रकार उनमें देखा गया, उसी प्रकार दूसरी ओर राजनारायण, बंकिम व भूदेव की चिन्ता-धारा भी साहित्य के द्वारा उनमें संक्रमित हुई है। परन्तु साथ ही सभी दृष्टियों से उनका व्यक्तित्व व स्वातंत्र्य अत्यन्त प्रखर रूप से विकसित हुआ, एक अत्यन्त अनुपम भास्वर दीप्ति से इतिहास को आलोकित कर गया। उनके मानसिक विकास के इतिहास में हम देखते हैं कि वे अपने पूर्वगामी संस्कार-युग को सम्पूर्ण रूप से आत्मस्थ करके अग्रसर हुए हैं। प्रत्येक परवर्ती युगप्रवर्तक को ही ऐसा करना पड़ता है।

तृतीय अध्याय

साधक विवेकानन्द

(१८८०–८६)

" आजकल यह एक आम बात हो गई है, और सभी लोग बिना आपत्ति किए ही इसे मान लेते हैं कि मूर्तिपूजा दोषयुक्त है। मैं भी एक समय ऐसा ही सोचा करता था और इसकी सजा के रूप में मुझे एक ऐसे व्यक्ति के पैरों के पास बैठकर शिक्षालाभ करना पड़ा जिन्होंने मूर्तिपूजा से ही सब कुछ पाया था। "

— विवेकानन्द

१८७९ ई० में प्रवेशिका परीक्षा में पास होकर नरेन्द्रनाथ जब कालेज में प्रविष्ट हुए उस समय उनकी अवस्था अठारह वर्ष की थी। परीक्षा के लिए तैयार होते समय तीन वर्षों का पाठ्य विषय केवल एक वर्ष में ही समाप्त करने में नरेन्द्रनाथ को अत्यधिक मानसिक परिश्रम करना पड़ा था। वे प्रेसिडेन्सी कालेज में अध्ययन तो करने लगे, परन्तु मलेरिया ज्वर से पीड़ित होकर उन्हें उस वर्ष के लिए कालेज छोड़ना पड़ा। दूसरे वर्ष वे जनरल असेम्बली इन्स्टिट्यूशन में भरती होकर एफ० ए० में पढ़ने लगे।

प्रखर व्यक्तित्वशाली नरेन्द्रनाथ ने बड़ी सरलता से सहपाठियों के बीच में अपने को प्रतिष्ठित कर लिया था। अपनी शक्ति पर उनका गम्भीर विश्वास था और तज्जन्य श्रेष्ठत्व का अभिमान उनके चरित्र का एक उज्ज्वल वैशिष्ट्य बनकर सहपाठी व अध्यापकगण की दृष्टि को सम भाव से आकर्षित करता था। कालेज में नरेन्द्रनाथ के कई मित्र व अनुरागी भक्त थे। उनके सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे केवल नरेन्द्रनाथ की प्रतिभा व सूक्ष्म बुद्धि को देखकर ही उनकी ओर आकृष्ट हुए

थे। प्रतिभा, पाण्डित्य, तर्कशक्ति आदि मानसिक गुणों के अतिरिक्त नरेन्द्र के मधुर संगीत की सम्मोहिनी शक्ति तथा सुदृढ़, सबल, ऊँचा-पूरा सुन्दर शरीर स्वाभाविक रूप से ही भावप्रवण बंगाली युवकों के हृदय को आकर्षित कर लेता था। हमने सुना है कि ऐसे छात्र कालेज में बहुत कम थे जो उनके पौरुषदीप्त मुखमण्डल के स्निग्ध सौन्दर्य को तथा सबसे बढ़कर उनके उज्ज्वल, तीक्ष्ण-दृष्टिपूर्ण विशाल नेत्रद्वय को देखकर मुग्ध न होते हों।

नरेन्द्र कभी भी शान्त स्वभाव के न थे। लौकिक व्यवहार में उस समय के प्रचलित ईसाई या ब्राह्म नीति-मार्ग के पथिक वे न थे। उनकी दृष्टि में जीवन था एक स्वच्छन्द अविराम प्रवाह। तथाकथित नीतिशासन के विधि-निषेधों के बन्धनों से जकड़कर पंगु होकर केवल 'भला आदमी' बनने की इच्छा उनके जीवन की स्वभाव-प्रबल प्रगति में किसी प्रकार बाधा न डाल सकी। वे पर-चर्चा करने में हिचकते न थे, परन्तु कभी किसी की अनुपस्थिति में उसके सम्बन्ध में कुछ न कहते थे। जिसे जो कुछ कहना आवश्यक होता था सीधा उसके मुँह पर ही कह देते थे। बालसुलभ सरलता के साथ वे जब किसी व्यक्ति के चरित्र की समालोचना करते हुए तीव्र तथा चुभने वाली बातों से उसके हृदय को जर्जरित कर डालते थे उस समय उपस्थित मित्रों के सामने लज्जित होकर यदि वह व्यक्ति स्वल्प काल के लिए उन पर असन्तुष्ट भी होता तो दूसरे ही क्षण में उसे भूल भी जाता था, क्योंकि उक्त प्रकार की समालोचना कठोर व निर्भीक होने पर भी उसमें ईर्ष्या या अन्य किसी प्रकार की नीच भावना नहीं रहती थी। युवक या बालकों का एक अपराध नरेन्द्र की दृष्टि में अक्षम्य था — और वह था आँखें तिरछी करके ताकना, मृदु हास्य के साथ, नजाकत के साथ वार्तालाप करना, आँख के साथ आँख मिलते ही लज्जा से नतदृष्टि हो जाना, कोमल अंगभंगी, धीरे धीरे चलना, अभ्यास द्वारा चेष्टा करके स्त्री के समान आचरण करना आदि उनके लिए असहनीय था। इस पर यदि कोई छात्र अनावश्यक विलासिता की सामग्रियों का व्यवहार

करता तो उसे नरेन्द्र की कठोर समालोचना के तीव्र वाक्यों से शिर नीचा करके अपनी गल्ती को स्वीकार कर लेने के अलावा और कोई उपाय नहीं रहता था।

व्यायाम, कुश्ती, क्रिकेट आदि में उनका विशेष आग्रह देखा जाता था। शारीरिक शक्ति में नरेन्द्रनाथ अपने समवयस्कों में दूसरे किसी से कम न थे।

शक्तिमान व प्रतिभाशाली नरेन्द्रनाथ अध्ययन द्वारा श्रान्त मस्तिष्क को विश्राम देने के लिए कभी कभी मित्र-मण्डली के साथ हँसीखेल में सम्मिलित होते थे। आमोद-प्रमोद के नए नए उपाय निकालने में वे सिद्धहस्त थे। उनके इन सब उच्छूंखल जैसे आचरणों का कारण समझने में असमर्थ होकर कई व्यक्ति तरह तरह की कल्पना कर लेते थे तथा कई कड़ी आलोचना भी करते थे। तेजस्वी, स्वाधीनमना नरेन्द्र अपनी निन्दा सुनकर कभी विचलित नहीं होते थे, यहाँ तक कि लापरवाही के साथ हँसते हुए वे उस बात को उड़ा देने के अलावा और कभी किसी प्रकार का प्रतिवाद न करते थे। तीक्ष्ण बुद्धि वाले नरेन्द्रनाथ थोड़े ही समय में अपना पाठ याद कर सकते थे और इसलिए संगीत, हँसी, खेल आदि के लिए उन्हें काफी समय मिलता था। बेचारे कम बुद्धि वाले अनेक बालक जब कभी उनकी नकल करने की चेष्टा करते थे तो मानो अपना वे सर्वनाश ही कर डालते थे! वाक्पटु व रसिक नरेन्द्रनाथ का केवल बाह्य आचरण देखकर जो लोग उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार राय कायम करते थे, कहना न होगा, वे चाहे उनके अत्यन्त निकट भले ही रहे हों, परन्तु फिर भी इस अद्भुत युवक का वास्तव परिचय वे नहीं पा सके थे।

कविसदृश कल्पना व असाधारण प्रतिभा के साथ जिस समय नरेन्द्रनाथ एकाग्र चित्त से दर्शनशास्त्र या उच्च साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थादि के अध्ययन में संलग्न रहते थे उस समय वे एक दूसरे ही व्यक्ति ज्ञात होते थे। एफ०ए० की परीक्षा के पहले ही उन्होंने मिल आदि पाश्चात्य नैयायिकों के मतवाद का ज्ञान

प्राप्त कर लिया था तथा ह्यूम व हर्बर्ट स्पेन्सर के दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था।

जनरल असेम्ब्ली कालेज के अध्यक्ष विलियम हेस्टी साहब बड़े पण्डित, कवि तथा दार्शनिक थे। नरेन्द्र, श्री व्रजेन्द्रनाथ सील आदि कुछ प्रतिभाशाली छात्र उनके विशेष प्रिय थे। वे उनके पास नियमित रूप से दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते थे। हेस्टी साहब नरेन्द्र को इतना अधिक चाहते थे कि वे एक दिन उक्त कालेज की 'आलोचना सभा' में नरेन्द्र के दार्शनिक मतविशेष के विश्लेषण से विशेष सन्तुष्ट होकर बोले थे, "He is an excellent philosophical student. In all the German and English Universities there is not one student so brilliant as he."

पाश्चात्य विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र समूह की आलोचना ने उनके हृदय में एक विराट आँधी पैदा कर दी। उनका आजन्म संस्कार तथा बद्धमूल विश्वास, चारों ओर की स्थिति के संघर्ष में आकर डगमगाने लगा। अन्तर्निहित भावसमूह के साथ इस प्रकार का प्रबल संघर्ष स्थूल विचार वाले विद्यार्थियों की धारणा से परे था। डा० व्रजेन्द्रनाथ सील आदि कुछ अन्तरंग मित्र ही उसे विशेष रूप से जानते थे।

डेकार्ट का अहंवाद, ह्यूम व बेन की नास्तिकता, डार्विन का विकासवाद—और सबसे ऊपर स्पेन्सर का अज्ञेयवाद इत्यादि विभिन्न दार्शनिकों की विचारधाराओं में इतस्ततः बहते हुए नरेन्द्रनाथ सत्य की प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठे। व्रजेन्द्र बाबू ने अपने प्रियतम मित्र की इस समय की मानसिक स्थिति का वर्णन किया है। १९०७ ई० के 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका में उन्होंने जो निबन्ध लिखा था उसे पढ़कर नरेन्द्रनाथ की मानसिक अशान्ति व विप्लव का एक युक्तिपूर्ण विवरण मिलता है। व्रजेन्द्र बाबू ने शेले की कविताएँ, हेगेल का दर्शन तथा 'फ्रान्सीसी विप्लव का इतिहास' आदि ग्रन्थों का अध्ययन करने की उन्हें सलाह दी। क्रमवर्धमान ज्ञानपिपासा लेकर नरेन्द्र

जितना ही अग्रसर होने लगे उतना ही वे समझने लगे कि परम सत्य को प्राप्त करना हो तो केवल विचार-बुद्धि की सहायता से दार्शनिक सूक्ष्म तत्वों की मीमांसा में लगे रहने से नहीं चलेगा। परन्तु उपाय क्या है ?

इस पंचेन्द्रियग्राह्य जड़ जगत् के पीछे ऐसा कोई शक्तिमान पुरुष है या नहीं जिसके इशारे से यह जड़ समष्टि परिचालित हो रही है ? इस मानव जीवन का उद्देश्य क्या है ?

इस प्रकार अतीन्द्रिय राज्य के रहस्यमय प्रश्नों ने धीरे धीरे उनके मानस-पट पर उदित होकर उन्हें पागल सा बना डाला। वे समझ गए कि पाश्चात्य विज्ञान व दर्शनशास्त्रों ने युक्ति व विचार की सहायता से तत्व का निर्णय करते हुए या समस्या की मीमांसा करते हुए उसे केवल अधिकतर जटिल ही बना दिया है। अतः वे सत्य की खोज में संलग्न अपने मन को केवल दर्शन, साहित्य, विज्ञान व इतिहास की चर्चा में न लगाकर बहिर्जगत् में जीते जागते आदर्श की खोज करने लगे। जब कभी कोई धर्म-प्रचारक धर्म या ईश्वर के सम्बन्ध में भाषण देते, तो नरेन्द्रनाथ अपने अशान्त हृदय की व्याकुलता के साथ उनसे प्रश्न कर बैठते थे, "महाशय, क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है ?" आध्यात्मिक तत्वों की व्याख्या करने वाले प्रचारक महोदय इस विचित्र प्रश्नकर्ता के उत्सुक मुखमण्डल की ओर ताकते हुए 'हाँ' या 'ना' इन दोनों में से किसी का भी उच्चारण तो न कर सकते थे, परन्तु नाना प्रकार के उप-देश-वाक्यों से उन्हें परितृप्त करने की चेष्टा अवश्य करते थे। अतः बहुत चेष्टा करने पर भी वे एक भी प्रत्यक्षदर्शी का पता न पा सके। उन्हें केवल कुछ ऐसे ही व्यक्ति मिले जो केवल पुस्तक की विद्या को दुहराने वाले या दूसरे धर्मों के दोषों को ढूँढ़नेवाले थे। धर्मप्रचारकों की इस प्रकार की दुर्दशा देखकर वे प्रबल सन्देहवादी हो उठे, परन्तु धर्मप्रचारकों की अन्तःसारशून्यता तथा पाश्चात्य जड़विज्ञान व दर्शन की प्रबल युक्तियाँ किसी भी तरह से सत्यलाभ की उनकी आकांक्षा को मिटा न सकीं। उन्होंने हृदय के अन्तस्तल से जान लिया:—

"अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥"

अर्थात् मूढ़, विद्या का अभिमानी अविद्या के बीच में अपने को ज्ञानी समझता हुआ असार ज्ञान के गर्व में, अन्ध द्वारा अनुसृत अन्धे की तरह भटकता फिरता है।

सत्य-प्राप्ति की प्रेरणा से ही वे ब्राह्म समाज में गए थे। यह युक्ति-वादी, संदिग्धचित्त परन्तु सत्यान्वेषी युवक आग्रह के साथ ब्राह्म आचार्यों का उपदेश ग्रहण करता था। अन्त में कुछ मित्रों के साथ वे साधारण ब्राह्म समाज के सदस्य बने। परन्तु कुछ बँधे हुए मतवाद तथा नियमित उपासना इत्यादि द्वारा उनकी अत्युत्कट आध्यामिक तृष्णा तृप्त न हुई।

ब्राह्म समाज में सम्मिलित होने के पहले ही नरेन्द्रनाथ राजा राममोहन राय द्वारा लिखित पुस्तकों तथा लेखों के साथ विशेष रूप से परिचित हुए थे। साधारण ब्राह्म समाज के सदस्य होकर भी वे महर्षि देवेन्द्रनाथ तथा केशव बाबू के पास तत्व की आलोचना के लिए आया जाया करते थे। असाधारण व्याख्याता व शक्तिशाली पुरुष केशवचन्द्र के अनुरागी होते हुए भी वे नव-स्थापित नवविधान समाज में सम्मिलित न होकर साधारण समाज में ही क्यों सम्मिलित हुए इसके हम चार प्रधान कारण पाते हैं।

(१) बचपन से ही वे जातिभेद-प्रथा से घृणा करते थे। साधारण ब्राह्म समाज के प्रचारकगण इसी समय जाति-भेद-प्रथा को विनष्ट करने के लिए प्राणपण से चेष्टा कर रहे थे। इससे उनकी पूर्ण सम्मति थी।

(२) स्त्रियों को धर्मकार्य तथा सामाजिक जीवन में पुरुषों के समान अधिकार देकर सुशिक्षित बना लेने का संकल्प भी उन्हें बहुत प्रिय था।

(३) नवविधान समाज के ब्राह्मों का भाव के आवेश में रोना तथा भक्ति की अधिकता में केशव को 'प्रेरित' पुरुष आदि कहना उन्हें अच्छा न लगा।

(४) राजा राममोहन राय के आदर्श के साथ ब्राह्म समाज का थोड़ा बहुत सम्बन्ध रहते हुए भी वह राजा की इच्छा के अनुसार विकसित नहीं हुआ, इस बात को स्पष्ट समझते हुए उन्होंने किसी विशेष समाज का पूरा पूरा अनुसरण नहीं किया।

ब्राह्म समाज में सम्मिलित होकर भी उपासना के विषय में वे समाज के दूसरे सदस्यों से सहमत न हो सके। बुद्धिमान तथा दृढ़चित्त नरेन्द्रनाथ दूसरों के विचारों को बिना विचार मान लेने वाले न थे, इसीलिए जब कोई उनसे अपना मत मनवा लेने के लिए युक्तियाँ पेश करता था उस समय वे पाश्चात्य सन्देहवादी दार्शनिकों की युक्तियों को अपनी असाधारण प्रतिभा के बल से इस प्रकार व्यक्त करते थे कि प्रतिपक्ष को हार माननी ही पड़ती थी। उनके निर्भीक व कठोर समालोचक होने पर भी ब्राह्म समाज के कर्णधारगण उनसे विशेष प्रेम रखते थे। नरेन्द्रनाथ रविवार की उपासना के समय सुमधुर कण्ठ से ब्राह्म-संगीत गाकर सदस्यों का दिल बहलाया करते थे तथा उपासना में सम्मिलित होते थे। परन्तु उनका "स्वाभाविक वैराग्यशील मन, ब्राह्म समाज में त्याग तथा ज्वलन्त धार्मिक-बुद्धि की कमी देखकर उस समाज की प्रणालीबद्ध उपासना से तृप्त न होता था।"

बचपन से ही नरेन्द्रनाथ ध्यान में तन्मय हो जाया करते थे। मनः-संयम करने के लिए उन्हें चेष्टा न करनी पड़ती थी। एक दिन महर्षि देवेन्द्र-नाथ ठाकुर ने नरेन्द्र को ध्यान करने का उपदेश दिया। कहा, "तुम्हारे अंग-प्रत्यंगों में योगीसदृश चिन्ह मौजूद हैं। ध्यान लगाते ही तुम्हें शान्ति तथा सत्य की प्राप्ति होगी।" पूतचरित्र महर्षि के प्रति नरेन्द्रनाथ की बड़ी श्रद्धा तथा भक्ति थी। इसलिए उनकी बात से नरेन्द्र का ध्यानानुराग द्विगु-णित हो गया—केवल यही नहीं निरामिष तथा परिमित भोजन, भूमि पर शयन, सफेद धोती व चद्दर का पहनना आदि शारीरिक कठोरता का भी उन्होंने अवलम्बन किया। नरेन्द्रनाथ अपने मकान के निकट मातामही के

भाड़े के मकान के एक कमरे में रहते थे। यहाँ पर एकान्त में उनके साधन-भजन में सुविधा होती थी। घरवाले समझते थे, भीड़भाड़ में पढ़ाई की असुविधा होने के कारण नरेन्द्रनाथ घर पर रहना नहीं चाहते हैं। पुत्र की स्वाधीनता में हस्तक्षेप करने के अनिच्छुक विश्वनाथ बाबू ने भी इसके लिए कभी कुछ नहीं कहा। अतः नरेन्द्रनाथ एकान्त में अध्ययन, संगीत की चर्चा आदि करने के बाद बाकी समय साधन-भजन में ही व्यतीत करते थे।

इस प्रकार दिन पर दिन बीतते गये, पर सत्य को जानने की उनकी इच्छा तृप्त तो हुई नहीं, प्रत्युत उल्टी अधिकाधिक बढ़ने लगी। धीरे धीरे उन्होंने समझा कि अतीन्द्रिय सत्य को प्रत्यक्ष करने के लिए एक ऐसे व्यक्ति के चरणों के पास बैठकर शिक्षा लाभ करना आवश्यक है जिसने उस सत्य का साक्षात्कार किया हो।

उन्होंने अपने मन-प्राण से यह भी निश्चय कर लिया कि इसी जीवन में सत्य को प्राप्त करना होगा, नहीं तो इसी चेष्टा में प्राण दे देना होगा, — अगर ऐसा न हुआ तो इस अशान्तिपूर्ण जीवन को रखकर ही क्या लाभ? पारिपार्श्विक प्रभाव के मध्य मग्न रहते हुए तथा पाश्चात्य दार्शनिकों की विचार-धाराओं से आलोड़ित एवं युक्तिपन्थी ब्राह्म होते हुए भी वे सद्गुरु की प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठे। एक विराट आध्यात्मिक क्षुधा के आवेश में आकर वे दिनरात सोचने लगे कि उन्हें कौन बता देगा कि शान्ति कहाँ है?—

'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।'

किन्तु कहाँ वे इस प्रकार के तत्वदर्शी महापुरुष का दर्शन कर सकेंगे—जिसने अपने जीवन तथा जगत् की समस्या को हल कर लिया है, — जिसने जगत् के कारणरूपी उस भूमा को जान लिया है, — जिसकी ज्ञान-पिपासा तृप्त होगई है तथा जो दूसरों को तृप्त करने में समर्थ है।

(१८८० नवम्बर)

कलकत्ते के शिमला मुहल्ले में स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ मित्र महाशय एक दिन अपने घर पर श्रीरामकृष्ण देव को ले आए और उन्होंने एक आनन्दोत्सव का आयोजन किया। सुकण्ठ गायक न मिलने के कारण उन्होंने अपने पड़ोसी नरेन्द्रनाथ को बुलाया। १८८० ई० के नवम्बर मास में भगवान श्रीरामकृष्ण देव के साथ नरेन्द्रनाथ का यही प्रथम परिचय है। उस दिन वे नरेन्द्रनाथ का गाना सुनकर विशेष सन्तुष्ट हुए और बड़े आग्रह के साथ प्रत्येक बात को पूछते हुए उन्होंने उनका परिचय प्राप्त किया। बिदा होते समय नरेन्द्रनाथ को एक दिन वे दक्षिणेश्वर में आने के लिए अनुरोध भी कर गए।

इस बीच में एफ० ए० परीक्षा के लिए व्यस्त रहने के कारण नरेन्द्र-नाथ दक्षिणेश्वर जाने की बात भूल सी गए। परीक्षा की समाप्ति पर उनके पिता उनसे विवाह के लिए आग्रह करने लगे, क्योंकि उनके धनिक भावी श्वसुर ने वैवाहिक दहेज़ के रूप में नगद दस हजार रुपये देने का बचन दिया था। पर नरेन्द्र तो जन्म से ही विवाह के घोर विरोधी थे। किसी की व्यक्तिगत स्वाधीनता में हस्तक्षेप करना विश्वनाथ बाबू की प्रकृति के विरुद्ध था। उन्होंने स्वयं तो पुत्र से अनुरोध नहीं किया, परन्तु दूसरे स्वजनों के द्वारा नरेन्द्र की सम्मति लेने के लिए चेष्टा की। श्रीरामकृष्ण देव के गृही भक्तों में अन्यतम प्रसिद्ध डॉक्टर रामचन्द्र दत्त महाशय विश्वनाथ बाबू के घर में ही प्रतिपालित हुए थे व उनके दूर के नाते से सम्बन्धी भी थे। एक दिन विवाह के प्रसंग की आलोचना में नरेन्द्र ने उनसे अपने हृदय की अशान्ति को प्रकट कर विवाह के विघ्नों को समझा दिया। उन्होंने नरेन्द्रनाथ की युक्तियों को सुनकर अन्त में कहा,—"यदि वास्तव में सत्य की प्राप्ति ही तुम्हारा उद्देश्य है तो ब्राह्म समाज आदि स्थानों में न भटककर दक्षिणेश्वर में परमहंस देव के पास चले जाओ।" नरेन्द्रनाथ न जाने क्या सोचकर सहमत हुए और थोड़े ही दिनों के बाद दो चार मित्रों के साथ दक्षिणेश्वर जा पहुँचे।

नरेन्द्रनाथ को देखते ही श्रीरामकृष्ण देव उनके साथ चिर परिचित की तरह सरल भाव से वार्तालाप करने लगे। [illegible] वार्तालाप समाप्त होने पर एकाएक श्रीरामकृष्ण देव उन्हें बुलाकर एकान्त में ले गए। भाव में विभोर हो उन्होंने नरेन्द्र का हाथ पकड़कर स्नेहपूर्ण गद्गद कण्ठ से कहा,—

"तू इतने दिन तक मुझे कैसे भूलाकर रहा ? तेरे आने की प्रतीक्षा में मैं कितने दिनों से बाट जोह रहा हूँ। विषयी लोगों के साथ बात करते करते मेरा मुँह जल गया है, आज से तेरी तरह सच्चे त्यागी के साथ बात कर मुझे शान्ति मिलेगी।"—यह कहते कहते उनकी दोनों आँखों में आँसू उमड़ आए। विस्मयपूर्ण स्थिर दृष्टि से नरेन्द्रनाथ इस अद्भुत संन्यासी की ओर ताकते रहे—क्या कहें, सोच न सके।

देखते ही देखते परमहंस देव कृताञ्जलि होकर सम्मान के साथ उनसे कहने लगे, "मैं जानता हूँ तुम सप्तर्षि मण्डल के ऋषि—नररूपी नारायण हो, जीव के कल्याण की कामना से तुमने देह धारण की है।"

यह क्या विचित्र पागलपन—मैं विश्वनाथ दत्त का पुत्र नरेन्द्र—फिर ये सब बातें कैसी !

इसके बाद जब श्रीरामकृष्ण देव फिर से भक्त-वृन्द के बीच में लौटकर स्वाभाविक भाव से वार्तालाप करने लगे, तो नरेन्द्र ने उनकी विशेष रूप से परीक्षा करके देखा, उनके चाल-चलन में किसी प्रकार पागलपन का लवलेश नहीं है, उनकी बातों को असम्बद्ध प्रलाप कहकर उड़ा देना भी सहज नहीं है। परन्तु उसमें क्या गम्भीर रहस्य है यही सोचते सोचते वे घर लौटे।

स्वामी शारदानन्दजी ने 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' नामक ग्रन्थ में नरेन्द्र के दक्षिणेश्वर में आने से बहुत दिन पहले भगवान श्रीरामकृष्ण के एक दिव्य दर्शन की बात लिखी है। श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था,—

"एक दिन मैं देख रहा था, मन समाधि-पथ में ज्योतिर्मय मार्ग से ऊपर उठता जा रहा है। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्रादि से पूर्ण स्थूल जगत् को

सरलता से लाँघकर वह पहले पहल सूक्ष्म भाव-जगत् में प्रविष्ट हुआ। उस राज्य के उच्च से उच्चतर स्तरसमूह पर वह जितना ही चढ़ने लगा उतना ही विभिन्न देव-देवियों के भावपूर्ण विचित्र मूर्तिसमूह को रास्ते की दोनों ओर देखने लगा। धीरे धीरे उक्त राज्य की चरम सीमा में वह आ पहुँचा। वहाँ पर मैंने देखा एक ज्योतिर्मय रेखा ने खण्ड व अखण्ड के राज्य को अलग अलग कर दिया है। उस रेखा को लाँघकर मन धीरे धीरे अखण्ड के राज्य में प्रविष्ट हुआ। मैंने देखा — वहाँ पर साकार कुछ भी नहीं है। दिव्य देहधारी देव-देवीगण तक मानो यहाँ प्रवेश करने से भयभीत होकर बहुत दूर नीचे अपना अपना अधिकार चला रहे हैं! परन्तु दूसरे ही क्षण मैंने देखा, दिव्य ज्योतिसम्पन्न सात श्रेष्ठ ऋषि वहाँ पर समाधिस्थ होकर बैठे हैं। मैं समझ गया कि ज्ञान व पुण्य में, त्याग व प्रेम में इन्होंने मानव की बात ही क्या, देव-देवियों तक का अतिक्रमण किया है। मैं विस्मित होकर इन ऋषियों के महत्व के बारे में सोच ही रहा था कि एकाएक दीख पड़ा, सम्मुखस्थ अखण्ड के घर का भेदशून्य समरस ज्योतिर्मण्डल का एक अंश घनीभूत होकर दिव्य शिशु के रूप में परिणत हुआ। उस देव-शिशु ने इनमें से एक के निकट उतरकर अपने अपूर्व सुललित बाहुओं से उनके कण्ठदेह को प्रेम के साथ पकड़ लिया। इसके बाद अपनी वीणाध्वनि से भी सुमधुर अमृतमयी वाणी से आदर के साथ पुकारकर उन्हें समाधि से जगाने के लिए भरसक चेष्टा करने लगा। बालक के कोमल प्रेमपूर्ण स्पर्श से ऋषि समाधि से जागे और अर्धनिमीलित निर्निमेष नेत्रों से उस अपूर्व बालक का निरीक्षण करने लगे। उनके मुख का प्रसन्नोज्ज्वल भाव देखकर ऐसा लगा मानो वह बालक बहु काल से उनका पूर्व परिचित एवं हृदयनिधि ही हो। वह अद्भुत देव-शिशु उस समय असीम आनंद के साथ उनसे कहने लगा, "मैं जा रहा हूँ। तुम्हें आना होगा।" उसके इस अनुरोध पर ऋषि ने कहा तो कुछ नहीं, परन्तु उनके प्रेमपूर्ण नेत्रों ने उनके हृदय की सम्मति व्यक्त कर

दी। बाद में उसी प्रकार सप्रेम दृष्टि से बालक को थोड़ी देर देखते देखते वे फिर से समाधिस्थ हो गए। उस समय मैंने विस्मय के साथ देखा, उन्हींके शरीर-मन का एक अंश उज्ज्वल ज्योति के आकार में परिणित होकर विलोम मार्ग से धराधाम पर अवतरण कर रहा है। नरेन्द्र को देखते ही मैंने समझ लिया था कि ये ही वह दैवी पुरुष हैं।"

नरेन्द्र की विचार कुशल सूक्ष्म बुद्धि इस अलौकिक देव-मानव के चरित्र का विश्लेषण करने में पराजित हुई। जिनके पवित्र संग में केशव बाबू, विजय गोस्वामी आदि शक्तिशाली आचार्यों के धर्म-जीवन में अपूर्व परिवर्तन हो गया उन्हें एक उन्माद मान लेना भी बुद्धिहीनता ही होगी! विषम समस्या में पड़-कर नरेन्द्रनाथ एकाएक कोई भी स्थिर सिद्धान्त न कर सके। और मन ही मन उन्होंने संकल्प किया,—"इनकी अच्छी तरह से परीक्षा लिए बिना इन्हें कभी ईश्वरदर्शी महापुरुष न मानूँगा।" परन्तु इस घटना के बाद ही वे एक ऐसे प्रबल आकर्षण का अनुभव करने लगे, जिससे बीच बीच में बाध्य होकर उन्हें दक्षिणेश्वर के उस 'पागल' पुजारी के श्रीचरणों में उपस्थित होना ही पड़ता था। श्रीरामकृष्ण देव का अपूर्व त्याग, शिशु की तरह अभिमानशून्य सरल व्यवहार, विनयनम्र मधुर वाक्य, और सबसे बढ़कर उनके रहस्यपूर्ण निष्काम प्रेम ने नरेन्द्रनाथ के हृदय पर थोड़े ही दिनों में काफी प्रभाव डाल दिया। नरेन्द्र ने देखा, इस देव-मानव की कृपा से अगणित व्यक्तियों के जीवन कृतार्थ व धन्य हो गए। परन्तु फिर भी वे इस 'पागल' को एकाएक अपने जीवन का आदर्श न मान सके—यहाँ तक कि लगातार तीन वर्ष तक तरह तरह से उनकी परीक्षा कर चुकने के बाद ही अन्त में उन्होंने उनके श्रीचरणों में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया।

इसीलिए हम देखते हैं, श्रीरामकृष्ण देव के पास आते जाते हुए भी नरेन्द्रनाथ ब्राह्म समाज की नियमित उपासना आदि में सम्मिलित होते रहे। राखालचन्द्र घोष (बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द) नरेन्द्र के साथ ही ब्राह्म समाज

के सदस्य हुए थे। आप नरेन्द्रनाथ से कुछ दिन पहले से ही दक्षिणेश्वर में आते जाते थे। श्रीरामकृष्ण देव इनसे पुत्रवत् स्नेह करते और इन्हें सदा अपने पास रखते थे। एक दिन नरेन्द्र राखाल को श्रीरामकृष्ण देव के पीछे पीछे देव-मन्दिर में जाकर प्रतिमा को प्रणाम करते देख बहुत ही क्रुद्ध हुए और श्रीरामकृष्ण देव के सामने ही उन्हें मिथ्याचारी आदि कहकर डाँटने लगे, क्योंकि राखाल ने भी, समाज के "एकमात्र निराकार ब्रह्म की उपासाना करूँगा"—इस प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किया था। अप्रतिभ होकर राखाल को लज्जा से अधोमुख होते देख श्रीरामकृष्ण देव ने उनके पक्ष का समर्थन करके कहा, —

"उसको यदि साकार में भक्ति हो तो वह क्या करेगा? तुम्हें अच्छा न लगे तो तुम न करो। पर इस प्रकार दूसरों का भाव दूषित करने का तुम्हें क्या अधिकार है?" नरेन्द्र चिन्तित होकर चुप रह गए, परन्तु इस घटना से ज्ञात होता है कि उस समय भी नरेन्द्रनाथ के हृदय में ब्राह्म समाज की उपासना-प्रणाली के प्रति गम्भीर श्रद्धा थी।

निराकार का ध्यान ही नरेन्द्र को अच्छा लगता था। श्रीरामकृष्ण देव उन्हें उसी भाव का उपदेश दिया करते थे। कभी जबरदस्ती उन्हें साकार में विश्वास करने के लिए अनुरोध न करते थे, यहाँ तक कि उन्होंने कभी नरेन्द्रनाथ को ब्राह्म समाज में जाने से मना भी न किया। उन्होंने कभी किसी के स्वाधीन धर्माचरण में हस्तक्षेप नहीं किया। अन्तर्दृष्टिसम्पन्न महापुरुष, देखते ही यह समझ लेते थे कि किसके मन में क्या है और उसके भाव के अनुसार साधना की विशेष विशेष प्रणाली का अवलम्बन करने का उपदेश देते थे। बलपूर्वक किसीका भाव नष्ट करने का अभिप्राय उनका कभी न था।

श्रीरामकृष्ण देव पहले से ही समझ गए थे कि इस युवक को समय पर जगत् के सैकड़ों हजारों धर्म के प्यासे नर-नारियों की आध्यात्मिक तृष्णा मिटानी होगी—पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण के गर्व से अन्ध स्वदेशवासियों

को लुप्तप्राय सनातन धर्म के पथ पर लौटाने के लिए पुकारना होगा — सब से बढ़कर उनके जीवन में प्रकाशित 'जितने मत उतने ही पथ' रूपी सार्वभौमिक आदर्श के प्रचार-कार्य में नरेन्द्रनाथ ही सब से अधिक योग्य अधिकारी हैं। भविष्य को सोचकर श्रीरामकृष्ण देव उन्हें सर्व-मतग्रासी वेदान्तोक्त साधनामार्ग में परिचालित करने के लिए सचेष्ट हुए। परन्तु नरेन्द्रनाथ ने सगुण निराकार के ध्यान में मग्न रहने के कारण अद्वैतवाद का ग्रहण काफी समय के बाद किया। ब्राह्म समाज के धर्ममत के अनुसार श्रीरामकृष्ण देव की बात का प्रतिवाद करते हुए वे कहते थे, "मैं ही ब्रह्म हूँ, इस बात को कहने के सदृश और दूसरा पाप नहीं है।"

बार बार सुनकर भी नरेन्द्रनाथ स्वयं इस बात पर विश्वास न करते थे कि वे एक अधिकारी पुरुष हैं तथा जगदम्बा की विशेष कार्य-सिद्धि के उद्देश्य से अवतीर्ण हुए हैं। एक दिन दक्षिणेश्वर में केशव, विजय आदि ब्राह्म नेतागण बैठे थे, नरेन्द्र भी वहाँ उपस्थित हुए। श्रीरामकृष्ण देव भावस्थ होकर उन सभी को देखने लगे। अन्त में जब केशव व विजय विदा हो गए तो भक्तों को सम्बोधित कर वे बोले, "भाव में मैंने देखा, केशव ने जिस शक्ति के बल से प्रतिष्ठा प्राप्त की है, नरेन्द्र में उस प्रकार की अठारह शक्तियाँ हैं! केशव व विजय के मन में ज्ञान-दिया जल रहा है, नरेन्द्र में ज्ञानसूर्य मौजूद है।"

इस प्रकार की अयाचित प्रशंसा से साधारण मानव घमण्ड से छाती फुला लेता इसमें सन्देह नहीं, परन्तु नरेन्द्रनाथ ने उसी समय उसका प्रतिवाद करके कहा, "क्या कहते हैं आप? कहाँ विश्वविख्यात केशव सेन और कहाँ एक नगण्य, स्कूल का लड़का नरेन्द्र — लोग सुनेंगे तो आपको पागल कहेंगे!" श्रीरामकृष्ण देव ने ईषत् हास्य कर सरल भाव से उत्तर दिया, "तो फिर क्या करूँ कहो? माँ ने दिखा दिया इसीलिए कहता हूँ।"

जगन्माता की दुहाई देकर भी श्रीरामकृष्ण देव नरेन्द्रनाथ की समालोचना से छुटकारा न पा सके, क्योंकि नरेन्द्रनाथ उस समय तक भी

श्रीरामकृष्ण देव के उन सब अपूर्व दर्शन आदि के प्रति विशेष श्रद्धावान न हो सके थे। उन्होंने संदिग्ध होकर कहा, "माँ ने दिखा दिया या आपके मस्तिष्क का ख्याल है, कैसे समझूँ? मुझे तो महाराज, यदि ऐसा होता तो यही विश्वास कर लेता कि यह मेरे मस्तिष्क का ही ख्याल है।"

पाश्चात्य दार्शनिकों की स्वाधीन चिन्ता के पोषक मतवाद के साथ भलीभाँति परिचय रहने के कारण जब वे पहले पहल श्रीरामकृष्ण देव का जगन्माता के साथ वार्तालाप, ईश्वरीय रूप के दर्शन आदि को मस्तिष्क का भ्रम कहा करते थे तो अन्य भक्तगण उनके साथ तर्क करने लग जाते थे। इस प्रकार के तर्क में कई तो उनकी तीक्ष्ण युक्तियों के सामने निरुत्तर होकर खिन्न हो जाते थे।

भारतवर्षीय ब्राह्म समाज के केशव, प्रताप बाबू, चिरंजीव बाबू आदि नेताओं का श्रीरामकृष्ण देव के सत्संग में आकर जो भावान्तर हुआ था उसका उल्लेख हमने पहले ही किया है। ब्राह्म समाज के दूसरे भक्तगण भी श्रीरामकृष्ण देव के पास धर्मतत्व सुनने की इच्छा से आया जाया करते थे। परन्तु जब विजय गोस्वामी ने अपने धर्ममत के परिवर्तन के कारण साधारण समाज के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर दिया उस समय शिवनाथ आदि कुछ ब्राह्म नेताओं ने श्रीरामकृष्ण के पास आना जाना छोड़ दिया। उनको भय हुआ कि कहीं वे भी श्रीरामकृष्ण के प्रभाव में आकर धर्ममत का परिवर्तन कर न बैठे! शिवनाथ ब्राह्मों को श्रीरामकृष्ण के पास जाने का निषेध करने लगे। नरेन्द्रनाथ का श्रीरामकृष्ण के पास आना जाना भी शिवनाथ बाबू से छिपा न था। उन्होंने नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर में जाने की मनाई कर दी और कहा, "वे सब समाधि, भाव जो कुछ देखते हो, स्नायु की दुर्बलता के ही चिन्ह हैं — अत्यधिक शारीरिक कठोरता का अभ्यास करने के परिणाम में परमहंस का मस्तिष्क बिगड़ गया है।"

नरेन्द्र ने कुछ उत्तर न देते हुए शिवनाथ बाबू का उपदेश सुन लिया।

उनके मन में उस समय एक आँधी सी बह रही थी। क्या वे त्यागीकुलचूड़ामणि, सरल, उदार, प्रेमिक पुरुष विकृत-मस्तिष्क हैं? वे क्या हैं? कौन हैं वे? क्यों वे मेरे जैसे क्षुद्र मानव के लिए सदा चिन्तित रहते हैं? श्रीरामकृष्ण देव के अपूर्व निष्काम प्रेम का कारण खोजते हुए उन्हें कोई युक्ति न मिली। यह कैसी रहस्यपूर्ण समस्या है — नरेन्द्र सन्देहपूर्ण चित्त से गम्भीर चिन्ता में मग्न हो गए।

वे ब्राह्म समाज के अधिकांश नेताओं से परिचित थे और उनके चरित्र की दृढ़ता, पाण्डित्य आदि देखते हुए उनके प्रति निष्कपट श्रद्धा भी रखते थे। परन्तु वे इस बात पर व्यग्र थे कि इतने दिन ब्राह्म समाज में उपासना प्रार्थना आदि करके भी उनका हृदय शान्त क्यों न हुआ?

एक दिन ईश्वर-प्राप्ति के लिए तीव्र आवेग के साथ नरेन्द्र घर से निकल पड़े। महर्षि देवेन्द्रनाथ उस समय गंगाजी पर एक नौका में रहा करते थे। नरेन्द्र गंगा किनारे पहुँचकर जलदी से नौका पर चढ़ आए। उनके ज़ोर से धक्का देने पर दरवाज़ा खुल गया। महर्षि उस समय ध्यानमग्न थे, एकाएक शब्द सुनकर चौंक उठे और देखा, सामने उन्मत्त की तरह तीक्ष्ण दृष्टि से ताकते हुए नरेन्द्रनाथ खड़े हैं! महर्षि को थोड़ी देर के लिए भी सोच विचार या प्रश्न करने का अवसर न देकर ही वे आवेग-रुद्ध कण्ठ से बोल उठे, "महाशय, क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है?" विस्मयचकित महर्षि ने न जाने क्या उत्तर देने के लिए दो बार चेष्टा की, परन्तु उनकी वाणी न निकली। अन्त में वे बोल उठे, "नरेन्द्र, तुम्हारी आँखें देखकर समझ रहा हूँ तुम योगी हो।" उन्होंने नरेन्द्र को कई तरह का आश्वासन देकर कहा कि यदि वे नियमित रूप से ध्यान का अभ्यास करें तो वे ब्रह्मज्ञान के अधिकारी बन सकेंगे इत्यादि। नरेन्द्र प्रश्न का सदुत्तर न पाकर निराश हृदय से घर लौट आए। सोचने लगे कि यदि महर्षि की तरह भक्तिमान ईश्वर-प्रेमिक भी आज तक ईश्वर का दर्शन नहीं कर सके तो अब वे किसके पास जायँ? फिर क्या

यह सब झूठ है — धर्म, ईश्वर आदि मानव की कल्पना से उत्पन्न आकाश-कुसुम की तरह क्या मिथ्या हैं ?

घर लौटकर नरेन्द्रनाथ ने दर्शन-शास्त्र तथा धर्म सम्बन्धी पुस्तकों को दूर फेंक दिया। यदि वे उन्हें ईश्वर-प्राप्ति में सहायता न कर सकीं तो व्यर्थ में उनके पाठ से क्या लाभ ? रात भर जागकर नरेन्द्रनाथ कितनी ही बातें सोचने लगे। एकाएक दक्षिणेश्वर के उस अद्भुत प्रेमिक की बात उन्हें स्मरण हो आई। सारी रात असहनीय उत्कण्ठा में बिताकर नरेन्द्र भोर होते ही दक्षिणेश्वर की ओर दौड़ पड़े। श्री गुरुदेव के चरणकमलों के पास पहुँचकर उन्होंने देखा, सदानन्दमय महापुरुष भक्तों से घिरे हुए अमृतमधुर उपदेश प्रदान कर रहे हैं।

नरेन्द्र के हृदय में मानो समुद्रमन्थन प्रारम्भ हुआ। यदि वे भी 'नहीं' कह दें — तो फिर क्या होगा ? और फिर किसके पास जायँगे ? अन्तःप्रकृति के साथ बहुत देर तक संग्राम करने के बाद अन्त में जिस प्रश्न को वे अनेक धर्माचार्यों से पूछ चुके थे, परन्तु आज तक कोई भी जिस प्रश्न का सन्तोष-जनक उत्तर देने में समर्थ न हुआ था, उसी प्रश्न को दुहराकर उन्होंने कहा, "महाराज, क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है ?"

मृदुहास्य-मधुर महापुरुष का प्रशान्त मुखमण्डल अपूर्व शान्ति व पुण्य की झाँकी से उद्भासित हो उठा। उन्होंने कुछ भी सोच विचार न करते हुए उत्तर दिया, "बेटा, — मैंने ईश्वर का दर्शन किया है। तुम्हें जिस प्रकार प्रत्यक्ष देख रहा हूँ इससे भी अधिकतर स्पष्ट रूप से उन्हें देखा है।" नरेन्द्र का विस्मय सौगुना बढ़ाते हुए उन्होंने फिर से कहा, "क्या तुम भी देखना चाहते हो ? यदि तुम मेरे कहे अनुसार काम करो तो तुम्हें भी दिखा सकता हूँ !"

हाय ! पाश्चात्य शिक्षा का कैसा बुरा प्रभाव होता है। श्रीरामकृष्ण की अपूर्व वाणी सुनकर उनका उछलता हुआ आनन्द मुहूर्त मात्र में ही सन्देह

के अन्धकार में विलुप्त हो गया। श्रीरामकृष्ण की वाणी से उन्हें जिस पथ का इशारा मिला — वह फूलों से बिछा हुआ न था। इस अर्धोन्माद व्यक्ति के चरणों में पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर तीव्र कठोर साधना में अग्रसर होना होगा — ब्राह्म समाज के आदर्श में अनुप्राणित नरेन्द्रनाथ एकाएक श्रीरामकृष्ण देव को गुरु न बना सके। परन्तु थोड़े दिन बाद एक विशेष घटना से वे ब्राह्म समाज से अपना सम्बन्ध विछिन्न करने के लिए बाध्य हुए।

बहुत दिनों से नरेन्द्र दक्षिणेश्वर नहीं गए। श्रीरामकृष्ण देव उन्हें देखने के लिए व्याकुल हो उठे। उस दिन रविवार था, ब्राह्म समाज में जाने पर अवश्य ही नरेन्द्र को देख सकेंगे — इस आशा से श्रीरामकृष्ण देव सायंकाल 'साधारण समाज' की उपासना में उपस्थित हुए। आचार्य उस समय वेदी से व्याख्यान दे रहे थे। ईश्वर की कथा सुनकर भाव में उन्मत्त हुए श्रीरामकृष्ण देव अपने अनजान में ही वेदी के पास पहुँचे। नरेन्द्र ने उनके आने का कारण अनुमान से समझकर उनके पास आकर उनकी गिरती हुई भावमय देह को पकड़ लिया। परन्तु यह देखकर वे आश्चर्यचकित हो गए कि परमहंस देव को सामने देखकर वेदी पर बैठे हुए आचार्य का उठ खड़ा होना तो दूर रहा, उन्होंने तथा दूसरे ब्राह्मों ने उनसे सम्भाषण तक न किया और न साधारण भद्रतासूचक शिष्टाचार का ही प्रदर्शन किया। कई लोगों के मुँह पर अवज्ञामिश्रित विरक्ति के चिन्ह भी स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे। इसी बीच में श्रीरामकृष्ण देव समाधिमग्न हो गए।

उनको देखने के लिए अनेक लोग आग्रह प्रकट करने लगे, जिससे उपासना-गृह में विशृंखल कोलाहल होते हुए देख संचालकों ने गैस की बत्तियाँ बुझा दीं। नरेन्द्र बहुत कष्ट के साथ मन्दिर के पिछले दरवाज़े से श्रीरामकृष्ण देव को बाहर निकाल लाये और उन्होंने उनको दक्षिणेश्वर भेज दिया। श्रीरामकृष्ण देव के प्रति ब्राह्मों के इस प्रकार के आचरण से उनके हृदय में गहरी चोट पहुँची और उन्हीं के लिए श्रीरामकृष्ण देव को इस प्रकार

अपमानित होते देख, क्षुब्ध व व्यथित होकर नरेन्द्र फिर कभी ब्राह्म समाज में नहीं गए।

सूक्ष्म योग-दृष्टि की शक्ति से नरेन्द्र के महिमासमुज्ज्वल भविष्य का दर्शन कर ही श्रीरामकृष्ण देव उनके प्रति आकर्षित हुए थे। नरेन्द्र ने भी उनकी असीम निष्ठा, जगज्जननी पर पूर्ण निर्भरता, त्याग द्वारा पवित्र जीवन आदि देखकर एक प्रकार से अपने अनजान में ही उनके श्रीचरणों में आत्मसमर्पण किया था। परन्तु श्रीरामकृष्ण देव के अन्यान्य भक्तगण पहले पहल नरेन्द्र को उतनी श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देख सके। उनके लिए श्रीरामकृष्ण देव की तीव्र व्याकुलता कई लोगों की दृष्टि में रहस्यमय प्रतीत हुई। प्रबल आत्मविश्वास से उत्पन्न नरेन्द्रनाथ के निष्कपट निर्भीक आचरण साधारण मनुष्य की स्थूल दृष्टि में दम्भ व औद्धत्य से जान पड़े। विशेषतः, भक्तों का भावावेश में रोना, बात-बात में दयामय भगवान की कृपा के लिए प्रार्थना, अपने को कीटानुकीट के समान हेय मानकर आत्मनिन्दा करना आदि बातों की वे कठोर आलोचना करते थे। पुरुष, पुरुष की ही तरह मस्तक ऊँचा करके दृढ़ उद्यम व अटूट संकल्प के साथ भगवान की आराधना करें—यही वे उचित समझते थे। इसीलिए कई भक्त नरेन्द्र की कठोर समालोचना से निरुत्तर होकर दुःख मानते थे। सभी बातों में निःसंकोच स्वाधीन व्यवहार, स्पष्टवादिता आदि के लिए वे कई लोगों के अप्रिय भी थे, परन्तु फिर भी उनकी उदासीन प्रकृति पर लोगों की निन्दा-प्रशंसा का कोई प्रभाव न पड़ता था। साधारण मनुष्य उन्हें कुछ भी क्यों न समझे, श्रीरामकृष्ण देव जानते थे, नरेन्द्र निर्भीक और सत्यवादी हैं, उनकी वाणी और कार्य में कहीं पर ज़रा भी कपट नहीं है।

बचपन से ही नरेन्द्रनाथ के हृदय में जब कोई सन्देह उपस्थित होता था तो उसकी मीमांसा कर लिए बिना उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त होती थी। रातदिन सोचकर भी वे श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में किसी प्रकार स्थिर

निश्चय करने में असमर्थ होकर अस्थिर हो उठे और इस अस्थिरता में ही वे दृढ़ता व सतर्कता के साथ श्रीरामकृष्ण देव के पास आना जाना — यहाँ तक कि, उनकी परीक्षा करने के लिए दक्षिणेश्वर में रात्रि-वास तक करने लगे।

श्रीरामकृष्ण देव की परीक्षा लेना, उनकी बात को हँसकर उड़ा देना इत्यादि बाह्य आचरण के बीच में से नरेन्द्र का जो अ-नमनीय व्यक्ति-स्वातन्त्र्य प्रकट होता था उसे दम्भ मानकर श्रीरामकृष्ण देव के अनेक भक्त विरक्त हो जाते थे। परन्तु जो लोग घनिष्ठ परिचय के परिणाम में नरेन्द्र के गम्भीर अन्तःस्तल से परिचित थे वे ही जानते थे कि श्रीरामकृष्ण देव के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति कितनी असीम थी। जिन श्रीरामकृष्ण देव की कृपा का कण-मात्र प्राप्त कर कई भक्त आनन्द में आपे से बाहर हो जाते थे, करुणा की उसी मन्दाकिनी-धारा को नरेन्द्रनाथ ने धीर स्थिर भाव से खड़े होकर शिर पर ले लिया था। असल में स्वार्थ के लवलेश से शून्य इस अपूर्व आध्यात्मिक प्रेमसम्बन्ध का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। एक दिन बात-बात में श्रीरामकृष्ण देव एकाएक बोल उठे, "तू यदि मेरी बात नहीं सुनता तो फिर यहाँ क्यों आता है?" उन्होंने उसी समय उत्तर दिया, "आपसे प्रेम करता हूँ, इसीलिए देखने को आता हूँ, बात सुनने के लिए नहीं!" नरेन्द्र का यह उत्तर सुनकर श्रीरामकृष्ण देव भावानन्द से गद्गद हो उठे। मन की गुप्त बात प्रकट हो जाने से नरेन्द्र विशेष रूप से लज्जित हुए।

श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र के प्रति जिस प्रकार स्नेह का प्रदर्शन करते थे उसे देखकर उन्होंने एक दिन हँसी में कहा था, "पुराण में लिखा है, भरत राजा हिरन के बारे में सोचते सोचते मृत्यु के बाद हिरन हुए थे। आप मेरे लिए जैसा करते हैं, उससे आपकी भी दशा वैसी ही होगी।" यह बात सुनकर बालक की तरह सरल श्रीरामकृष्ण देव ने चिन्तित होकर कहा था, "बात तो ठीक ही है, तो फिर क्या होगा? मैं तो तुझे देखे

बिना नहीं रह सकता।" सन्देह का उदय होते ही श्रीरामकृष्ण देव काली-मन्दिर में माँ के पास दौड़ गए। थोड़ी देर के बाद हँसते हुए लौटकर उन्होंने कहा, "जा साले, मैं तेरी बात नहीं सुनूँगा। माँ ने कहा, तू उसे (नरेन्द्र को) साक्षात् नारायण मानता है और इसीलिए उससे प्रेम करता है। जिस दिन उसके भीतर नारायण को न देख सकेगा, उस दिन उसका मुँह भी न देख सकेगा।"

श्रीरामकृष्ण देव ने नरेन्द्र को देखने के साथ ही उन्हें उच्च अधिकारी तथा दैवी शक्तिसम्पन्न विशुद्धचित्त साधक समझ लिया था। इसीलिए अपने अहेतुक प्रेम की, हजारों धाराओं में वर्षा कर उन्हें उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति के पथ में परिचालित कर दिया था।

एक दिन नरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण देव के सामने भक्तों के बीच में बैठे थे, ऐसे समय पर श्रीरामकृष्ण देव ने प्रसंगक्रम से कहा, "इसके (उनके अपने शरीर के) भीतर जो है, वह शक्ति है। उसके (नरेन्द्र के) भीतर जो है, वह पुरुष तथा मेरी ससुराल है।"—इन बातों को सुनकर नरेन्द्र धीरे से हँस पड़े। मन ही मन सोचा, फिर पागलपन शुरू हुआ!

भक्तगण ईश्वरविषयक संगीत तथा पारमार्थिक चर्चा कर रहे थे। धीरे धीरे दिन समाप्त होते देख वे सभी चुप हो गए। सामने सुविशाल गंगा-वक्ष में लहरों की चोटियों पर नाचती हुई दिगन्त की पीली किरणें धीरे धीरे अदृश्य हो गईं। सन्ध्या की धूसर छाया दूसरी ओर के सौधशिखर तथा वृक्षशीर्षों को अस्पष्ट करने लगी। अभी तक मन्दिर में सन्ध्या-आरती की घन्टा-ध्वनि नहीं उठी थी। श्रीरामकृष्ण देव एक-दृष्टि से नरेन्द्रनाथ की ओर ताक रहे थे; एकाएक आसन से उठकर उन्होंने अपना दाहिना चरण उनके स्कन्ध पर रखा। उसी समय नरेन्द्र का अभूतपूर्व भावान्तर हुआ। उन्होंने अनुभव किया,—मानो उनके आसपास की दृश्यमान सभी चीज़ें एक अनन्त सत्ता में विलीन हो गईं; केवल वे अकेले रह गये,—

अन्त में उनका ' मैंपन ' भी विलीन होने लगा, वे भय व विस्मय से चीत्कार कर उठे,—"ए, जी, देखो, तुमने मेरा यह क्या किया?— अरे, मेरे माँ-बाप जो हैं।"

श्रीरामकृष्ण देव के उनकी छाती पर हाथ रखते ही वे फिर से स्वाभाविक स्थिति में आ गए और देखा अद्भुत देव-मानव उनके सामने खड़े होकर हँस रहे हैं। चिर काल से अपने को दृढ़-हृदय मानते हुए नरेन्द्रनाथ का जो गर्व था, आज वह जड़मूल से मिट गया!— मातापिता के स्नेह से अन्ध होकर, नाम-रूप की सीमा को तोड़कर वे योगियों के ईप्सित चिदानन्द-समुद्र में कूद न सके।

जो महापुरुष केवल अपने स्पर्श से एक साधारण व्यक्ति को अनेक जन्मों की साधना के फलरूपी सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक सम्पद — समाधि — का अधिकारी बना सकते हैं वे कभी पागल नहीं हैं। उन्होंने फिर सोचा, यह सम्मोहन विद्या (Hypnotism) तो नहीं है? जिससे श्रीरामकृष्ण देव भविष्य में उन पर अपना प्रभाव विस्तारित करते हुए उनका उक्त प्रकार फिर भावान्तर न कर सकें इसलिए इस विषय में नरेन्द्रनाथ सतर्क हो गए।

इधर बी. ए. की पढ़ाई के साथ ही साथ नरेन्द्र अपने पिताजी के आदेश के अनुसार सुप्रसिद्ध अटर्नी निमाइचरण बसु के पास अटर्नी का काम सीखने लगे। पुत्र को गृहस्थ बनाने के लिए विश्वनाथ बाबू उनके विवाह की तैयारी करने लगे। नरेन्द्र दक्षिणेश्वर में परमहंस के पास आया जाया करते हैं यह बात उन्हें ज्ञात थी, परन्तु इसकी वे विशेष परवाह न करते थे। बी. ए. में पढ़ते समय नरेन्द्र ने रामतनु बसु लेन के अपनी मातामही के मकान में अपना पढ़ने का कमरा स्थिर कर लिया था। आत्मीय स्वजन तथा अन्य लोगों के आने से पिता का घर सदा कलरव से मुखरित रहता था जिससे उनकी पढ़ाई में विशेष विघ्न होता था। नरेन्द्र-नाथ धनी की सन्तान होने पर भी इस कमरे में उनके साधारण बिस्तरे पर

कुछ पाठ्य पुस्तकें, एक तानपुरा तथा कुछ अन्य सामानों को छोड़कर और कोई सामान न था। निर्जन वास, ध्यान, शारीरिक कठोरता तथा संयम के अभ्यास आदि के साथ वे एक सच्चे ब्रह्मचारी की तरह अपना जीवन व्यतीत करने लगे। कभी कभी दक्षिणेश्वर से श्रीरामकृष्ण देव वहाँ पर आकर उन्हें साधन-भजन के सम्बन्ध में नाना प्रकार के उपदेश दे जाते थे। नरेन्द्रनाथ के साथ श्रीरामकृष्ण देव की इतनी घनिष्ठता उनके घरवालों के लिए उतनी प्रीतिकर न थी, परन्तु कोई भी उनके कार्य का प्रतिवाद न करता था। सभी जानते थे, स्वाधीनचेता नरेन्द्र को निषेध करके नियंत्रित करना सम्भव नहीं। पर उनका विवाहित जीवन के प्रति प्रबल वैराग्य, संसार के प्रति अनासक्त भाव आदि देखकर घरवाले तथा मित्रगण कुछ भयभीत से हुए।

बी. ए. परीक्षा के अधिक दिन बाकी न थे। एक दिन प्रायः शाम हो जाने के पश्चात् नरेन्द्र पाठ्य पुस्तक में मन लगाने की चेष्टा कर रहे थे ऐसे समय उनके एक सहपाठी मित्र वहाँ पर उपस्थित हुए तथा गम्भीर भाव से नरेन्द्र को नाना प्रकार के उपदेश देने लगे। उनका कहना था कि दर्शन-शास्त्रों की चर्चा, साधुसंग, धर्मालोचना आदि पागलपन छोड़ जिससे सांसारिक 'सुख सुभीता' हो वैसी चेष्टा करना कर्तव्य है। कुछ दिनों से तथाकथित सांसारिक विज्ञ व्यक्तियों से नरेन्द्र इसी प्रकार का उपदेश पाते आ रहे थे। अब प्रिय मित्र के मुँह से भी उसी प्रकार का उपदेश सुनकर उन्होंने व्यथित हृदय से अपनी मानसिक अशान्ति का वर्णन कर कहा, "मैं समझ रहा हूँ संन्यास ही मानव-जीवन का सर्वोच्च आदर्श होना चाहिए। नित्य परिवर्तनशील अनित्य संसार के पीछे सुख की कामना से इधर उधर दौड़ने के बजाय उस अपरिवर्तनीय 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' को पाने के लिए प्राणपण से चेष्टा करना सौगुना श्रेष्ठ है।

"वैराग्य के प्रेमी नरेन्द्रनाथ जब उत्साह के साथ त्याग की महिमा क

वर्णन करने लगे तो उनके मित्र के साथ उनका तर्क शुरू हुआ। थोड़ी देर में उत्तेजित होकर उनके मित्र ने कहा, 'देखो नरेन्, तुम्हारी जिस प्रकार बुद्धि व प्रतिभा थी, तुम जीवन में काफी उन्नति कर सकते थे, परन्तु दक्षिणेश्वर के परमहंस ने तुम्हारी बुद्धि बिगाड़ दी है। यदि कुशल चाहते हो, तो उस पागल का संग छोड़ दो — नहीं तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा।'"

नरेन्द्रनाथ चुप रहे। मित्र श्रीरामकृष्ण देव के सम्बन्ध में नाना प्रकार के प्रश्न करने लगे। अन्त में नरेन्द्र उठकर कमरे के अन्दर टहलने लगे। उनका व्यथित मुखमडण्ल गम्भीर हो उठा। बहुत देर बाद मौन भंग करके उन्होंने कहा, "भाई, तुम श्रीरामकृष्ण देव को समझ नहीं रहे हो — और मैं क्या कहूँ, मैं स्वयं भी उन्हें पूरी तरह से समझ नहीं सका हूँ। फिर भी उस सरल, सौम्य महापुरुष से मैं प्रेम करता हूँ—क्यों करता हूँ, यह कह नहीं सकता।"

उक्त मित्र दुःखी हो, यह सोचकर वहाँ से चले गए कि परमहंस के 'संग-दोष' से नरेन्द्र की बुद्धि बिगड़ गई है!

नरेन्द्रनाथ नाना प्रकार की विरुद्ध समालोचनाओं की परवाह न करते हुए अपने निर्दिष्ट पथ पर ही चलने लगे। बी. ए. की परीक्षा समाप्त हुई। इस परीक्षा की तैयारी के लिए उन्हें कठोर मानसिक परिश्रम करना पड़ा था। थकावट को दूर करने के लिए वे बीच बीच में सहपाठी मित्रों के साथ संगीत, हँसी आदि आमोद-प्रमोद में सम्मिलित हो जाते थे। नरेन्द्र को बाध्य होकर ही मित्रों के आनन्दोत्सव में सम्मिलित होना पड़ता था, क्योंकि वे एक तरह से जबरदस्ती उन्हें ले जाते थे।

इसी बीच एक दिन निमंत्रित होकर नरेन्द्र वराहनगर के किसी मित्र के यहाँ गए — रात में मित्रों के साथ वे संगीत आदि में संलग्न थे, इसी समय उस कमरे में प्रविष्ट होकर एक व्यक्ति ने समाचार दिया — नरेन्द्रनाथ के पिता एकाएक हृदय-रोग से परलोक सिधार गए। उज्ज्वल आलोकपूर्ण उस कमरे में नरेन्द्रनाथ ने अपने चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार देखा। जल्दी

जल्दी उन्मत्त की तरह घर आकर देखा — उनके गौरव व गर्व के हिमालय सदृश पितृदेव की मृत देह को घेरकर माता, भ्राता व भगिनी सभी रो रहे हैं। नरेन्द्र का दृढ़ हृदय विचलित हो उठा, पितृशोक में अधीर होकर वे आँसू बहाने लगे।

नामी वकील विश्वनाथ दत्त धन तो यथेष्ट कमाते थे, परन्तु उदार तथा मुक्तहस्त होने के कारण भविष्य के लिए कुछ भी संचय न कर सके थे। जिस परिवार का मासिक व्यय एक हजार रुपयों से अधिक है वह अब कैसे चलेगा? विधवा माता अपने बच्चों तथा परिवार वालों को लेकर अपने चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार देखने लगीं। सांसारिक विषय में उदासीन नरेन्द्र-नाथ एकाएक दारिद्रय के कठोर आघात से चौंक पड़े। हमेशा से लाड़प्यार में प्रचुरता के बीच में प्रतिपालित भाई-बहिनों को दाने दाने के लिए लाचार देख उनका हृदय टूट गया। सम्पत्ति के समय जो लोग परम मित्र थे, संसार के चिरकाल के नियमानुसार विपत्ति के समय वे हट गए। तीक्ष्णबुद्धि नरेन्द्र-नाथ सब कुछ समझ गए, परन्तु वे आत्मविस्मृत न हुए; धैर्य के साथ वे निर्धनता की पीड़ा सहन करने लगे। मित्रों को पारिवारिक दुःखद स्थिति की बात उन्होंने जानने भी न दी। एक ओर वे कानून की परीक्षा की तैयारी करने लगे और उधर काम-धन्धे की भी खोज करने लगे। तीन चार महीने बीत गए, परन्तु फिर भी किसी प्रकार का सुभीता न हो सका। अन्न के अभाव से किसी किसी दिन घरवालों को आहार भी प्राप्त नहीं होता था। घर में खाद्य द्रव्य की कमी को गुप्त रूप से जानकर नरेन्द्रनाथ माता से यह कह-कर कि मेरा बाहर निमंत्रण है, घर में भोजन न करते थे। वे एक प्रकार स उपवास करके अथवा बहुत थोड़ा ही खाकर दिन बिताने लगे। लगातार उपवास से उनका शरीर कृश तथा दुर्बल हो गया, यहाँ तक कि किसी किसी दिन प्रबल क्षुधा की ज्वाला से वे मूर्छित की तरह ही पड़े रहते थे। कुछ सहृदय मित्र अवश्य ही इस विपत्ति में उनकी आर्थिक सहायता करने को

उद्यत हुए, परन्तु जन्म से आत्म-निर्भरशील नरेन्द्रनाथ विनीत भाव से उन सहायताओं को ग्रहण करने से इन्कार कर देते थे। पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए वे भिक्षा स्वीकार कर लेंगे, — यह सोचना तक उनके लिए असहनीय था। उक्त मित्रगण नरेन्द्रनाथ के गम्भीर आत्म-सम्मान-ज्ञान को जानते थे। इसलिए प्रत्यक्ष रूप से सहायता करने में असमर्थ होकर वे बीच बीच में भोजन के लिए उन्हें निमंत्रण देते रहते थे। वे किसी किसी दिन विशेष कार्य का बहाना कर निमंत्रण स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते थे और किसी किसी दिन दिखावटी प्रफुल्लता व आनंद के साथ आमोद-प्रमोद में सम्मिलित होते थे। परन्तु उन्हें भोजन के लिए अनुरोध करने के साथ ही उनका प्रफुल्लित मुखमण्डल गम्भीर हो उठता था, उनके दुःखी मन में परिवार के दारिद्र्य-दुःख एक एक करके आने लगते थे — मन में आता था, प्राणों से प्यारे भूखे भाई-बहिनों के मलिन मुखमण्डल की उपेक्षा कर वे स्वयं कैसे स्वादिष्ट भोज्य वस्तुओं का ग्रहण कर सकेंगे ?

भाग्यचक्र का सहसा विवर्तन हो जाने से जिन्हें बालक तथा यौवन के सन्धिकाल में पितृहीन होकर, खाली हाथ, परिवार वालों के भरण-पोषण का भार अपने कन्धे पर लेकर जीवन-संग्राम में अग्रसर होना पड़ा है, वे ही नरेन्द्र-नाथ की वर्तमान स्थिति का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। भाग्य के प्रतिकूल होते ही अपने पिता के मित्रों को सम्बन्धविच्छेद करते देख नरेन्द्र बड़े विस्मित हुए। संसार की शोचनीय कृतघ्नता का बीभत्स रूप देखकर उनका चित्त विद्रोही हो उठा।

आहत आत्माभिमान को निश्चल धीरता के साथ संयत रखते हुए युवक नरेन्द्र नंगे पैर, नंगे सिर दोपहर की धूप में इधर उधर नौकरी की तलाश में कलकत्ते के राजपथों पर घूमने लगे; दिन भर के बाद सन्ध्या को थके मांदे व्यर्थ चेष्टा की क्लान्ति से वे अपने घर लौट जाते — इसी तरह उनके दिन बीतने लगे। इस बीच में उनके दुःख को परिपूर्ण कर डालने के लिए

एक और नवीन विपत्ति आ खड़ी हुई — उन्हीं के खानदान के एक व्यक्ति ने उन्हें उनके घर से निकाल बाहर करने के लिए एक मुकदमा खड़ा कर दिया !

एक दिन प्रातःकाल नरेन्द्रनाथ श्री भगवान् के नाम का उच्चारण करते हुए बिस्तर से उठ रहे थे कि उन्होंने अपनी माँ को कहते हुए सुना, "चुप रह छोकरे, बचपन से ही केवल भगवान् भगवान्! भगवान् ने ही तो यह सब किया।"

ये शब्द उन्हें लग गए और इससे उनका अभिमान प्रचण्ड रूप से जग उठा। तो क्या सचमुच में भगवान् दरिद्रों का कातर क्रन्दन नहीं सुनते ?— —या सुनना नहीं चाहते ? क्या वे निश्चल निर्विकार होकर हाथ खींचकर इस निष्ठुर सृष्टि की दानवी लीला देख रहे हैं ? जो भगवान् इस लोक में क्षुधार्तों को एक टुकड़ा रोटी देकर जीवित नहीं रख सकते वे अन्त में अक्षय स्वर्ग में अनंत सुख का अधिकारी बनाएंगे — क्या यह सम्भव है ? तो क्या ईश्वर नाम का कुछ भी नहीं है ? हाँ, है। परन्तु वे मंगलमय या दयामय नहीं हैं— वे निर्विकार हैं। दुःखी के क्रन्दन से उनका हृदय नहीं पिघलता—वे हृदयहीन हैं !

अपने मित्रों के पास नरेन्द्र कभी कभी अपने ईश्वर सम्बन्धी इस नवीन धारणा की बात प्रकट कर देते थे। किस मर्मभेदी दुःख के साथ वे ईश्वर की चिरप्रतिष्ठित प्रभुता को दुःसह अभिमान से अस्वीकार करते थे, यह साधारण मनुष्य कैसे समझेगा ? इससे कई लोगों की यह धारणा हो गई कि नरेन्द्रनाथ नास्तिक हो गए हैं। पुरुषकार की सहायता से ईश्वर के विरुद्ध खड़े होने के पीछे जिस गर्वदृप्त आत्मशक्ति की प्रेरणा है, जिस महिमासमुज्ज्वल त्याग का विकास है, दृढ़विश्वासी भक्त का जो असीम अनुराग है, वह साधारण मनुष्य की दृष्टि में नहीं आ सकता।

इसे तो समझे थे — एकमात्र भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस देव। कभी कभी घर-गृहस्थी के कामों में फँस जाने के कारण नरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर नहीं जा सकते थे तब श्रीरामकृष्ण देव उन्हें देखने के लिए व्याकुल होकर

दूसरे भक्तों से नरेन्द्रनाथ को दक्षिणेश्वर लाने के लिए अनुरोध करते थे। कलकत्ते के कुछ भक्तों के कान में यह बात पड़ी कि कुसंगति में पड़कर नरेन्द्र का चालचलन बिगड़ गया है—पहले जैसा धर्मभाव अब उनमें नहीं है। यह सब झूठी निन्दा सुनकर सन्देहवश कुछ भक्त नरेन्द्रनाथ की परीक्षा लेने गए। उनके वार्तालाप में सन्देह का आभास पाकर नरेन्द्रनाथ का रुद्ध अभिमान जाग्रत हो उठा। उन्होंनें सोचा, कैसा आश्चर्य है! बाहर के लोग जो कुछ कहते हैं, उसमें ये लोग भी विश्वास कर लेते हैं! सम्भव है, श्रीराम-कृष्ण देव ने भी उसी झूठी बदनामी पर विश्वास करके ही इन लोगों को परीक्षा लेने के लिए भेजा हो। मन में इस प्रकार की चिन्ता उत्पन्न होते ही नरेन्द्र के हृदय में तीव्र अभिमान जाग उठा। उनके कटु उत्तरों को सुन-कर उन भक्तों ने श्रीरामकृष्ण देव के पास जाकर कहा, "नरेन्द्र का अधःपतन हो गया है इसमें सन्देह नहीं।" श्रीरामकृष्ण देव अपने प्राण से भी प्यारे नरेन्द्र की सांसारिक विपत्ति आदि की बात इससे पहले ही जानकर मन में तीव्र वेदना का अनुभव कर रहे थे— अब नरेन्द्र के स्वभावपवित्र चरित्र पर इस प्रकार कलंक का आरोप सुनकर उन्होंने भक्तों से कहा, "चुप रहो साले, माँ ने कहा, वह कभी ऐसा नहीं हो सकता। आगे कभी ऐसी बात कहोगे तो मैं तुम्हारा मुँह तक न देखूँगा।"

नरेन्द्र पर श्रीरामकृष्ण देव का कितना दृढ़ विश्वास था, यह जानना कठिन है। एक दिन प्रसिद्ध डाक्टर बाबू महेन्द्रलाल सरकार ने नरेन्द्र की प्रशंसा करते हुए श्रीरामकृष्ण देव से कहा था, "ऐसा बुद्धिमान लड़का मैंने बहुत कम देखा है। इसी उम्र में इतना पाण्डित्य और साथ ही इतनी नम्रता। ये सब लड़के यदि धर्म के लिए अग्रसर हों तो देश का बड़ा कल्याण होगा।" नरेन्द्रनाथ की प्रशंसा सुनकर श्रीरामकृष्ण देव ने विह्वल हृदय से एकाएक कह दिया, "ऐसा होगा क्यों नहीं? इसी के लिए तो अब की बार यहाँ का (अपने शरीर की ओर दिखाकर) आना हुआ!"

दुर्दम्य अभिमान के कारण यद्यपि नरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर नहीं गए, परन्तु चिर काल से दृढ़हृदय होने का उनका जो अहंकार था वह निःशेष चूर चूर हो गया। घोर चेष्टा करते हुए भी वे अपने हृदय से श्रीरामकृष्ण देव की स्मृति को मिटा न सके। उन महापुरुष की कृपा से उन्होंने जिन अद्‌भुत आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्राप्त किया था, उन्हीं अनुभूतियों ने उनके मानस-पट बार बार उदित होकर उनकी काल्पित नास्तिकता को हटा दिया! वे विस्मित होकर सोचने लगे,—मैं कर क्या रहा हूँ?

सोचा कि केवल धनोपार्जन तथा परिवार का प्रतिपालन करते जैसे तैसे गतानुगतिक प्रथा के अनुसार जीवन व्यतीत कर देने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ है। मेरे जीवन का उद्देश्य साधारण नहीं है, उसका लक्ष्य है अखण्ड सच्चिदानन्द की प्राप्ति। निदान एक दिन स्थिर करके नरेन्द्रनाथ संसार छोड़ने के लिए गुप्त रूप से तैयारी करने लगे।

उसी दिन श्रीरामकृष्ण देव ने कलकत्ते के किसी भक्त के घर पर शुभ-पदार्पण किया था,—नरेन्द्रनाथ यह समाचार पाकर वहाँ आ पहुँचे—इच्छा थी, गृहत्याग करने के पहले श्रीगुरुदेव के चरणों की वन्दना करके संसार से चिर विदा ग्रहण कर लूँ। परन्तु ऐसा न हुआ। श्रीरामकृष्ण देव के व्याकुल अनुरोध को टालने में असमर्थ हो उन्हें दक्षिणेश्वर जाना पड़ा।

श्रीरामकृष्ण देव भावाविष्ट थे। पलकविहीन नेत्रों से नरेन्द्र की ओर ताक रहे थे,—विशाल नेत्रद्वय से अविरल अश्रुधारा बह रही थी। विह्वल नरेन्द्रनाथ के हृदय की संचित व्यथा विगलित होकर नेत्रों के रास्ते से निकल पड़ी। उनके विद्रोही मन में यह कैसी रहस्यमय—प्राणमय प्रेरणा थी। दोनों ही निर्वाक् थे। अन्य उपस्थित भक्तगण विस्मय से स्तम्भित थे। बहुत देर बाद श्रीरामकृष्ण देव उठ खड़े हुए और सकरुण नेत्रों से नरेन्द्र की ओर ताकते हुए स्नेहस्निग्ध स्वर में बोले, "बेटा, कामिनी और कांचन का त्याग हुए बिना कुछ न होगा।" श्रीरामकृष्ण देव को डर था कि कहीं नरेन्द्रनाथ

संसार में लिपट न जाय। दोनों चुपचाप थे परन्तु दोनों के नेत्र डबडबाए हुए थे। इस अद्भुत व्यापार का रहस्य जानने के लिए एक भक्त ने जब कौतूहल-वश प्रश्न किया तो श्रीरामकृष्ण देव ने मृदु हास्य के साथ उत्तर दिया, "हमें आपस में कुछ हो गया!" रात्रि में नरेन्द्र को एकान्त में ले जाकर श्रीराम-कृष्ण देव ने उन्हें तरह तरह से सान्त्वना व उपदेश देते हुए कहा कि जितने दिन उनका शरीर है उतने दिन संसार में रहना होगा और यह भी बार बार कहने लगे कि उन्होंने किसी विशेष कार्य को ही सम्पन्न करने के लिए जन्म-ग्रहण किया है। दूसरे दिन प्रातःकाल जिस समय नरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर से घर लौटे, तो एक अभूतपूर्व आनंद की स्मृति ने, — आशा की वाणी ने मानो उनके हृदय के पहाड़ जैसे भार को हटा दिया। अब श्रीरामकृष्ण देव उनकी दृष्टि में रहस्यमय उन्मत्त न रह गए; अब वे उनके जीवन के चरम आदर्श, गुरु, पिता, सर्वस्व बन गए।

देखा गया है कि नाबालिग व विधवा की सम्पत्ति को हड़पने की चेष्टा हमारे देश में बहुधा होती है। खानदान वालों के षड़यंत्रमूलक मुकदमों के लिए नरेन्द्रनाथ तैयार होने लगे। उन्होंने मकान का बटवारा कर लेने के लिए अदालत से सहायता माँगी। उनका उद्देश्य था, — मकान के अच्छे हिस्से पर अधिकार प्राप्त करना। माता भुवनेश्वरी निरुपाय हो गईं। विपत्ति के बाद विपत्ति के आघात से मर्माहत सिंह की तरह नरेन्द्रनाथ अन्तिम शक्ति के साथ विपक्ष पर आक्रमण करने के लिए तैयार हो गए। उनका प्रण था, अन्याय के पास, असत्य के सामने, कभी सिर न झुकाएँगे। अदालत में मुक-दमा चलने लगा। नरेन्द्र के स्वर्गीय पिताजी के मित्र प्रसिद्ध बैरिस्टर उमेश-चन्द्र बन्दोपाध्याय (W. C. Banerjee) ने स्वयं प्रवृत्त होकर मुकदमा चलाने का भार ले लिया। इस मुकदमे से सम्बन्धित कुछ घटनाओं में नरेन्द्र की तीक्ष्ण बुद्धि, चरित्र की दृढ़ता आदि का परिचय मिला था। विपक्ष के वकील नरेन्द्रनाथ से जिरह कर रहे थे उस समय नरेन्द्रनाथ के निर्भीक स्पष्ट, धीर

गम्भीर उत्तर सुनकर तथा यह जानकर कि वे कानून पढ़ रहे हैं जज साहब हर्ष से बोल उठे, "युवक, समय आने पर तुम एक अच्छे वकील बनोगे।" जज साहब ने सारी स्थिति समझकर नरेन्द्र के पक्ष में राय दे दी। मुकदमे में जीत का समाचार पाते ही नरेन्द्रनाथ आनन्द के साथ अदालत से माँ के पास दौड़े जा रहे थे कि विपक्ष के अटर्नी ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें रोका और आनंद के साथ कहा, "जज साहब से मैं भी सहमत हूँ। कानून ही आपका योग्य क्षेत्र है। मैं आपका उज्ज्वल भविष्य चाहता हूँ।"

नरेन्द्र ने साँस रोककर दौड़ते हुए घर आकर माँ से कहा, "माँ, मकान रह गया।" भुवनेश्वरी ने आनंद में अपने को भूलकर विजयी पुत्र को छाती से लगा लिया। दुःख के बीच में भी भगवान् इसी तरह से कभी कभी आनंद का दृश्य बीच में ला देते हैं — यही संसार है!

दिन के बाद दिन बीतने लगे — पर नरेन्द्र की सांसारिक परिस्थिति में कुछ विशेष सुविधाजनक परिवर्तन नहीं हुआ। एक दिन उन्होंने सोचा, सम्भव है श्रीरामकृष्ण देव की कृपा से कुछ सुविधाजनक परिवर्तन हो भी सकता है। मन में यह बात उठने के साथ ही वे दक्षिणेश्वर चले आए। अपने प्रिय नरेन्द्र को पा श्रीरामकृष्ण देव आनंद से विभोर हो गये, परन्तु नरेन्द्र की प्रार्थना सुनकर उनका मुखमण्डल गम्भीर हो उठा। असीम विश्वास के साथ नरेन्द्र ने उनसे कहा, "महाराज, मेरी माँ व भाई-बहनों को दो दाने अन्न खाने को मिल सके इसके लिए आप अपनी 'माँ' से कुछ अनुरोध कर दीजिए।" श्रीरामकृष्ण देव ने कहा, "अरे, मैं कभी माँ से कुछ नहीं माँगता। फिर भी तुम लोगों का भला हो, इसके लिए एक बार अनुरोध किया था, परन्तु तू तो माँ को मानता ही नहीं, इसीलिए माँ तेरी बात पर कुछ ध्यान नहीं देती।"

घोर निराकारवादी नरेन्द्र की साकार में ज़रा भी निष्ठा न थी। मूर्ति-पूजाविरोधी नरेन्द्रनाथ इस परिस्थिति में क्या करेंगे? — अविश्वास? अब तो अविश्वास के दिन चले गए थे। तो फिर क्या विश्वास? — बिना प्रमाण

के ही साकार में विश्वास करेंगे ? यह कैसे सम्भव है ? नरेन्द्रनाथ शिर झुका-कर रह गए।

परन्तु श्रीरामकृष्ण देव उनके लिए क्या नहीं कर सकते थे ? उन्होंने जिसके दुःख को जानकर स्वयं भिक्षा के लिए निकल पड़ने का संकल्प किया था, क्या वे उसी नरेन्द्र के अनुरोध की उपेक्षा कर सकते थे ? परन्तु लीलामय श्रीरामकृष्ण देव भी छोड़ने वाले न थे, वे शिष्य की परीक्षा लेने के लिए बार बार कहने लगे, " माँ की कृपा के बिना कुछ न होगा। " नरेन्द्र को निरुत्तर देख उन्होंने कहा, " अच्छा, आज मंगलवार है, मैं कहता हूँ आज रात को काली-मन्दिर में जाकर माँ को प्रणाम करके तू जो कुछ माँगेगा माँ तुझे वही देगी। "

विश्वास रहे या न रहे — श्रीरामकृष्ण देव की प्रस्तरमयी जगन्माता क्या चीज़ है, इसकी परीक्षा करके देखना होगा — नरेन्द्र ने यही सोचा।

सायं-सूर्य की आरक्त रश्मिमाला इधर उधर बिखरे हुए छोटे छोटे मेघ-खण्डों पर सुनहली रेखाएँ अंकित करती हुई धीरे धीरे विलीन हो गई। देवालयों में सन्ध्या का आरती-वाद्य मृदु गम्भीर तान में उठकर कर्मश्रान्त चित्त पर एक अपूर्व प्रशान्ति की वर्षा करने लगा। श्रीरामकृष्ण देव उस समय बरामदे में टहलते हुए मधुर कण्ठ से भगवान् के नामों का कीर्तन करने लगे। दीर्घ उन्नत देह, आजानुलम्बित बाहुद्वय, प्रशस्त ललाट पर महिमा की बिखरी हुई द्युति, नेत्र में शान्तोज्ज्वल करुणा — इन पर नरेन्द्रनाथ की दृष्टि मोहित होकर स्थिर सी रह गई। क्या वे सोच रहे थे कि ईश्वर की चिर जागृत महिमा की घनी-भूत मूर्ति-स्वरूप यह अद्भुत देव-मानव उनकी दुर्बल कल्पना से परे — बिलकुल परे हैं जहाँ उनकी विचार-बुद्धि पहुँच ही नहीं सकती ?

रात एक पहर बीत गई — नरेन्द्रनाथ संदिग्ध चित्त से 'काली-घर' की ओर चले, यह सोचकर कि आज श्रीरामकृष्ण देव की कृपा से अपने परिवार के दुःख-दैन्य का अन्त होगा — उत्कण्ठित आनन्द से उनका चित्त नाच उठा।

कुल-चूड़ामणि साधक, और उनसे भी अधिक 'आश्चर्यमय' थे उनके गुरुदेव!

श्री सद्गुरु की कृपा से नरेन्द्रनाथ के परिवार का अभाव अनेकांश में दूर हुआ। नरेन्द्र अटर्नी आफिस में काम कर तथा कुछ पुस्तकों का अनुवाद करके आजीविका चलाने लगे। अन्त में स्थायी रूप से विद्यासागर महाशय के स्कूल में उन्होंने अध्यापन-कार्य स्वीकार कर लिया।

१८८३ ई० से १८८४ ई० तक श्रीरामकृष्ण कलकत्ते के आबाल-वृद्ध-वनिता के सुपरिचित हो गए थे। नर-नारियों के दल उनके दर्शन के लिए, श्रीमुख की — बच्चों के भी समझने योग्य — सरल मधुर उपदेश-वाणी सुनने के लिए दक्षिणेश्वर में आने-जाने लगे। विश्वविद्यालय के कुछ श्रेष्ठतम अर्ध-मुकुलित फूलों को चुनकर श्रीरामकृष्ण देव आकाश जैसा उदार एक आदर्श संघ गढ़ने लगे। बारह वर्षों की किस गम्भीर असाध्य तपस्या व साधना के बीच में से जगदम्बा ने इस अभिनव आदर्श पुरुष का निर्माण किया— इसका अनुमान स्वल्पबुद्धि मानव कैसे करेगा? जिनकी इच्छा-मात्र से नर-पशु को पल भर में देवत्व प्राप्त होता था, जिनके स्पर्श-मात्र से कोई भी साधनाविहीन मानव अनायास समाधि प्राप्त कर सच्चिदानन्द की उपलब्धि करता था,— जिनके कृपाकटाक्ष से एक मुहूर्त में इष्टदर्शन होता था,— परन्तु जो अपूर्व विनयपूर्ण सरलता के साथ अपने को दीनातिदीन बताते थे, — जो पाँच वर्ष के बालक की तरह मातृ-निर्भरता के साथ प्रत्येक वाक्य व कार्य में जगदम्बा के मुख की ओर ताकते थे, — जो समस्त आध्यात्मिक अनुभूति-समूह की समष्टि के रूप में सभी धर्म के, सभी मत-मतान्तर के धर्मजिज्ञासुओं के चित्त को शान्ति प्रदान करते थे — उनके श्रेष्ठत्व की कल्पना स्वल्पबुद्धि मानव कैसे कर सकता है?

इस बीसवीं सदी की सभ्यता का गर्व करने वाले संदिग्धचित्त, धर्म सम्बन्धी चिन्ता से शून्य, भोग के लिए लालायित मोहान्धों के परित्राण के लिए एक महान् आदर्श की आवश्यकता हुई थी, और उसीका परिपूर्ण प्रकाश हैं— भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस देव। तभी भारतीय संन्यासी विवेकानन्द ने

एक दिन गेरुआ रंग के साफे से शोभित शिर को ऊँचा उठाकर समग्र राष्ट्र को अपनी गम्भीर वाणी से सुनाया था, "यदि तुम्हारी आँखें हैं तो तुम उसे देख सकोगे, यदि तुम्हारे हृदय का द्वार खुला है, तो तुम उसका पता पा सकोगे। अन्ध — वह अति अन्ध है, जो समय का चिह्न नहीं देख सका, नहीं समझ सका। देख नहीं रहे हो? — दरिद्र ब्राह्मण माँ-बाप का सुदूर गाँव में पैदा हुआ यह बालक इस समय उन सब देशों में प्रत्यक्ष पूजित हो रहा है जो अनेक सदियों से पौत्तालिक उपासना के विरुद्ध चीत्कार करते आ रहे हैं।"

१८८५ ई० के मध्य भाग में श्रीरामकृष्ण देव के गले के रोग को धीरे धीरे बढ़ते देख भक्तगण चिन्तित हुये। अन्त में चिकित्सा के लिए वे कलकत्ता लाये गये। शहर में रहने की बड़ी असुविधा थी। अतएव भक्तगण ने कलकत्ते के उत्तरांश में स्थित काशीपुर में एक बगीचा वाला मकान भाड़े पर ले लिया और श्रीरामकृष्ण देव को वहाँ ही ले गए; राखाल, बाबूराम, शरद, शशी, काली, तारक, लाटू आदि बालक भक्तगण सेवा-कार्य में नियुक्त हुए और बलराम, रामचन्द्र, गिरीश, ईशान आदि गृहस्थ भक्तगण देखभाल करने लगे। निरन्तर श्रीरामकृष्ण देव की सुधि लेने तथा उनकी सेवादि की व्यवस्था करने के लिए नरेन्द्रनाथ ने अगस्त महीने में ही अध्यापन का कार्य छोड़ दिया। श्रीरामकृष्ण देव जिस समय काशीपुर के मकान में थे उस समय वे भी घर छोड़कर वहीं पर आ गए।

श्रीरामकृष्ण देव के बालक भक्तगण धीरे धीरे प्रयोजन की गुरुता को समझते हुए एक एक करके काशीपुर के बगीचे में आकर गुरुसेवा में नियुक्त हो गए। धीरे धीरे उन्होंने कालेज छोड़ा — यहाँ तक कि घर पर जो दो बार भोजन करने के लिए जाते थे उसे भी छोड़ दिया। इनमें से कई बालकों के अभिभावक इस बात से रुष्ट हो गए और बीच बीच में अपने बालकों को घर लौटा लेने के लिए यत्न करने लगे। बालकों को अभय देते हुए नरेन्द्रनाथ ने उन्हें

रोकने का भार अपने ऊपर लिया। नरेन्द्र के सामने कोई ठहर न सकता था, फलतः अभिभावकों की चेष्टा सफल न हो सकी।

दवादारू, चिकित्सा, सेवा-टहल में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई, परन्तु रोग धीरे धीरे प्रबल रूप धारण करता गया। कुछ लोगों की ऐसी धारणा हो गई कि श्रीरामकृष्ण देव अपनी शक्ति को शिष्यों में संचारित कर लीला समाप्त करने की तैयारी कर रहे हैं। फिर भी आशामुग्ध हृदय से अमंगल की सभी चिन्ताओं को हटाकर भक्तगण प्राणपण से श्रीरामकृष्ण देव की सेवा करने लगे।

गुरु व शिष्य का आपस में क्या अपूर्व सम्बन्ध था, यह तो श्रीरामकृष्ण देव ही जानते हैं। वे नरेन्द्र से किसी प्रकार की सेवा नहीं लेते थे—ले ही नहीं सकते थे। प्रत्यक्ष रूप से गुरुसेवा के अधिकार से वंचित नरेन्द्रनाथ को बाध्य होकर ही केवल देखरेख के काम से ही सन्तुष्ट रहना पड़ा।

काशीपुर का मकान केवल रोगी-निवास तथा शुश्रुषागार ही नहीं था—साथ ही साथ वह मठ तथा विश्वविद्यालय बन गया। कभी भक्तगण साधन-भजन करते थे तो कभी विभिन्न प्रकार के शास्त्रपाठ, इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि की चर्चा चलती थी। श्रीरामकृष्ण के प्रेम की सुधा पीकर मस्त बने हुये प्रेमी पुरुषों के जीवन के सर्वश्रेष्ठ आनन्दमय दिन इस पवित्र तीर्थ में ही बीते।

नरेन्द्रनाथ अनन्यचित्त होकर श्रीगुरुदेव द्वारा प्रदर्शित उपाय से साधना-पथ में द्रुत उन्नति करने लगे। वह प्रबल उत्साह, कठोर इन्द्रियनिग्रह, परिपूर्ण विश्वास के साथ सत्य को प्राप्त करने के लिए प्राणपण से की गई चेष्टा वर्णनातीत है। किसी किसी दिन वे रात को दक्षिणेश्वर जाकर पंचवटी के मूल में बैठकर ध्यान में मग्न हो जाते थे। नरेन्द्रनाथ का तीव्र अनुराग देख श्रीरामकृष्ण बड़े आनंदित हुए। एक दिन नरेन्द्र को बुलाकर वे बोले, "देख, साधना करते समय मुझे अष्ट सिद्धियाँ मिली थीं। उनका किसी दिन कोई उपयोग नहीं हुआ; तू ले, समय पर तेरे उपयोग में आएंगी।"

नरेन्द्र ने पूछा, " महाराज, क्या उनसे भगवत्प्राप्ति में कोई सहायता होगी ? "

श्रीरामकृष्ण ने जवाब दिया, " नहीं, सो तो नहीं होगा, परन्तु इह-लोक की कोई भी इच्छा अपूर्ण न रहेगी।"

कुछ भी सोच-विचार न करते हुए त्यागीश्रेष्ठ नरेन्द्र ने उत्तर दिया, " तो महाराज, वे मुझे नहीं चाहिये।" वास्तव में इस समय नरेन्द्र-नाथ श्रीरामकृष्ण की पवित्र संगति में मानो एक दूसरे ही मनुष्य बन गये थे — दिन रात केवल भगवच्चिन्तन तथा सत्य को प्राप्त करने के लिए तीव्र व्याकुलता उनमें थी। उन्हें देखते ही ऐसा लगता था मानो पिंजड़े में आबद्ध सिंह कारागार को तोड़कर बाहर निकलने के लिए असीम आग्रह के साथ छटपटा रहा हो।

त्याग से पवित्र, चरित्र में उन्नत, संकल्प में अटल ये तरुण युवक श्रीरामकृष्ण को आदर्श बनाकर काशीपुर के बगीचे में दुश्चर तपस्या के व्रती हो गये। श्रीरामकृष्ण की सेवा को लक्ष्य बनाकर घर-द्वार तथा स्वजनों को छोड़ने वाले युवकगण एक साथ रहते हुये एक अपूर्व आध्यात्मिक प्रेम-सम्बन्ध में एक दूसरे के साथ आबद्ध हो पड़े। यहीं पर भावी श्रीरामकृष्ण संघ की नींव पड़ी। इस समय एक दिन श्रीरामकृष्ण ने अपने तरुण शिष्यों को संन्यास देने का संकल्प किया। शुभ दिन में शिष्यों के हाथों में गेरुआ वस्त्र देकर उन्होंने उनके नेता नरेन्द्रनाथ को बुलाकर कहा, " क्या तुम सब लोग सम्पूर्ण निरभिमानी बनकर भिक्षा की झोली कन्धे पर लिये राजपथों पर भिक्षा माँग सकोगे ? " वे श्रीगुरुदेव के आदेश से उसी समय भिक्षा माँगने निकल पड़े और जो कुछ अन्न उन्हें मिला उसे पकाकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण के सामने रखकर बाद में प्रसाद ग्रहण किया। उस दिन श्रीरामकृष्ण का कैसा आनन्द था ! उच्च शिक्षा व उच्च वंश की गौरवबुद्धि-वर्जित युवक संन्यासियों का तीव्र वैराग्य देखकर श्रीरामकृष्ण आनन्द से विभोर हो गये।

संन्यास-ग्रहण के पश्चात् अतीत युग के युगप्रवर्तक संन्यासियों की जीवनी तथा उपदेशों की चर्चा ही नरेन्द्र का लक्ष्य बन गई। ध्यानाभ्यास के परिणाम में एकाग्रचित्त नरेन्द्र जब जिस विषय को आरम्भ करते थे तब उसमें ही मस्त हो जाते थे। भगवान् बुद्ध देव का अपूर्व त्याग, अलौकिक साधना व असीम करुणा—नरेन्द्र की रात दिन की चर्चा का विषय बनी। जन्म, जरा, दुःख, व्याधि की निर्मम पीड़ा से प्रवृत्ति-ताड़ित जीवों का कातर हाहाकार देखते हुये दयार्द्र चित्त राजपुत्र के हृदय में जो अपूर्व वेदना हुई थी, उसका वर्णन करते समय नरेन्द्र की आँखें डबडबा उठती थीं। बुद्ध देव के ध्यान में विभोर नरेन्द्रनाथ गुप्त रूप से दो गुरुभाइयों को साथ लेकर बुद्ध-गया जाने की तैयारी करने लगे। रात में बिस्तर से उठकर चुपचाप नरेन्द्र, तारक (स्वामी शिवानन्द) व काली (स्वामी अभेदानन्द) गंगा पार होकर बाली स्टेशन में रेल पर सवार हो गए। १८८६ ई० का अप्रैल का महीना था, तरुण संन्यासियों ने पवित्र फल्गु नदी में स्नान कर वहाँ से आठ मील दूर बोधिसत्व के मन्दिर की ओर भक्तिपूर्ण हृदय से यात्रा की। इधर प्रातःकाल नरेन्द्रनाथ को न देखकर भक्तगण चिन्तित हुए। चारों ओर खोज की गई, पर नरेन्द्र का पता न मिला। श्रीरामकृष्ण को जब भक्तों ने यह बात सुनाई तो मृदु हास्य के साथ उन्होंने कहा, "तुम लोग चिन्ता न करो, वह लौटकर आता ही होगा। इस जगह को छोड़कर वह अन्य कहीं कैसे रह सकता है?"

बुद्ध-गया में जाकर नरेन्द्र ने बोधिसत्व के मन्दिर का दर्शन किया। यह वही स्थान है जहाँ भगवान् बुद्ध ने जन्म-जरा-व्याधि-मृत्यु से सताये हुये जीवों के दुःख का निवारण करने के लिए समाधिमग्न होकर निर्वाण प्राप्त किया था। बोधिवृक्ष के नीचे पवित्र प्रस्तरासन पर नरेन्द्रनाथ ध्यानस्थ हुए। उनके गुरु-भाइयों ने ध्यान-भंग होने पर निहारकर देखा—नरेन्द्र पत्थर की तरह निश्चल—उनका शरीर स्पन्दनहीन है। बहुत देर तक वे ऐसे ही रहे और

बाद में एक बार अर्धबाह्य ज्ञान प्राप्त होने पर वे क्रन्दन कर उठे। दूसरे ही मुहूर्त में वे फिर ध्यानस्थ हो गये। उनके ध्यानस्तिमित नेत्रों से सत्य की विमल ज्योति निकल पड़ी। उन्होंने क्या देखा तथा क्या समझा, यह अपने गुरुभाइयों से प्रकट न किया। लगातार तीन दिन कठोर तपस्या में बिताकर वे बुद्ध-गया से काशीपुर के बगीचे वाले मकान में लौट आये। भक्तगण अपने प्राणप्रिय नरेन्द्रनाथ को पाकर आनन्द-सागर में निमग्न हो गए।

बुद्ध-गया से लौटकर नरेन्द्रनाथ मानो यह समझ सके,—जिस अतृप्त आकांक्षा से कातर होकर वे दौड़ धूप कर रहे हैं, एकमात्र श्रीरामकृष्ण की कृपा के बिना वह तृप्त नहीं हो सकती। नरेन्द्र ने संकल्प स्थिर कर लिया, परन्तु दूसरे भक्तों की तरह वे विश्वास के साथ श्री गुरु के चरणों में आत्म-समर्पण न कर सके। वे चाहते थे सत्य की उपलब्धि।—नरेन्द्र तीव्र तपस्या में रत हुए—उनका प्रबल उत्साह, कठोर इन्द्रिय-निग्रह तथा शारीरिक भोग-विलास को त्यागकर आत्मदर्शन के लिए एकाग्र चित्त से उनकी चेष्टा वर्णनातीत है।

पूर्वगामी महापुरुषों के चरित्र की चर्चा करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने देश, काल व पात्र का विचार कर मुक्ति के लिए नए नए उपायों का आविष्कार किया था तथा काम-कांचन के प्रबल आकर्षण में भी अवि-चलित रहकर अपना अपना कार्य सम्पादन किया था। उनका जप-तप, साधन-भजन सभी कुछ परहित के लिए था, स्वयं की मुक्ति अथवा अन्य किसी कामना की पूर्ति के लिए नहीं। इसीलिए श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को विभिन्न प्रकार की साधना तथा आध्यात्मिक अवस्थाओं के बीच में से धर्म-जीवन के परम आदर्श की ओर अग्रसर कराने लगे। श्रीरामकृष्ण के अपने जीवन में अनुभूत आध्यात्मिक सत्यों के साथ प्रत्यक्ष रूप से परिचित होने के पहले नरेन्द्र किसी भी तरह उन सभों के प्रति आस्थावान न बने।

एक दिन काशीपुर के बगीचे वाले मकान में प्रज्वलित अग्निकुण्ड

के सम्मुख नरेन्द्रनाथ ध्यानमग्न थे। ऐसे समय उन्होंने अनुभव किया कि स्पर्श मात्र से ही दूसरे के मनोराज्य में आमूलाग्र परिवर्तन लाकर विशेष धर्म-भाव का संचार करने की शक्ति उनमें जाग्रत हो गई है। श्रीरामकृष्ण को स्पर्श के द्वारा इसी प्रकार यह करते उन्होंने कई बार देखा था। क्या यह वही शक्ति है? बालसुलभ चपलतावश आगे पीछे न सोचते हुए उन्होंने पास ही ध्यान-मग्न एक गुरुभाई पर उसकी परीक्षा करते हुए उनके धर्म-जीवन में आमूलाग्र परिवर्तन कर दिया। द्वैतवादी, सगुण साकार ईश्वर में विश्वासी भक्त मुहूर्त-काल में ही अद्वैतवादी व ज्ञानयोगी बन गए। श्रीरामकृष्ण ने इस बात को जान नरेन्द्र को बुलाकर शासन वाक्यों से कहा, "संचय से पहले ही खर्च! तूने आज उसका क्या अनिष्ट नहीं किया, बोल तो?" फिर बाद में उस शक्ति का प्रयोग कैसे करना होता है, यह भली भाँति समझा दिया।

वे दिन निकल गये। वह दार्शनिक, तार्किक, उद्धत नरेन्द्रनाथ आज गुरुभक्त साधक है। पाश्चात्य दर्शन की दिखावटी तर्क-युक्तियों तथा ब्राह्म समाज के प्रभाव से उनके चित्त पर जो आवरण आ गया था वह हट गया। श्रीरामकृष्ण के निर्देश से अब उनका पाठ्य ग्रंथ केवल पाश्चात्य दर्शन व विज्ञान नहीं —वे गम्भीर श्रद्धा के साथ उपनिषद, अष्टावक्र-संहिता, पंचदशी, विवेक-चूड़ामणि आदि ग्रंथों का अध्ययन कर रहे हैं। अपनी सारी विद्या के अभि-मान को निन्दनीय समझते हुए परिपूर्ण निष्ठा के साथ श्रीरामकृष्ण के अपूर्व उपदेशों के बीच में से नवीन तथा श्रेष्ठतर शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। आहार-निद्रा आदि जीवधर्मों को छोड़ते हुए नरेन्द्रनाथ की कठोर तपस्या अन्य बाल-भक्तों के लिए आदर्श बन गई! जिन्हें देखने के लिए श्रीरामकृष्ण पागल जैसे हो उठते हैं, जिनके कण्ठ की सुमधुर संगीत कान में पहुँचते ही वे निर्वि-कल्प समाधि में आत्मविस्मृत बन जाते हैं, जिनकी प्रशंसा में वे भाषा न पाकर कहते हैं, "वह साक्षात् नारायण है—जीव के उद्धार के लिए उसने देह धारण की है," उन्हें भी यदि इतनी कठोर तपस्या करनी पड़े तो दूसरों

की बात ही क्या ? साधन-पथ में काफी दूर अग्रसर होने के बाद नरेन्द्रनाथ अन्त में यह समझे कि निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति के बिना उनकी यह प्रबल आध्यात्मिक पिपासा शान्त न होगी। परन्तु दिन के बाद दिन बीतते गए, परिपूर्ण उद्यम के साथ चेष्टा करके भी उस विषय में सफल न हो सके।

नीरव गम्भीर रात्रि। काशीपुर के बगीचे वाले मकान के दुतल्ले के कमरे में श्रीरामकृष्ण रोग-शय्या पर सोये हैं। पास नरेन्द्रनाथ खड़े हैं। कमरे में और कोई नहीं है। आज नरेन्द्रनाथ संकल्प करके आये हैं कि जिस उपाय से हो वे निर्विकल्प समाधि-लाभ करेंगे। चिरकाल पुरुषकार के उपासक आज दया की भिक्षा माँगने आये हैं,—भय से, विस्मय से, संभ्रम से उनकी वाणी न निकली। अन्तर्यामी पुरुष शिष्य की मनोकामना समझ गए। जिस नरेन्द्रनाथ ने कुछ वर्ष पूर्व वेदान्त शास्त्र का अध्ययन करने से इनकार करते हुए कहा था,—"जिस ग्रन्थ में मनुष्य को भगवान् कहने की शिक्षा दी गई है उसे पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं, अपने को भगवान् कहने (सोऽहं) से बढ़कर और कोई पाप नहीं है" आज वे ही वेदान्तोक्त सर्वोच्च अनुभूति की प्राप्ति के लिए लालायित हैं! सुदीर्घ छः वर्षों तक उन्होंने श्रीगुरुदेव के साथ—अपनी अन्तःप्रकृति के साथ क्या विरामहीन संग्राम नहीं किया!

श्रीरामकृष्ण सस्नेह दृष्टि से उनकी ओर ताकते हुए बोले, "नरेन्द्र, तू क्या चाहता है?" उपयुक्त अवसर समझकर नरेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया, "शुकदेव की तरह सदा निर्विकल्प समाधि के द्वारा सच्चिदानन्द-सागर में डूबे रहने का मैं इच्छुक हूँ।"

श्रीरामकृष्ण के नेत्रों में किंचित् अधीरता प्रकट हुई। उन्होंने कहा, "बारबार यही बात कहते हुए तुझे लज्जा नहीं आती? एक समय आएगा जब तू वटवृक्ष की तरह बढ़कर सैकड़ों लोगों को शान्ति की छाया देगा, पर तू आज अपनी ही मुक्ति के लिए व्यस्त हो उठा? इतना क्षुद्र आदर्श तेरा!"

नरेन्द्र की विशाल आँखों में आंसू आ गये। वे अभिमान के साथ

कहने लगे, " निर्विकल्प समाधि न होते तक मेरा मन किसी भी तरह शान्त न होगा। और यदि यहीं न हुआ तो मैं वह सब कुछ भी नहीं कर सकूँगा।"

" तू क्या अपनी इच्छा से करेगा ? जगदम्बा तेरी गर्दन पकड़कर करा लेंगी। तू न करेगा — तेरी हड्डियाँ करेंगी। "

नरेन्द्र की कातर प्रार्थना की उपेक्षा करने में असमर्थ होकर श्रीरामकृष्ण ने अन्त में कहा, " अच्छा जा, निर्विकल्प समाधि होगी। " एक दिन सायंकाल ध्यान करते करते नरेन्द्रनाथ अप्रत्याशित भाव से निर्विकल्प समाधि में डूब गए। इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वैतप्रपंच उनके सामने से अन्तर्हित हो गया। देश-काल-निमित्त से परे निज-बोध-स्वरूप आत्मा अपनी महिमा में स्थित हुई। यह स्थिति मानवी भाषा में प्रकट नहीं होती — हो ही नहीं सकती।

काफी देर बाद उनकी समाधि भंग हुई। उन्होंने अनुभव किया कि उनका मन उस स्थिति में सम्पूर्ण रूप से कामनाशून्य होने पर भी,— उनकी इच्छा के विरुद्ध, जबर्दस्ती एक अलौकिक शक्ति उन्हें पंचेन्द्रिय-ग्राह्य बाह्य जगत् में उतारकर ला रही है। अनुभव किया —" बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय कर्म करूँगा, अपरोक्षानुभूति द्वारा प्राप्त सत्य का प्रचार करूँगा —" इस महती कामना का सूत्र पकड़कर उनका मन निर्विकल्प स्थिति से लौट आया। अनुभव किया कि जगत् के दुःख और दैन्य से पीड़ित मोहभ्रान्त जीव-समूह को, स्वयं ज्ञानामृत से परितृप्त होकर उक्त अमृत का पान कराने के लिए भारत के अतीत युग के मंत्रद्रष्टा ऋषियों की तरह उन्हें भी मेघगम्भीर स्वर से पुकारना होगा —

" शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥

* *

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ”

आज नरेन्द्र के हृदय की सारी अशान्ति व आकांक्षाओं का अन्त हो गया — ब्रह्मविद् की तरह दिव्य ज्योति से उद्भासित मुखमण्डल के साथ ब्रह्मानन्द से पुलकित आप्तकाम संन्यासी आकर श्रीगुरु के चरणों में प्रणत हुए। श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए कहा, “तो फिर अभी के लिए ताला बंद रहा, कुंजी मेरे हाथ में है। काम समाप्त होने पर फिर खोल दिया जायगा।”

नरेन्द्र से अपने प्राणों के समान प्रेम करनेवाले बालकभक्तों के आनन्द का उस दिन ठिकाना नहीं था। दिन रात भजन-गान चलता रहा। नरेन्द्र भावोन्मत्त होकर राधाकृष्ण, सीताराम व चैतन्य देव के लीला सम्बन्धी गीत गाकर भक्तों के हृदय में आनन्दमय उद्दीपन करने लगे। इधर श्रीरामकृष्ण जगज्जननी के पास कातर होकर प्रार्थना करने लगे, “माँ, उसकी (नरेन्द्र की) अद्वैत की अनुभूति को तू अपनी माया-शक्ति के द्वारा आवृत करके रख। माँ! मुझे तो अभी उससे अनेक काम कराने हैं।”

जितने भी ईश्वरीय शक्तिसम्पन्न महापुरुष मानव-जाति के कल्याण की कामना से निःस्वार्थ भाव से आत्मोत्सर्ग करके विश्ववन्द्य बने हैं, उनमें से प्रत्येक में कुछ न कुछ ‘मैं’पन का अहंकार अवश्य था। इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, “सोने में मिलावट के बिना उससे गहना नहीं बनता।” अवश्य यह ‘मैं’ पन, ‘कच्चा मैं’ नहीं, यह है ‘पक्का मैं’— अर्थात् मैं प्रभु का दास — उनकी लीला का सहायक हूँ।

नरेन्द्रनाथ के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने जो रहस्यपूर्ण भविष्य-वाणियाँ की थीं, उनका उल्लेख हम स्थान स्थान पर करते आये हैं। एक दिन नरेन्द्र को दिखाकर उपस्थित व्यक्तियों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा था, “यह जो लड़का देख रहे हो, जन्म से ही ब्रह्मज्ञानी है, — इसके जैसे लड़के नित्यसिद्ध की श्रेणी के हैं, ये कभी कामिनी-कांचन की माया में आबद्ध नहीं होते।”

श्रीरामकृष्ण उन्हें कभी 'शुकदेव', कभी 'शंकर', कभी 'नारायण ऋषि' आदि विभिन्न नामों से पुकारते थे। श्रीरामकृष्ण की यह सब ऊपर से विरुद्ध प्रतीत होने वाली उक्तियाँ क्या सामायिक स्नेह का उच्छ्वास थीं? स्थूल दृष्टि से देखने पर अवश्य ऐसा ही प्रतीत होता है और साधारण मनुष्य के लिए उनकी सत्यता के सम्बन्ध में सन्देह करना भी असम्भव नहीं। आजन्म सत्यवादी श्रीरामकृष्ण ने — जिन्होंने हँसी-खेल में भी कोई झूठ बात नहीं कही — जो जगन्माता के चरणकमलों में सर्वस्व उत्सर्ग करते हुए, 'यह ले, माँ, तेरी मिथ्या' — तक कहकर ही स्तब्ध हुए, 'यह ले, माँ, तेरा सत्य' — कह न सके — उन्होंने क्या साधारण व्यक्तियों की तरह स्नेह से मुग्ध होकर प्रियतम शिष्य को लोगों के सामने बड़ा बनाने के लिए उक्त प्रकार की बातें कही हैं? यह भला कैसे सम्भव है? "अभिमानं सुरापानं गौरवं घोररौरवं, प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा" — यही तो उनका मूल मंत्र था। इस विषय में पूजनीय श्रीमत् स्वामी योगानन्द जी ने एक दिन कहा था, "स्वामीजी में ऋषि की समाधि-तृष्णा, शुकदेव की माया-शून्यता, श्री शंकराचार्य का ज्ञान व नारद की भक्ति सब एकत्र सम्मिलित हुई थीं। इसीलिए श्रीरामकृष्ण उनके विभिन्न भावों को देखते हुए उन्हें एक एक बार एक एक नाम से पुकारा करते थे।" यही मीमांसा हमें सबसे अधिक युक्तिपूर्ण एवं उचित जँचती है।

१८८६ ई० की जुलाई मास का अन्तिम भाग। श्रीरामकृष्ण के गले के रोग ने धीरे धीरे भीषण रूप धारण कर लिया। बड़े धीमे स्वर में किसी तरह वे दो चार बातें कह सकते थे। आहार था — जल में पकाई हुई बारली, पर उसे भी वे निगल न सकते थे। फिर भी उन महापुरुष की कृपा की सीमा नहीं। सदा बालक भक्तों को उपदेश देते थे और कभी तो नरेन्द्र को पुकार-कर कहते थे। "नरेन, देख ये हैं मेरे सब लड़के, तू सबसे बुद्धिमान और शक्तिमान है, उनकी रक्षा करना और उन्हें सत्पथ पर चलाना। मैं शीघ्र ही देहत्याग करूँगा।"

एक दिन रात को नरेन्द्र की ओर अश्रुपूर्ण नेत्रों से ताकते हुए उन्होंने कहा, "बेटा, आज तुझे सर्वस्व देकर मैं फकीर बन गया।" नरेन्द्र ने समझा श्रीरामकृष्ण की लीला समाप्त होने का समय आने ही वाला है। वे बालक की तरह रोने लगे—उनके विरह में वे कैसे अपना जीवन रख सकेंगे, यही सोचकर आकुल हुए। भाव के आवेग को रोकने में असमर्थ होकर नरेन्द्रनाथ कमरे के बाहर निकल गए।

अन्त में सचमुच वह भीषण दिन आ गया—१८८६ ई० की १५ अगस्त, रविवार को। महापुरुष की शय्या को घेरकर भक्त शिष्यगण शोक से आकुल हो स्तम्भित हृदय से महासमाधि की प्रतीक्षा कर रहे हैं; उनके व्यथित हृदयों में भाव का जो प्रवाह बह रहा था, उसे वे ही जानते थे।

नरेन्द्र सोच रहे थे, रामचन्द्र दत्त, गिरीश आदि भक्तगण, जो श्रीरामकृष्ण को स्वयं भगवान् मानते हैं, क्या यह सत्य है? उसी एक समस्या की मीमांसा तो अभी तक नहीं हो पाई। अब यदि श्रीरामकृष्ण स्वयं इस समस्या का निपटारा कर दें तभी विश्वास करूँगा, वरना नहीं। जो शक्ति युग-युग में धर्मसंस्थापना के लिए दयावश अवतीर्ण होती है, क्या श्रीरामकृष्ण उसी का समष्टि रूप हैं? वास्तव में ही क्या श्रीरामकृष्ण युगधर्म-प्रवर्तक अवतार पुरुष हैं?—अन्तर्यामी भगवान् ने आँखें खोलकर पूर्ण दृष्टि से नरेन्द्र की ओर ताकते हुए कहा, "क्या नरेन, अभी तक तुझे विश्वास नहीं हुआ? जो राम है, जो कृष्ण है, वही अब की बार एक ही साथ रामकृष्ण हुए हैं, तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं—साक्षात्!"

एकाएक यदि कमरे में वज्रपात होता, सम्भव है तो भी नरेन्द्र उतना न चौंकते जितना श्रीरामकृष्ण की वाणी से वे चौंके।

धीरे धीरे रात्रि अधिकाधिक गम्भीर होने लगी। सिरहाने के सहारे श्रीरामकृष्ण का कृश शरीर धीरे धीरे काँप रहा है, जीर्ण हड्डियों के पिंजरे को छोड़ महान् आत्मा महाकाश में विलीन होने के लिए मानो पंख फैला रही

है। नाक के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर है, मुखमण्डल मृदु हास्य से अनुरंजित है। ऐसे ही समय तीन बार काली-नाम का उच्चारण करते हुए श्रीरामकृष्ण ने महासमाधि द्वारा नश्वर देह का त्याग कर दिया।

उनकी वह अन्तिम वाणी नरेन्द्र के हृदय में दृढ़ रूप से अंकित हो गई। इसीलिए हमने अद्वैतवादी संन्यासी को भी मेघगम्भीर शब्दों में कहते सुना है, ––

"प्राप्तं यद्वै त्वनादिनिधनं वेदोदधिं मथित्वा
दत्तं यस्य प्रकरणे हरिहरब्रह्मादिदेवैर्बलम्।
पूर्णं यत्तु प्राणसारैर्भौमनारायणानाम्,
रामकृष्णस्तनुं धत्ते तत्पूर्णपात्रमिदं भोः॥"

चतुर्थ अध्याय

परिव्राजक विवेकानन्द

(१८८६–१८९२)

क्वचिन्मूढो विद्वान् क्वचिदपि महाराजविभवः
क्वचिद्भ्रान्तः सोम्यः क्वचिदजगराचारकलितः ।
क्वचित् पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदितः
चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः ।।

—विवेकचूडामणि ।

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के अदृश्य होने के थोड़े ही दिन बाद काशीपुर का बगीचा वाला मकान छोड़ना पड़ा । अब नरेन्द्र ने सोचा कि युवक संन्यासीगण यदि चारों ओर विच्छिन्न होकर चले जायँगे तो इस महापुरुष के आदर्श के प्रचार में विघ्न उपस्थित होगा । श्रीगुरुदेव के सहवास में जो पृथक् साधना और आदर्श उनमें से प्रत्येक ने प्राप्त किया है, उसे केन्द्रीभूत करना होगा । कुछ गृही भक्तों ने नरेन्द्र के इस मत का समर्थन किया। ये सब वैराग्यशील तरुण संन्यासी आश्रय-विहीन होकर भटकते रहेंगे— यह बात उन्हें पसंद न आई । गुरुपरायण उदारहृदय सुरेन्द्रनाथ मित्र ने वराहनगर में एक मकान भाड़े पर दिला दिया । श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के थोड़े ही दिन बाद उनके देहावशिष्ट भस्म और अस्थि से पूर्ण ताँबे के घड़े को सिर पर उठाकर तरुण संन्यासियों ने शोक के आँसू पोंछते हुए पवित्र लीला की अनेक पुण्य स्मृतियों से युक्त काशीपुर के बगीचे वाले मकान को छोड़ दिया ।

श्रीरामकृष्ण की सेवा करने के लिए दीर्घ काल तक एक साथ रहने

तथा साधन-भजन आदि के द्वारा वे आपस में प्रीति के जिस बन्धन में आबद्ध हो चुके थे वह छिन्न नहीं हो सकता था। विशेष रूप से श्रीगुरुदेव के आदर्श की रक्षा करने के लिए नरेन्द्र संघबद्ध होने की आवश्यकता समझकर बालकों को सदा उत्साह देने लगे। कोई कोई गृही भक्त उन्हें फिर से संसार में लौटने के लिए परामर्श देने लगे। कुछ बालक परीक्षा आदि के कारण अभिभावकों के अनुरोध से फिर घर लौटने के लिए बाध्य हुए। नरेन्द्रनाथ उस समय तक भी सांसारिक विषयों की भली-भाँति व्यवस्था न कर सके थे, इसलिए उन्हें हर समय मठ में रहने का अवसर नहीं मिलता था। उनके मकान के बारे में जो मुकदमा शुरू हुआ था, वह अभी समाप्त नहीं हुआ था। अतः नरेन्द्र को बाध्य होकर ही घर में रहना पड़ा। नरेन्द्र की अनुपस्थिति में अभिभावकगण उनका उदाहरण देकर संसार में लौटने के लिए बालकों से आग्रह करने लगे। नरेन्द्र स्वयं अपने परिवार की देखभाल करते थे, इसलिए उतने ज़ोर के साथ वे प्रतिवाद न कर सके।

इसी बीच में एक नई विपत्ति आ खड़ी हुई। महात्मा रामचन्द्र दत्त आदि कुछ भक्तों ने प्रस्ताव किया, "तुम लोग साधु-संन्यासी हो, कब कहाँ रहोगे, निश्चित नहीं है। श्रीगुरुदेव का देहावशेष हमें दे दो। हम उसे उचित स्थान पर स्थापित करके उस पर मन्दिर निर्माण करेंगे।" रामबाबू ने काँकुड़गाछी में अपने बगीचे वाले मकान का श्रीगुरुदेव के चरण-में उत्सर्ग करने का निश्चय किया; परन्तु बालक भक्तों ने किसी भी तरह श्रीगुरुदेव के देहावशेष को गृही भक्तों को देना स्वीकार नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि एक बड़ा झगड़ा उठ खड़ा हुआ। शशी व निरंजन उस ताम्र-पात्र के रक्षक थे, वे किसी भी तरह उसे किसी दूसरे को देने को राजी न हुए। रामबाबू भी उसे पाने के लिए दल बल के साथ प्राणपण से चेष्टा करने लगे। भ्रातृविच्छेद की सम्भावना को देख बुद्धिमान नरेन्द्र ने अपने

गुरुभाइयों को बुलाकर कहा, "महापुरुषों के देहावशेष के बारे में शिष्यों के विवाद धर्म-जगत् में कई बार हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु इसीलिए उसी पथ का अनुसरण करना हमारा कर्तव्य नहीं है। हम संन्यासी हैं—श्रीरामकृष्ण के पवित्र जीवन से हमें जो महान् आदर्श मिला है, उसी आदर्श को सामने रखते हुए जीवन को गढ़ना ही इस समय हमारा प्रधान कर्तव्य है और यही हमारी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। इस प्रकार की एक लज्जाजनक घटना की स्मृति कि श्रीरामकृष्ण के शिष्यों ने देहावशेष पर कलह किया था, भविष्य की सन्तानों के लिए छोड़ जाना बहुत ही अनुचित है; अतः उन्हीं लोगों की इच्छा के अनुसार काम होने दो। यदि हम उनका आदर्श कार्यरूप में परिणत कर सकें तो देखोगे समग्र जगत् हमारे पैरों पर लोटेगा।"

शशी महाराज ने नरेन्द्र की इस बात का प्रतिवाद न किया। देहावशिष्ट भस्म व अस्थि का कुछ भाग रखकर बाकी को तांबे के घड़े के साथ लौटाने के लिए वे सहमत हुए। अन्त में शुभ दिन देखकर श्रीरामकृष्ण के गृही व संन्यासी भक्तों ने एकत्र सम्मिलित होकर काँकुड़गाछी के 'योगोद्यान' में पवित्र ताम्रपात्र को स्थापित कर दिया। इस प्रकार गुरुभाइयों में मनोमालिन्य का जो सूत्रपात हुआ था उसे प्रशंसनीय उदारता के द्वारा नरेन्द्रनाथ ने अंकुरावस्था में ही विनष्ट कर दिया।

इस प्रकार एक प्रबल विरोध को दूरकर नरेन्द्रनाथ कुछ निश्चिन्त हुए। नरेन्द्रनाथ संसार के अभावादि कारणों से बाध्य होकर घर में रहते तो जरूर थे, पर रात्रि व दिन का अधिकांश समय वराहनगर के मठ में बिताया करते थे। कलकत्ते में भी नरेन्द्रनाथ केवल घर के ही काम में लिप्त न रहते थे। जो सब संन्यासी-युवक अभिभावकों के शासन से घर लौटकर परिवार वालों के साथ रहते थे तथा परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे थे, अवसर पाते ही वे उनसे भी मिलते थे तथा संसार के साथ सभी प्रकार का सम्बन्ध छिन्न करने के लिए उन्हें उत्तेजित करते रहते थे।

नरेन्द्र के उपद्रव से अभिभावकगण चिन्तित व अधीर हो उठे। भय तथा धमकी आदि से वे नरेन्द्रनाथ को रोक न सके। उनके उत्साह और आदर्श से प्रेरित हो युवकगण फिर से एक एक करके मठ में लौट आये। नरेन्द्रनाथ भी जहाँ तक सम्भव था, तत्परता के साथ परिवार की व्यवस्था करने लगे। मकान पर अधिकार को लेकर उनके सम्बन्धियों ने जो मुकदमा चलाया था उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। खैर, उक्त मुकदमे की अपील में भी नरेन्द्रनाथ ही विजयी हुए। इसके बाद दिसम्बर मास के शुरू में संसार के साथ सभी सम्बन्धों को छिन्नकर वे स्थायी रूप से मठ में आकर रहने लगे। बाबू बलराम बसु, नाट्य-सम्राट गिरीषचन्द्र घोष, 'श्रीरामकृष्णकथामृत' के लेखक महेन्द्रनाथ गुप्त — सब से बढ़कर स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ मित्र महाशय प्राणपण से नवीन संन्यासियों को सहायता तथा उत्साह प्रदान करने लगे।

बिना भोजन, बिना शयन, —सभी प्रकार से शारीरिक सुख की उपेक्षा करते हुए दिव्य भाव में विभोर कुमार संन्यासीगण श्रीगुरुदेव के पवित्र चरित्र व उपदेशों की चर्चा में तथा दर्शनशास्त्र, वेदान्त, पुराण, भागवत आदि के पाठ में तथा ध्यान, जप, कठोर तपस्या आदि में रत हो गए। अब तो श्रीगुरुदेव के दर्शन न हो सकने से व्यथित भक्तों का एकमात्र सहारा, आशा तथा भरोसा केवल नरेन्द्रनाथ ही थे।

धन्य है गुरुभक्ति के जीते जागते आदर्श श्रीमत् स्वामी रामकृष्णानन्द (शशी महाराज) को !— जिन्होंने सभी कार्यों को छोड़कर केवल श्रीरामकृष्ण की पूजा, आरती तथा गुरुभाइयों की सेवा में ही अपने जीवन को समर्पित कर दिया। नवप्रतिष्ठित मठ के पिता, माता, रक्षक, भृत्य, पाचक — सभी कुछ एकाधार में शशी महाराज थे। कभी धर्मचर्चा में लगे हुए भाइयों को डराधमकाकर भोजन करने के लिए बाध्य कर रहे हैं, कभी किसी को जबरदस्ती स्नान करा रहे हैं, — और लगातार रात भर से जागते हुए किसी ध्यान-मग्न संन्यासी को बलपूर्वक पकड़कर बिस्तर पर लाकर सुला दे रहे हैं। यदि

वे इस प्रकार से प्रत्येक का खयाल न रखते, तो जिन सब महापुरुषों के निष्काम कर्म, अक्लान्त लोकहितैषणा व अपूर्व त्याग-शक्ति से आज संसार श्रीरामकृष्ण की महिमा की उपलब्धि करने में समर्थ हुआ है उनमें से कई कठोर तपस्या के कारण शरीर छोड़कर चले गए होते।

उन्मत्त सिंह की तरह अशान्त नरेन्द्रनाथ को ज़रा भी अवसर नहीं है। वे ब्राह्म मुहुर्त में शय्या त्याग करके गुरुगम्भीर ध्वनि से गुरुभाइयों को पुकारकर कहते थे, "हे अमृत के पुत्रगण, अमृत का पान करने के लिए जागो, जागो।" फिर ध्यान, जप आदि समाप्त करके वे सब एक कमरे में सम्मिलित होते थे। नरेन्द्रनाथ किसी दिन गीता का, किसी दिन टामस-ए-केम्पिस लिखित 'ईसानुसरण' (Imitation of Christ) का पाठ करते थे। जिस समय नरेन्द्र भावोन्मत्त होकर गर्जना कर कहते थे—

"क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥"—

उस समय तरुण संन्यासियों के तपोमार्जित चित्त-दर्पण में सुदूर अतीत का एक महिमामय दृश्य उद्भासित हो उठता था;—मानो वे अपने मानस-नेत्रों से देखते थे, साक्षात् गीतामूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण शान्तोज्ज्वल नेत्रों से, प्रशान्त दृढ़ता के साथ मेघगम्भीर स्वर में, कर्तव्यभ्रष्ट, मोहभ्रान्त अर्जुन को अपने कर्तव्य का पथ चुन लेने के लिए मृदु भर्त्सना कर रहे हैं। उस समय उनका मुग्ध मन बहिर्जगत् का अस्तित्व भूल जाता था—केवल एक अगाध विश्वास, मधुर भक्ति का कोमल स्पर्श उनके उन्मुख तथा आग्रहपूर्ण हृदयों को स्तम्भित बनाए रखता था।

कभी नरेन्द्रनाथ 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' मंत्र से गुरुभाइयों को अनुप्राणित करते हुए आदर्श कर्मयोगी की तरह विश्वमानव के कल्याण-यज्ञ में आत्माहुति देने के उद्देश्य से तैयार होने के लिए प्रोत्साहित करते थे।

कभी तो वे गीता बन्द करके कह उठते थे, "क्या होगा और गीता पाठ करके! श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'गीता शब्द दस बार कहने से जो होता है वही! गीता, गीता, गीता — त्यागी, त्यागी, त्यागी। चाहिए त्याग — कामिनी-कांचन का त्याग! त्याग ही गीता का आदर्श है!"

पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र के ज्ञाता सन्देहवादी नरेन्द्रनाथ ने लगातार छः वर्षों तक श्री गुरुदेव के साथ तर्क किया है, — परन्तु आज उनमें क्या ही विचित्र परिवर्तन है! आज वे संन्यासी हैं! श्रीरामकृष्ण संघ के नेता हैं!! श्री गुरुदेव के पवित्र जीवन के उज्ज्वल प्रकाश में आज सनातन धर्म उनकी दृष्टि में महिमामय, उदार, सार्वभौमिक! आज उनकी दृष्टि में वेद अपौरुषेय आप्तवाक्य, नित्यवर्तमान, सत्य! उपनिषद के कल्याणप्रद सत्यसमूह का गूढ़ अर्थ, श्रीरामकृष्ण देव के जीवन के आलोक में आज उनके लिए सहज ही बोधगम्य है। उपनिषद या वेदान्त को समझने के लिए उन्होंने किसी विशेष भाष्यकार का अनुसरण नहीं किया — करने की आवश्यकता भी नहीं हुई। वे स्वाधीन भाव से शास्त्र-चर्चा में प्रवृत्त हुए थे। स्वामी विवेकानन्द ने उत्तर काल में कहा था, "विधाता की इच्छा से मुझे एक ऐसे व्यक्ति के सहवास का अवसर प्राप्त हुआ था, जो एक ओर जैसे घोर द्वैतवादी थे, दूसरी ओर वैसे ही घोर अद्वैतवादी; जो एक ओर जैसे परम भक्त थे, दूसरी ओर ठीक वैसे ही परम ज्ञानी। इनकी शिक्षा के परिणाम में ही मैंने उपनिषद तथा अन्यान्य शास्त्रों का केवल आँखें बन्द करके भाष्यकारों का अनुसरण करते हुए अध्ययन नहीं किया है, वरन् उन्हें स्वाधीन भाव से उत्कृष्टतर रूप में समझना सीखा है।"

एक दिन बेलूर मठ में प्रसंगक्रम से इस समय की बात कहते हुए पूजनीय स्वामी प्रेमानन्दजी ने हमसे कहा था, "आज तो यह कितना बड़ा मठ देख रहे हो, — जानते हो कहाँ है इसका प्रारम्भ? श्रीरामकृष्ण देव ने जब देह-त्याग किया उस समय ऐसा कोई स्थान नहीं था जहाँ लाटू तथा

अन्य भक्त बालकगण रह सकते। अन्त में सुरेश मित्र* ने वराहनगर में एक मकान ठीक कर दिया। नीचे का मंजला तो व्यवहार के लिए बिलकुल उपयुक्त न था। ऊपर के मंजले में तीन कमरे थे। श्रीरामकृष्ण को किसी दिन बस दो दाने नैवेद्य का भोग दे दिया जाता था। और प्रबन्ध ही क्या था? एक समय का अन्न किसी दिन मिल जाता था, किसी दिन नहीं। थाली, बर्तन आदि कुछ भी न थे। मकान के साथ वाले बगीचे में कुम्हड़े के पौधे, केले के पेड़ आदि थे तो अनेक, पर कुम्हड़े या केले के एक दो पत्ते लेने से ही उड़िया बागवान बुरी तरह गाली देने लगता था। अन्त में धोपे (घुइयाँ) के बड़े बड़े पत्तों पर भात रखकर वहीं खाना पड़ता था। और भोजन भी क्या था—केवल उबाले हुए कुन्दरू के पत्ते और भात, और वह भी घुइयाँ के पत्तों पर रखकर। थोड़ा खाते ही गला खुजलाने लगता था। इतना कष्ट, फिर भी कोई चिन्ता न थी! भक्तों की संख्या एक एक दो दो करके बढ़ती ही रही। कैसा उत्साह था! पूजा, ध्यान, जप सदा चलता रहा। कभी कीर्तन ही शुरू हो जाता था। कमरे का दरवाजा बन्द कर लिया और अन्दर आनन्द से कीर्तन हो रहा है। फिर तो ऐसा रंग जमता था कि बाहर आदमियों की भीड़ लग जाती थी। अब कीर्तन बन्द हो गया है तो भी बाहर लोग खड़े हैं, चिल्ला रहे हैं, "बन्द न कीजिए, बन्द न कीजिए, बड़ा आनन्द आ रहा है!"

गुरुभाइयों को उपदेश देना, उनकी देखरेख रखना आदि सभी बातों का भार श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को ही सौंप गए हैं। उन्हें तनिक भी विश्राम नहीं मिलता है। वे तरह तरह से बालकों को उत्साहित कर रहे हैं। "जय रामकृष्ण! मनुष्य गढ़ना ही हमारे जीवन का उद्देश्य हो। स्मरण रखना, यही हमारी एकमात्र साधना है। वृथा विद्या का गर्व छोड़ दो, उत्कृष्टतम

* बाबू सुरेन्द्रनाथ मित्र को श्रीरामकृष्ण देव 'सुरेश' कहकर पुकारते थे। इसलिए वे श्रीरामकृष्ण भक्तसंघ में इसी नाम से सुपरिचित हैं।

मतवाद अथवा सूक्ष्म युक्ति-तर्क की क्या आवश्यकता है? ईश्वर की अनुभूति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है—श्रीरामकृष्ण देव अपने जीवन में इस आदर्श को दर्शा गए हैं। हम उनके आदर्श जीवन का ही अनुकरण करेंगे। एकमात्र भगवत्प्राप्ति करना ही हमारा चरम लक्ष्य है।" नरेन्द्र को अपने प्राणसदृश मानने वाले संन्यासीगण भी उनके प्रत्येक वाक्य का श्रीगुरुदेव की आदेशवाणी की तरह ही श्रद्धा के साथ पालन करने लगे।

हम पहले कह चुके हैं कि, स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ मित्र ने संन्यासियों के दैहिक अभावों की पूर्ति का भार अपने ऊपर ले लिया था। सांसारिक कार्यों में लगे रहने के कारण वे सर्वदा इन सब बातों की देखभाल नहीं कर सकते थे कि मठ में किस चीज़ की आवश्यकता है और किस चीज़ की नहीं। बालक संन्यासीगण अन्न के अभाव में भूखे रहकर भी सुरेश बाबू को सूचित नहीं करते थे। भगवान् की इच्छा से जिस दिन जो कुछ बिना माँगे आ जाता था उसे ही सन्तोष के साथ श्रीरामकृष्ण को निवेदित कर उनका प्रसाद ग्रहण कर लेते थे। कुछ दिनों बाद जब सुरेश बाबू को इस बात का पता लगा तो वे विशेष चिन्तित हुए। अन्त में गोपाल नामक किसी राम-कृष्ण-भक्त की माता तथा छोटे भाइयों के प्रतिपालन का भार स्वयं ग्रहण कर सुरेश बाबू ने उन्हें मठ में भेज दिया। उनके उपदेश के अनुसार गोपाल किसी चीज़ की आवश्यकता होते ही उन्हें समाचार दिया करते थे। सुरेश सदा ही कहा करते थे, "इनके सर्व प्रकार के अभावों को दूर करना मेरा कर्तव्य-कर्म है, क्योंकि ये लोग श्रीरामकृष्ण की सन्तान—मेरे भाई हैं।" गुरुभाइयों के प्रति प्रेम का कैसा उज्ज्वल उदाहरण है!

समय समय पर गृहस्थ भक्तगण भी मठ में उपस्थित होकर श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा धर्म की चर्चा किया करते थे। अनेक अपरिचित व्यक्ति भी कौतूहलवश, कोई तर्क करने, कई परीक्षा लेने वराहनगर के मठ में आया करते थे। नरेन्द्र के युक्तिपूर्ण उत्तर के सामने अक्सर वे ठहर नहीं सकते थे। साधारण

व्यक्तियों की अशिष्ट समालोचना से भी बिना किसी प्रकार उत्तेजित हुए नरेन्द्रनाथ हँसकर गुरुभाइयों से कह दिया करते थे, "अरे, श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे, 'लोग तो मानो कीड़े हैं।' इसका मतलब जानते हो न? काम-कांचन के क्रीत-दासगण क्या कहते हैं और क्या नहीं उस पर ध्यान नहीं देना। संन्यासियों को उससे विचालित होना कदापि उचित नहीं!"

इधर इन सब बाल संन्यासियों के अभिभावकगण प्रायः उन्हें घर लौटा ले जाने के लिए मठ में आते रहते थे। उन्हें रोकने के लिए नरेन्द्र-नाथ को ही सामने आना पड़ता था। कोई कोई गृहस्थ-आश्रम की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए तरह तरह के तर्क उपस्थित करते थे। नरेन्द्र दृप्त सिंह की तरह गर्दन उठाकर उत्तर देते थे, "क्या? यदि हम ईश्वर को प्राप्त न कर सकें तो क्या इन्द्रियों के दास होकर जीवन बिताएँगे? क्या हम संन्यास के महिमामय आदर्श से भ्रष्ट हो जायँ? अदृष्ट में कुछ भी क्यों न हो, त्याग के महान् आदर्श पर हम प्राणपण से अड़े रहेंगे। शरीर नष्ट हो जाय, सर्वस्व चला जाय, हम उद्देश्य को नहीं छोड़ेंगे। क्या हम श्रीराम-कृष्ण की सन्तान नहीं हैं?"

१८८६ ई० का दिसम्बर मास। श्रीरामकृष्ण के अन्यतम बालसंन्यासी शिष्य स्वामी प्रेमानन्द (बाबूराम महाराज) की माता के निमंत्रण पर एक दिन संन्यासीगण उनके गाँव आँटपुर में एकत्रित हुए। रात में मकान के बाहर वाले प्रांगण में विराट धूनी रमाकर नरेन्द्र गुरुभाइयों के साथ ध्यान में बैठे हैं। निःस्तब्ध गाँव—ऊपर निर्मल आकाश में ग्रह-नक्षत्र झलमल कर रहे हैं, चारों ओर के गाढ़े अन्धकार में धूनी की अग्निशिखा से केवल संन्या-सियों की तपोनिर्मल ऋजु देह, प्रशान्त वदन, निर्मल ललाट उद्भासित हो रहे हैं। ऐसे समय में नरेन्द्र ने आँखें खोलीं और ईसामसीह की जीवनी की चर्चा करने लगे। जन्म से मृत्यु पर्यन्त उस अपूर्व आत्मदान व पुनरुत्थान की कहानी का जीती जागती भाषा में वर्णन करते करते श्रीरामकृष्ण देव का प्रसंग

आया। ईसा व श्रीरामकृष्ण ! ईसा के देह-त्याग के बाद उनके शिष्य साधु पॉल ने किस दृढ़ विश्वास के साथ नवधर्म का प्रचार किया था। उत्साह व उन्माद से अधीर होकर नरेन्द्र ने मानो अपने जीवन का पथ उसी आलोक में देख लिया। उन्होंने अपने गुरुभाइयों के साथ मानो फिर एक बार अनुभव किया कि ऐसे समय में जब कि भारतवासी आदर्श को विभक्त, खण्डित व आंशिक रूप में देखते हुए एक दूसरे के साथ विवाद में रत हो रहे थे, जिस समय हम विषमता व भेद के बीच में किसी प्रकार सामञ्जस्य को खोजने की चेष्टा तक नहीं कर रहे थे, जिस समय सभी उच्च आदर्श नष्ट-बुद्धि से विकृत तथा भ्रष्ट-चरित्र के द्वारा कलंकित होकर कर्महीन तामसिक जड़ता के बीच व्यर्थ और निष्फल हो रहे थे, उसी संकट के बीच श्रीरामकृष्ण ने सभी समस्याओं की मीमांसा करते हुए सभी विचित्र व विशिष्ट साधनाओं को एक समन्वय के बीच में यथायोग्य स्थान देकर आदर्श के परिपूर्ण रूप को अपने जीवन में प्रकटित किया। यह प्राचीन पृथ्वी धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर, देश-प्रेम के नाम पर नर-रक्त से स्नात होकर जिसके लिए प्रतीक्षा कर रही है, — उसी बहुप्रार्थित, बहुईप्सित महा-समन्वय की वार्ता का प्रचार करेंगे हम, — हम श्रीरामकृष्ण की पताकावाही सर्वत्यागी शिष्यमण्डली ! मानव-कल्याण के व्रत में अपने को सम्पूर्ण भाव से उत्सर्गित करने का पवित्र संकल्प लेकर उन्होंने अपने आपको कृतार्थ माना। उस रात्रि में जिस समय नरेन्द्र आदि भक्तगण पहले ईसामसीह की जीवनी तथा ईसाई धर्म के प्रथम प्रचारकों के गम्भीर आत्मविश्वास की चर्चा कर रहे थे उस दिन उन्हें यह ज्ञान ही नहीं था कि वह ईसामसीह की जन्म-रात्रि थी। बाद में इस बात को जानकर वे बड़े विस्मित हुए थे। आँटपुर से संन्यासीगण तारकेश्वर में जाकर शिवजी की आराधना के बाद वराहनगर लौट आए।

कुछ दिन वराहनगर मठ में बिताने के बाद संन्यासियों के हृदय में तीर्थ-भ्रमण की आकांक्षा प्रबल हो उठी। दो एक संन्यासियों को यह

आशंका हुई कि शायद बाहर जाने की आज्ञा ही न मिले और इसलिए नरेन्द्रनाथ को सूचित किए बिना ही वे मठ छोड़ तीर्थ-भ्रमण को निकल पड़े। एक दिन नरेन्द्रनाथ को किसी विशेष कारण से कलकत्ता जाना पड़ा। वहाँ से लौटकर उन्होंने सुना कि संसार की अभिज्ञता से शून्य बालक शारदा (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) गुप्त रूप से मठ छोड़कर चले गए हैं। उन्हें बड़ी चिन्ता हो गई और यह सोचकर कि वह बालक न जाने किस कष्ट-विपद में पड़ जाएगा उन्होंने तुरन्त ही राखाल को बुलाकर कहा, "तुमने उसे क्यों जाने दिया ? देखो राजा, मैं किस भीषण स्थिति में पड़ गया हूँ। घर-द्वार छोड़कर आया हूँ और यहाँ पर एक नवीन माया का संसार जोड़ बैठा हूँ। इस लड़के के लिए प्राण बड़ा ही व्याकुल हो उठा है।"

इसी समय एक व्यक्ति ने उनके हाथ में एक पत्र दिया। शारदा जाते समय उसे लिखकर छोड़ गए थे। उसमें लिखा था, "मैं पैदल श्रीवृन्दावन की यात्रा कर रहा हूँ। यहाँ पर रहना मेरे लिए असम्भव हो गया है। कौन जाने किस समय मन की गति परिवर्तित हो जायगी ! मैं बीच बीच में माता-पिता, घर-स्वजन आदि के सम्बन्ध में स्वप्न देखता हूँ। मैं स्वप्न में मूर्तिमती माया द्वारा प्रलोभित हो रहा हूँ। मैंने काफी सहन किया है, यहाँ तक कि प्रबल आकर्षण में मुझे दो बार घर जाकर स्वजनों से साक्षात्कार करना पड़ा। अतः अब यहाँ रहना किसी भी तरह उचित नहीं है; माया के पंजे से छुटकारा पाने के लिए दूर देश में जाने के अलावा और कोई गति नहीं है।"

पत्र पढ़कर स्वामीजी का मुखमण्डल गम्भीर हो गया। राखाल ने कहा, "अब समझे, शारदा क्यों मठ छोड़कर चला गया है?" उन्होंने चिन्तित होकर उत्तर दिया, "हाँ, मैं भी इसका अनुभव कर रहा हूँ।"

नरेन्द्रनाथ ने मन ही मन सोचा, "पर अब तो सभी तीर्थ-भ्रमण के लिए आग्रह कर रहे हैं। इससे तो मठ का नाश ही हो जाएगा, ठीक है,

होने दो!—मैं कौन हूँ जो मेरा आदेश मानकर ये सदैव चलें। नहीं, इस मधुर माया के बन्धन को भी मुझे तोड़ डालना होगा।" शारदा के पत्र ने उन्हें बड़ा चिन्तित कर दिया। सोचने लगे कि सभी एक साथ रहकर धीरे धीरे माया के बन्धन में आबद्ध हुए जा रहे हैं। अतएव उन्होंने भी मठ-भवन का परित्याग करने का संकल्प कर लिया। अन्त में एक दिन गुरु-भाइयों के सारे अनुरोधों की उपेक्षा करते हुए श्रीगुरु की महती इच्छा द्वारा प्रेरित हो नरेन्द्रनाथ ने परिव्राजक के वेष में मठ-भवन का त्याग कर दिया।

यहाँ पर हम कुछ बातों का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। नरेन्द्र १८८८ ई० के प्रथम भाग में पहले पहल तीर्थ-भ्रमण की इच्छा से वराहनगर के मठ से बाहर निकले। इसके पहले दो साल में वे आँटपुर के अलावा वैद्यनाथ व शिमुलतला भी कई बार गए थे। उनके भारतभ्रमण सम्बन्धी कई बातें हमें ज्ञात नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने कोई रोजाना डायरी नहीं लिखी थी। बाद में यत्र-तत्र किसी प्रसंग में उनका किसी प्रकार मन्तव्य सुन-कर अथवा उन व्यक्तियों द्वारा जिनके साथ उनका साक्षात्कार हुआ था कुछ घटनाएँ सुनकर जहाँ तक सम्भव हो सका है, उन्हें लिपिबद्ध किया गया है। फलतः कहीं कहीं भूल-भ्रान्ति रहना अनिवार्य है। साथ ही प्रत्येक परवर्ती संस्करण में मैंने उन भूलों के संशोधन के लिए भी यथासाध्य चेष्टा की है। एक बात और,— आगे हम नरेन्द्रनाथ न कहकर आचार्य देव का उल्लेख स्वामीजी अथवा विवेकानन्द नाम से करेंगे।

सूर्य उदित होने पर किसी से कहना नहीं पड़ता कि प्रभात हुआ है। उसकी रश्मियों का संचार होने के लिए किसी को घोषणा की आवश्यकता नहीं होती। अस्तु—श्रीस्वामीजी जहाँ भी जाते थे, उनका तप्त-कांचन वर्ण, विशाल तपोज्ज्वल शरीर सभी की मुग्ध द्रष्टि को आकर्षित कर लेता था। बिहार एवं उत्तर प्रदेश में यथेच्छ भ्रमण करते हुए अन्त में वे हिन्दुओं के परम पवित्र तीर्थ-स्नान काशीधाम पहुँचे।

श्री काशीधाम में वे द्वारकादास के आश्रम में रहते थे। भिक्षालब्ध अन्न से उदर की पूर्ति, देवस्थानों का दर्शन, शास्त्र की चर्चा, ध्यानजप, साधुसंग आदि ही उनका नित्यकर्म था। शाम को जिस समय वे भागीरथी के तट पर पथरों की सीढ़ीयों पर बैठकर सायंकाल की उपासना के लिए तैयार होते थे उस समय अगणित मन्दिरों से सन्ध्याआरती का घंटा-शंखनाद उन्हें भावविभोर कर देता था। वही भागीरथी का तट, वही दक्षिणेश्वर, वही श्रीरामकृष्ण देव एक एक करके सभी उन्हें स्मरण आते थे। आनन्द के वे दिन अब बीत गए हैं — आज वे श्रीरामकृष्ण के प्यारे शिशु नरेन्द्रनाथ नहीं — आज वे रामकृष्ण संघ के नेता स्वामी विवेकानन्द हैं! भावी जगत् नव-युग के आदर्श की आशा में उनकी प्रतीक्षा कर रहा है — कितना भारी दायित्व है उनके कन्धे पर! भावुक भक्तकवि विवेकानन्द के हृदय-दुर्ग में अव-रुद्ध भुवनपावक युगधर्म, शंकरजी के जटाजूट में स्थित भागीरथी की तरह निकलने का रास्ता न पाकर गम्भीर आवेग में उच्छ्वसित हो उठता था। विच-लित हृदय से विवेकानन्द इस कर्मभार से मुक्ति पाने के लिए बार बार श्री गुरुचरणों में प्रार्थना करते थे।

एक दिन किसी गुणमुग्ध भद्र महोदय ने उनका परिचय बंगगौरव स्वर्गीय पण्डित भूदेव मुखोपाध्याय से करा दिया। अपूर्व धीशक्ति-सम्पन्न तरुण संन्यासी के साथ धर्म, समाज, नीति व भारत की उन्नति सम्बन्धी चर्चा से भूदेव बाबू ऐसे मुग्ध हुए कि उन्होंने उन भद्र महोदय से कहा, "मुझे आश्चर्य हो रहा है कि इस तरुण युवक ने इतनी ही अवस्था में इतनी गम्भीर अन्त-र्दृष्टि तथा विपुल अभिज्ञता किस प्रकार प्राप्त कर ली है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में वे एक महान् व्यक्ति बनेंगे।"

बनारस के विख्यात साधु, श्री विश्वेश्वर जी के द्वितिय विग्रहरूपी श्रीमत् त्रैलिंग स्वामीजी का भी दर्शन प्राप्त कर स्वामीजी कृतार्थ हुए। इनके त्याग और तपस्या के बारे में स्वामीजी ने कई बार श्रीरामकृष्ण देव से सुना

था। अब उनके दर्शन से भक्ति और विनम्र चित्त के साथ उनके चरणों की धूलि लेकर वे कृतार्थ हो गए।

श्रीमत् स्वामी भास्करानन्दजी के गुणों को सुनकर स्वामी जी एक दिन उनके आश्रम में भी गए। उस समय श्री भास्करानन्द महाराज शिष्यों तथा भक्तों से घिरकर बैठे थे। स्वामीजी ने प्रणाम कर आसन ग्रहण किया। पहले विवेकानन्द की मनोहर शारीरिक कान्ति से उनकी दृष्टि आकर्षित हुई। फिर धीरे धीरे संन्यास-जीवन के आदर्श के सम्बन्ध में स्वामीजी को उपदेश देते हुए श्री स्वामी भास्करानन्दजी बोल उठे, "सम्पूर्ण रूप से 'कामिनी-कांचन' का त्याग कोई भी नहीं कर सकता।" स्वामीजी ने विनीत भाव से कहा, "क्या कहते हैं महाराज, ऐसे अनेक संन्यासी हैं, जो सम्पूर्ण रूप से काम-कांचन के बन्धनों से विमुक्त हैं क्योंकि संन्यास-जीवन की यही तो प्रथम साधना है और मैंने कम से कम ऐसे एक व्यक्ति को अवश्य देखा है जो कामकांचन की स्पृहा पर सम्पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करने में समर्थ हुए थे।" उनका उद्देश्य श्रीरामकृष्ण देव से था। श्री स्वामी भास्करानन्द जी ने हँसकर कहा, "तुम अभी बालक मात्र हो। इस उम्र में यह बात नहीं समझ सकोगे।" धीरे धीरे बातों में अपने गुरुदेव के पवित्रतम चरित्र की समालोचना होते देख स्वामीजी निर्भीक दृढ़ता के साथ प्रतिवाद करने को उद्यत हो गए। स्वामीजी के तेजयुक्त तथा युक्तिपूर्ण वचनों को सुनकर उपस्थित मण्डली तथा स्वयं भास्करानन्दजी बड़े विस्मित हुए। जिनके चरणों में राजा, महाराजा, धनी, पण्डित, ज्ञानी आदि सभी मस्तक झुकाकर कृतार्थ होते थे — जिनका अलौकिक पाण्डित्य अप्रतिहत गौरव के साथ ज्ञानालोक को विकीर्ण करता था — उन्हीं श्री भास्करानन्दजी का प्रतिपक्षी बनकर तर्क में अग्रसर होना कम साहस की बात नहीं थी! स्वामी भास्करानन्दजी तो बड़े उदार-हृदय थे — वे स्वामीजी की बातों से विशेष सन्तुष्ट हुए और उनके सामने ही अपनी मण्डली व उपस्थित व्यक्तियों से कहा, "इनके कण्ठ में सरस्वती विराजमान

हैं, इनके हृदय में ज्ञानालोक प्रदीप्त हुआ है।" गुरुदेव के सम्बन्ध में अनादरसूचक शब्द सुनकर व्यथित हृदय के साथ विवेकानन्द तुरन्त उक्त स्थान से उठ खड़े हुए।

कुछ दिन काशीधाम में रहकर स्वामीजी वराहनगर मठ में लौट आए। वाराणसी धाम हिन्दू भारत का हृत्पिण्ड है। यहाँ मद्रासी, पंजाबी, बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्रीय, उत्तर प्रदेशीय आचार-व्यवहार तथा भाषा की भिन्नता के बावजूद भी एक ही भाव के भावुक बनकर भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर में सम्मिलित होते हैं। काशीधाम में स्वामी जी ने पारमार्थिकता से भ्रष्ट, विचारविहीन एवं बाह्य-आचारपरायण इन नर-नारियों के बीच में भी सनातन धर्म की युग-युगान्तर से संचित महिमा की उपलब्धि की। इसीलिए हम देखते हैं, वराहनगर मठ में लौटकर वे गुरुभाइयों को प्रचार-कार्य के लिए प्रोत्साहित करने लगे। भारतवर्ष को देखना होगा, समझना होगा, इन लाखों करोड़ों नर-नारियों की जीवन-यात्रा के कितने ही भिन्न भिन्न स्तरों में क्या वेदना, क्या अभाव दिनरात प्रतीत हो रहा, है, वह समझना होगा, इस कल्याण-व्रत की साधना के लिए केवल स्वार्थत्याग ही नहीं बल्कि सर्वस्वत्याग करना होगा, यहाँ तक कि उन्हें अपनी मुक्ति की कामना तक को भूल जाना होगा। तेजस्वी विवेकानन्द के विशाल हृदय की सुदृढ़ इच्छाशक्ति ने फिर से उन्हें काशीधाम की ओर आकर्षित किया। वे मठभवन छोड़ फिर काशीधाम आ गए। काशीधाम में अखण्डानन्दजी ने स्वामीजी का परिचय प्रमदादास मित्र से करा दिया। यह सज्जन संस्कृत भाषा, साहित्य तथा वेदान्तदर्शन के धुरंधर पण्डित थे। प्रथम परिचय में ही स्वामीजी को प्रमदादास के प्रति श्रद्धा हो गई। बाद में शास्त्रार्थ की मीमांसा में यदि स्वामीजी को किसी प्रकार सन्देह उपस्थित होता था तो पत्र द्वारा वे उनसे उपदेश की प्रार्थना करते थे। उनकी तीर्थ-यात्रा का प्रारम्भ काशी से ही हुआ — १८८८ ई० के अगस्त में हाथ में दण्ड-कमण्डल लिये ये संन्यासीप्रवर उत्तर भारत के कई स्थानों से होकर सरयू नदी के तट पर स्थित अयोध्या पहुँचे।

अयोध्या — जिसके प्रत्येक धूल के कण के साथ सूर्यवंशी पराक्रमशील नृपतियों की गौरव-स्मृति विजड़ित है, कविश्रेष्ठ वाल्मीकी की कल्पनानन्दनवन का पारिजात पुष्प, — आदर्श राजा, आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श भ्राता के रूप में — इसी पुण्य भूमि में ही परिपूर्ण महिमा के साथ परिस्फुटित हुआ था। तेजस्वी ब्राह्मण वसिष्ठ का पौरोहित्य, क्षत्रिय राजा विश्वामित्र की तपस्या-बल पर ब्राह्मणत्व की प्राप्ति, ब्रह्मज्ञानी मिथिलाधिपति जनक — आदि की सुदूर अतीत की सहस्रों उज्ज्वल कथाएँ स्वामीजी को स्मरण हो आईं। सीताराम की पुण्य लीलाभूमि में पैर रखने के साथ ही उन्हें अपने बचपन की भी बहुतसी बातें याद आ गईं। उनका वह रामायण के प्रति प्रेम, सीताराम की मूर्ति के सामने तन्मय चित्त से ध्यान, वीरभक्त हनुमान के प्रति गम्भीर श्रद्धा — ये सब स्मृतियाँ एक एक करके उनके मानस-पट पर उदित होकर उन्हें भावानंद में विभोर करने लगीं। अयोध्या में कुछ दिन रामायत संन्यासियों के साथ श्रीरामनाम-कीर्तन में बिताकर स्वामीजी लखनऊ व आगरा होकर पैदल ही श्रीवृन्दावन धाम की ओर अग्रसर हुए।

आगरा में साकार शिल्प-सौन्दर्य ताजमहल तथा विशाल मुगल इमारतों को देखकर स्वामीजी ने आगरा से तीस मील दूर वृन्दावन की ओर यात्रा की। स्वामीजी जब वृन्दावन के निकट पहुँच रहे थे तो उन्होंने देखा कि रास्ते के किनारे एक व्यक्ति निश्चिन्त होकर तम्बाकू पी रहा है। पथ-श्रम से क्लान्त होकर स्वामीजी ने उस आदमी से हाथ बढ़ाकर चिलम माँगी वह व्यक्ति भयभीत होकर संकोच के साथ बोला, "महाराज, मैं भंगी हूँ।" मेहतर — आजन्म के संस्कारों के वशीभूत होकर स्वामीजी का हाथ अज्ञातवश ही एकदम पीछे हट गया और उन्होंने फिर अपना रास्ता पकड़ लिया। कुछ दूर जाने पर उन्हें होश आया। 'ठीक तो है, मैंने तो जाति, कुल, मान, सभी का त्याग कर संन्यास ग्रहण किया है, फिर मेहतर जानकर मेरा

सोता हुआ जाति-अभिमान क्यों जाग उठा, मेहतर की छुई हुई चिलम मैं क्यों नहीं ले सका ? अभ्यासजनित संस्कार का यह कैसा अद्भुत प्रभाव ! स्वामीजी लौट पड़े और जल्दी ही उसके निकट फिर आ पहुँचे। फिर बड़े प्रेम से उससे चिलम भरवाकर उन्होंने आनंद के साथ धूम्रपान किया। इस घटना को वे जीवन में कभी न भूले थे। बाद में कभी कभी अपने शिष्यों को यह समझाने के लिए कि आत्माभिमानशून्य होकर समस्त मानव में सम-बुद्धि की रक्षा करने के कठिन आदर्श का पालन कितनी सतर्कता के साथ करना पड़ता है, वे इस घटना का जिक्र किया करते थे।

वृन्दावन में आकर वे काला बाबू के कुञ्ज में अतिथि हुए। पर वृन्दावन में उनका मन अधिक दिन न लगा। १२ अगस्त के एक पत्र में वे लिखते हैं, "शहर में मन नहीं लग रहा है, सुना है राधाकुण्ड आदि स्थान मनोरम हैं।" वास्तव में श्रीवृन्दावन से नन्दिग्राम, वर्षणा, गोकुल, राधाकुण्ड आदि स्थान मनोरम है। गाँव के निवासी सरल व उदार हैं, गाँव का सौन्दर्य भी आकर्षक है। हरे मैदानों में मोटी ताजी, साफ सुथरी गायों का निर्भय विचरण देखकर श्रीकृष्ण-लीला की बात याद आ जाती है। राधाकुण्ड में आकर स्वामीजी को एक अपूर्व अनुभव हुआ।

एक दिन स्वामीजी ने अपने पहनने के एकमात्र कौपीन को धोकर किनारे पर सूखने को डाल दिया और स्वयं स्नान करने के लिए श्रीराधाकुण्ड के पवित्र जल में उतर पड़े। स्नान कर चुकने के बाद स्वामीजी ने जो देखा तो कौपीन गायब ! बड़े विस्मय के साथ उन्होंने देखा, एक बन्दर कौपीन उठा ले गया है और वह वहीं किनारे पर एक वृक्ष की डाल पर बैठा है। जल में खड़े खड़े उन्होंने उस बन्दर से काफी अनुनय विनय की, परन्तु बन्दर ने केवल मुँह बना बनाकर उन्हें व्यंगपूर्ण उत्तर ही दिया !

अब तो यह सोचकर कि सम्पूर्ण नग्नावस्था में कैसे बाहर निकलेंगे तथा भ्रमण भी कैसे करेंगे, वे बालक की तरह व्याकुल हो उठे। सोचने लगे,

क्या यही श्रीराधा रानी की इच्छा है ? तुरन्त उनके व्यथित हृदय में अभिमान जग उठा। जल में से निकलकर स्वामीजी घने जंगल में घुस गए; उन्होंने मन ही मन संकल्प कर लिया, जब तक पहनने का वस्त्र न मिलेगा तब तक इस अरण्य में ही अनशन करते रहेंगे। इतने में ही उन्होंने सुना कि पीछे कोई दूर से उन्हें बुला रहा है। घूम कर देखा कि एक व्यक्ति बड़ी तेजी से उनकी ओर चला आ रहा है, पर स्वामीजी ने उसकी परवाह न की। वे अपनी धुन में ही आगे बढ़ते गए। थोड़ी ही देर में वह व्यक्ति दौड़ता हुआ आया और आकर स्वामीजी के सामने खड़ा हो गया। स्वामीजी ने बड़े आश्चर्य से देखा कि उस व्यक्ति के हाथ में कुछ खाद्य पदार्थ हैं तथा एक नया गेरुआ वस्त्र भी। उस व्यक्ति के अनुरोध से मंत्रमुग्ध जैसे स्वामीजी ने उसके उपहारों को ग्रहण कर लिया, परन्तु उसके बाद वह व्यक्ति तुरन्त ही उस घने जंगल में अदृश्य हो गया। सम्भव है, वह व्यक्ति स्वामीजी की दुर्दशा दूर से ही देख रहा हो। खैर, वस्त्र पहनकर स्वामीजी फिर राधाकुण्ड लौट आए। पर अब उन्हें और भी एक बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने देखा कि उनका वह पहले का कौपीन जहाँ पर उन्होंने उसे सुखाया था वहीं पर सुरक्षित रखा हुआ है ! अब तो वे बड़े विस्मित हुए। इस घटना से तो सभी युक्ति तथा विचारों की सीमा को पार करके एक स्वर्गीय प्रेमानन्द से उनका हृदय भर गया; वे आनन्दविभोर हो गए, तन्मय हो गए और मुग्ध चित्त से श्रीराधाकुण्ड के तट पर कृष्णगुणगान करने लगे।

अभी प्रभात नहीं हुआ था। आकाश में उषा की रक्तिमा थोड़ी थोड़ी विकसित हो रही थी — लम्बे रास्ते के भ्रमण से थककर भूख व प्यास से व्याकुल हो स्वामीजी रास्ते के किनारे एक वृक्ष के नीचे बैठ गए। हाथरस रेलवे स्टेशन के स्टेशन मास्टर शरच्चन्द्र गुप्त अपना कार्य समाप्त करके घर लौट रहे थे। वे स्वामीजी के थके हुए, परन्तु फिर भी प्रातःकालीन सूर्य के समान दिव्य कान्तियुक्त चेहरे को देखकर मुग्ध हो गए। धीरे धीरे

आगे बढ़कर स्वामीजी की चरणरज लेने के बाद शरद बाबू ने विनम्र भाव से पूछा, " महाराज, आप क्षुधित व परिश्रान्त दीख रहे हैं। दया करके मेरे घर चलिए, वहीं पर विश्राम कीजिएगा।" मृदु हास्य एवं दयाभरी दृष्टि के साथ स्वामीजी वहाँ से उठकर धीरे धीरे शरद बाबू के साथ चल पड़े।

शास्त्र तथा महापुरुषों का वचन है कि भाग्यवान साधकों की दीक्षा का समय आ जाने से फिर उन्हें गुरु की खोज में भटकना नहीं पड़ता, गुरु स्वयं ही शिष्य को कृतार्थ करने के लिए उसके पास आ जाते हैं। आध्यात्मिक राज्य में इस प्रकार के दृष्टान्तों की कमी नहीं है ! स्वामीजी के सर्वप्रथम शिष्य पुण्य-चरित्र श्रीमत् स्वामी सदानन्द के जीवन में भी इसी प्रकार की घटना घटी थी।

प्रथम दर्शन में ही शरद बाबू ने स्वामीजी के श्रीचरणकमल में अपना प्राण तथा मन अर्पण कर दिया। भोजन तथा विश्राम के उपरान्त जब स्वामीजी बैठे तो शरद बाबू ने कहा, " महाराज, बहुत दिनों से आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई है, परन्तु आज तक कोई योग्य गुरु नहीं मिला। अब दया करके जब आज आपने स्वयं ही दर्शन दिया है तो कृपा करके मुझे कृतकृत्य कीजिए, मुझे आत्मज्ञान दीजिए।"

स्वामीजी प्रत्यक्ष रूप में उन्हें कोई उत्तर न देकर मन ही मन एक गाना गाने लगे जिसका भावार्थ यह था,—" यदि तुम मेरा प्रेम प्राप्त करना चाहते हो तो अपने सुन्दर मुख पर राख मलकर आ जाओ, कहो ऐसा कर सकोगे ? "

शरच्चन्द्र ने उसी समय उत्तर दिया, " स्वामीजी ! मैं आपका आज्ञाकारी भृत्य हूँ, जो कुछ आप आदेश देंगे, बिना सोचविचार किए मैं उसीका पालन करूँगा।" स्वामीजी विस्मय-विमुग्ध नेत्रों द्वारा मुमुक्षु युवक के वैराग्योद्दीप्त मुखमण्डल की ओर देखने लगे। क्या कहा जाय, वे सोच न सके।

एक दिन स्वामीजी को एकान्त में गम्भीर चिन्ता में मग्न देखकर शरद बाबू ने पूछा, "स्वामीजी! आज आप विषण्ण क्यों दीख रहे हैं?" ठण्डी साँस भरकर स्वामीजी ने उत्तर दिया, "बेटा, एक महान् कार्य को सम्पन्न करने का भार मेरे कन्धे पर दिया गया है, परन्तु मेरी शक्ति क्षुद्र है, मेरे द्वारा उसका होना सम्भव नहीं प्रतीत होता, इसी से मैं हताश होता जा रहा हूँ। जितने ही दिन बीतते जाते हैं, उतना ही मानो अधिक स्पष्ट रूप से समझ रहा हूँ कि सनातन धर्म के लुप्त गौरव का फिर से उद्धार करना ही उनका अभिप्रेत कार्य है। हाय! धर्म का कैसा शोचनीय अधःपतन हुआ है!—और उसके साथ ही अनशनपीड़ित भारतवासियों की भी कैसी दारुण दशा हुई है! भारत को फिर से धर्म की वैद्युतिक शक्ति द्वारा संजीवित करना है—इसकी आध्यात्मिकता के द्वारा समस्त जगत् को जीतना है, परन्तु उपाय क्या है,—उपाय क्या है?"—यह कहते कहते उनके दोनों तेजयुक्त विशाल नेत्र व्यथित करुणा से अधिक तेजस्वी हो उठे। शरद बाबू ने गम्भीर श्रद्धा के साथ अस्फुट स्वर में कहा, "महाराज, क्या मैं आपके किसी काम में नहीं आ सकता?"

स्वामीजी गम्भीर भाव से बोले, "इस महान् कार्य में आत्मोत्सर्ग करने के लिए क्या तुम भिक्षा-पात्र और कमण्डलु के सहारे रास्ते पर खड़े होने को तैयार हो? क्या तुम वास्तव में त्यागी के जीवन की दुःसह कठोरता को सह सकोगे?"

दृढ़ता के साथ शरद बाबू ने उसी समय उत्तर दिया, "अवश्य, आपकी कृपा होगी तो मैं अवश्य ही सहन कर सकूँगा।"

* * *

इस प्रकार कुछ दिन गुप्त परिवार में रहने के बाद स्वामीजी ने हाथरस छोड़ने का निश्चय किया। निदान एक दिन शरद बाबू को बुलाकर उन्होंने कहा, "बेटा, संन्यासी के लिए एक स्थान में अधिक दिन रहना

अनुचित है — और विशेषतः तुम लोगों के प्रति मैं एक आकर्षण का अनुभव कर रहा हूँ, अतः मेरे लिए शीघ्र ही इस स्थान को छोड़कर चला जाना श्रेयस्कर है।"

स्वामीजी के पवित्र संग-सुख से वंचित हो जाने की आशंका से शरच्चन्द्र ने शोकातुर होकर कहा, "महाराज, मुझे आप अपना शिष्य बना कर साथ लेते चलिए।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "क्या तुम सोचते हो कि मेरे शिष्य होने से ही तुम्हारी आध्यात्मिक पिपासा की तृप्ति होगी? किसी व्यक्ति के गुरु होने की योग्यता मुझमें है या नहीं, इसमें सन्देह है। भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर कर्म किये जाओ, वे ही सब प्रकार से कल्याण करेंगे। मैंने अभी श्री बद्रीनाथ के दर्शन के लिए यात्रा करने का संकल्प किया है, तुम दुःखी न हो, प्रसन्न मन से मुझे बिदा दो, मैं फिर से हाथरस लौटने की चेष्टा करूँगा।"

शरच्चन्द्र इस प्रकार की सान्त्वना से सन्तुष्ट होने वाले न थे। उन्होंने उत्तर दिया, "आप कुछ भी क्यों न कहें, आप जहाँ जाएँगे, मैं भी आपके पीछे पीछे चलूँगा। आपको मुझे दीक्षा देनी ही होगी।"

स्वामीजी थोड़ी देर सोचकर बोले, "क्या सचमुच तुम मेरे साथ चलने के लिए तैयार हो गये हो?" शरच्चन्द्र ने हाँ कहते हुए अपना सिर हिलाया। स्वामीजी उठकर बोले, "बहुत अच्छा! यह लो मेरी भिक्षा की झोली, और जाओ अपने ही स्टेशन के कुलियों से भीख माँगकर ले आओ।"

शरच्चन्द्र उसी समय बिना किसी दुविधा या संकोच के, कन्धे पर झोली रखकर भिक्षा के लिए निकल पड़े। भिक्षा लेकर शरच्चन्द्र को लौटते देख स्वामीजी ने आनन्दित हो उन्हें आशीर्वाद दिया। इसके बाद शरच्चन्द्र अपने माता-पिता की सम्मति लेकर स्वामीजी के साथ हाथरस छोड़ हृषीकेश में आ पहुँचे।

नवदीक्षित शिष्य स्वामी सदानन्द गुरुदेव के बताए हुए पथ पर कठोर साधना में व्रती हो गए, परन्तु शारीरिक परिश्रम में अभ्यस्त न होने के कारण ये नवीन संन्यासी कुछ ही दिनों के बाद अस्वस्थ हो गए। स्वामीजी बाध्य हो शिष्य के साथ फिर हाथरस लौट आए। पर यहाँ आकर स्वामीजी ने भी अस्वस्थ हो शय्या ग्रहण की। यहाँ के कुछ उत्साही नवयुवकों तथा गुप्त परिवार के यत्न व सेवा-शुश्रूषा से थोड़े ही समय में फिर स्वस्थ होकर स्वामीजी वराहनगर मठ में लौट आए। बाद में कुछ दिनों में सदानन्दजी भी स्वस्थ होकर १८८८ ई० के नवम्बर महीने में मठ में आ गए तथा अन्य संन्यासियों द्वारा बड़े स्नेह के साथ श्रीरामकृष्ण संघ में सम्मिलित कर लिये गए।

श्रीरामकृष्ण के गृही तथा संन्यासी भक्तगण बहुत दिनों के बाद अपने प्रियतम 'नरेन्द्र' को पाकर आनन्दविभोर हो उठे। स्वामीजी फिर से प्रबल उत्साह के साथ संन्यासियों को शिक्षा देने लगे तथा निकट भविष्य के कर्म की तैयारी के लिए उन्हें प्रोत्साहित करने लगे। जिस अमानवी प्रतिभा, असीम अनुकम्पा तथा उदार हृदय ने आगे चलकर सारे जगत् को श्रद्धाविमुग्ध तथा आकर्षित कर लिया था, उसका अनुभव वराहनगर मठ के श्रीरामकृष्ण-भक्तों ने बहुत दिन पहले ही कर लिया था।

सभी भारतवासी सामाजिक व पारिवारिक दृष्टि से अधिक उन्नत हो एक अत्यन्त उदार धर्म की नींव पर खड़े हों, धर्म में विश्वासहीनता ही हमारी वर्तमान दुरवस्था का एकमात्र कारण है और इसलिए सभी व्यक्ति धर्मपरायण बनने की चेष्टा करें — आदि आदि विषयों पर स्वामीजी प्रति दिन अपने गुरुभाइयों से विचार-परामर्श करते रहते थे और यह समस्या हल किया करते थे कि ऐसी अनुकूल परिस्थिति लाने के लिए हमें किस प्रकार कर्म करना होगा।

बिहार तथा उत्तर पश्चिमी प्रदेशों में पैदल भ्रमण कर उन्हें विभिन्न

प्रकार के आचार-व्यवहार व रीति-रिवाज का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करने का अवसर प्राप्त हुआ था। उन्होंने यह देखा, वे सब बातें ऊपर से आपस में कितनी ही विरोधी क्यों न प्रतीत हों, परन्तु उन सबको है एक ही धर्म का आधार। आधुनिक संस्कारकों की तरह अंगुली पर गिनने योग्य पाश्चात्य भावापन्न कुछ शिक्षित व्यक्तियों के मुखापेक्षी न रहकर उन्होंने पहले से ही भारत के विशाल जन-समूह के प्रति दृष्टिपात करना सीख लिया था। श्रीराम-कृष्ण के उपदेश व जीवनी का विश्लेषण कर स्वामीजी इस सिद्धान्त पर आ पहुँचे कि संकीर्ण विचार वाले गर्वोद्धत तथाकथित ब्राह्मणों व धर्म के व्यापारी अज्ञ गुरुसम्प्रदाय की अनुचित तथा अनधिकार चर्चा को समाज से दूर हटा-कर धर्मचिन्ता में सभी को पूर्ण स्वतंत्रता देने से ही सभी प्रकार के बाधा-विरोध तथा भेद-विभेद अनेकांश में नष्ट हो जाएँगे और इस प्रकार विभिन्न सम्प्रदाय व छोटे छोटे बनावटी जातिविभाग-समूह अदृश्य होकर सभी भारत-वासी एक अखण्ड जाति में परिणत हो जाएँगे।

इस समय प्रायः एक वर्ष स्वामीजी ने वराहनगर मठ तथा बाग-बाजार, कलकत्ते में बलराम बसु के मकान में व्यतीत किया। अधिकांश समय वे शास्त्रों के अध्ययन में ही व्यतीत करते थे। जब वे अपने विद्वान गुरु-भाइयों के साथ वेदान्त तथा पाणिनि व्याकरण का अध्ययन कर रहे थे उस उस समय काशी के प्रमदादास बाबू ने इन निर्धन संन्यासियों को वेदान्त तथा अष्टाध्यायी के ग्रन्थ दान दिए थे। इस बात का उल्लेख स्वामीजी ने अपने एक पत्र में भी कृतज्ञता के साथ किया है। १८८९ ई० के फरवरी मास में स्वामीजी एक बार श्रीरामकृष्ण की जन्मभूमि कामारपुकुर गाँव तथा श्री माताजी की जन्मभूमि जयरामवाटी गए और उसके बाद कुछ दिन शिमुलतला में रहकर जुलाई मास में कलकत्ता लौट आए थे। इस समय हम देखते हैं कि स्वामीजी बड़े उत्साह के साथ उपनिषद व शंकर-भाष्य का अध्ययन कर रहे हैं और प्रत्येक समस्या व सन्देह को मिटाने के लिए

काशी के प्रमदादास बाबू के पास पत्र लिख रहे हैं। इसी समय चार जुलाई के एक पत्र में अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए उन्होंने प्रमदादास बाबू को लिखा, "यह बात ठीक है और कई बार मैंने अनुभव भी किया है कि नाना प्रकार के नये नये मतों को मस्तिष्क में धारण करने से समय समय पर कष्ट झेलना पड़ता है। परन्तु अब की बार तो मुझे एक दूसरे ही प्रकार का रोग हुआ है। ईश्वर के मंगलहस्त में मेरा विश्वास अभी मौजूद है, जो सदा अटल रहेगा—शास्त्र पर भी मेरा विश्वास है, परन्तु भगवान् की कुछ ऐसी इच्छा थी कि मेरे जीवन के गत पाँच-सात वर्ष लगातार कई प्रकार की विघ्न-बाधाओं के साथ झगड़ने में व्यतीत हों। मैंने आदर्श शास्त्र पाया, आदर्श पुरुष को आँखों देखा, परन्तु पूर्ण रूप से स्वयं अब तक कुछ भी नहीं कर सका हूँ, यही बड़ा कष्ट है।

"विशेष रूप से कलकत्ते के पास रहकर तो कुछ भी होने का उपाय नहीं दीखता। मेरी माँ और दो भाई कलकत्ते में रहते हैं। मैं सबसे बड़ा हूँ, मझला भाई कालेज में प्रथम वर्ष (आर्टस्) में पढ़ रहा है और तीसरा छोटा है। इनकी स्थिति पहले बहुत ही अच्छी थी, परन्तु पिताजी की मृत्यु के बाद से बहुत ही शोचनीय हो गई है, यहाँ तक कि कभी कभी उपवास करके ही दिन व्यतीत हो जाता है। इस पर भी सम्बन्धियों ने उन्हें कमज़ोर समझकर पैत्रिक घर से निकाल बाहर कर दिया था—अन्त में हाइकोर्ट से मकान का कुछ भाग मिला, पर हुआ यह कि उस मुकदमेबाजी में वे सब कुछ खो बैठे। और ऐसा तो प्रत्येक मुकदमे में होता ही है।

"कलकत्ते के पास रहने से उनकी दुःस्थिति देखने के कारण कभी कभी रजोगुण की प्रबलता से अहंकार के विकाररूप कार्यकरी वासना का उदय हो जाता है। उस समय मन के भीतर बड़ा घोर संग्राम होने लगता है; इसीलिए तो मैंने लिखा था कि मानसिक स्थिति भयंकर है। अब

मुकदमा भी समाप्त हो गया है। आप ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि मैं कुछ दिन कलकत्ते में रहकर सब कुछ समाप्त कर इस देश से हमेशा के लिए बिदा ले सकूँ। आशीर्वाद दीजिए कि मेरा हृदय महान् ईश्वरी बल से बलवान हो और सभी प्रकार की माया मुझसे दूर हट जाय।"

परन्तु दिसम्बर मास के पहले स्वामीजी कलकत्ता छोड़ न सके। वे कलकत्ते से वैद्यनाथ गए। वहाँ कुछ दिन रहकर उनके हृदय में काशी-दर्शन के लिए व्याकुलता उत्पन्न हुई, परन्तु विधाता की इच्छा कुछ और ही थी। ३० दिसम्बर सन् १८८९ ई० को वे प्रयागधाम से प्रमदादास बाबू को लिखते हैं, "आपको एक पत्र में लिखा था कि दो एक दिन में काशी जा रहा हूँ, परन्तु विधि के विधान का खण्डन कौन कर सकता है? मुझे इस बात की सूचना मिली कि योगानन्द नाम के मेरे एक गुरुभाई चित्रकूट, ओंकारनाथ आदि का दर्शन कर यहाँ आकर माता के रोग से पीड़ित हो गए, अतएव उन्हीं की सेवा-टहल करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। अब मेरे गुरुभाई सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गए हैं। * * * परन्तु मेरा मन काशी जाने के लिए बड़ा व्याकुल हो रहा है।" यहाँ से काशी होकर स्वामीजी २२ जनवरी सन् १८९० को गाज़ीपुर पहुँचे। इच्छा है कि विख्यात साधु श्री पवहारी बाबा का दर्शन प्राप्त करें। २४ जनवरी को स्वामीजी लिखते हैं, "यहाँ मैं अपने बचपन के साथी श्री सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय के मकान पर हूँ, स्थान सुन्दर है। * * * मेरी बड़ी इच्छा थी कि फिर काशी जाऊँ, परन्तु जिस लिए यहाँ आया हूँ, अर्थात् बाबाजी के दर्शन को, वह लाभ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ।" ४ फरवरी को स्वामीजी फिर लिखते हैं, "बड़े भाग्य से बाबाजी के दर्शन प्राप्त हुए। वे महापुरुष हैं —आज इस नास्तिकता के युग में वे भक्ति तथा योग की अत्यद्भुत क्षमता का उदाहरण हैं, यह बात साधारण नहीं है। मैं इनके शरणागत हुआ हूँ, इन्होंने मुझे आश्वासन भी दिया है जो सभी के भाग्य में प्राप्त नहीं होता।"

पवहारी बाबा पहले से ही श्रीरामकृष्ण के बारे में जानते थे। स्वामीजी को उन्हीं का शिष्य जानकर वे उनका सत्कार करने लगे। धीरे धीरे उनकी घनिष्ठता बढ़ने लगी और वे एक दूसरे के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हो गए। जिस समय वे धर्म-राज्य की उच्चतर अनुभूति तथा कठिन दार्शनिक तत्व सम्बन्धी चर्चा करने लगते थे, उस समय उनका वार्तालाप ऐसी उच्च स्थिति पर पहुँच जाता था कि अन्य उपस्थित व्यक्तियों में से कोई भी उसका मर्म समझ नहीं पाता था।

स्वामीजी के ग़ाज़ीपुर आने के बाद प्रति रविवार को रायबहादुर गगनचन्द्र राय के मकान में एक छोटी सी धर्म-सभा होती थी जिसमें स्थानीय शिक्षित भद्र सज्जन काफी संख्या में उपस्थित थे। उनमें से अधिकांश स्वामीजी का सत्संग प्राप्त करने व उनका मधुर संगीत सुनने के अभिप्राय से वहाँ पर आते थे। स्वामीजी राधाकृष्ण-लीला सम्बन्धी संगीत गाया करते थे, और इसलिए ग़ाज़ीपुर के लोग उन्हें 'बाबाजी' कहकर पुकारते थे। एक दिन इसी सभा में समाज-सुधार के विषय में बातचीत के सिलसिले में स्वामीजी ने कहा कि समाज पर अग्निमय अभिशापों की वर्षा कर तथा प्रत्येक आचार-व्यवहार की कड़ी आलोचना द्वारा किसी प्रकार का सुधार सम्भव नहीं है। इसके लिए तो असीम प्रेम तथा अनन्त धैर्य की आवश्यकता है। इन्हीं साधनों द्वारा शिक्षा-विस्तार के बीच में से हमें धीरे धीरे भीतर की ओर से राष्ट्र को उन्नत बनाना होगा; हिन्दू धर्म के महान् सार्वभौमिक आदर्श के प्रति ध्यान देते हुए शिक्षा का प्रचार करना होगा और साथ ही हमें सदा इस बात का स्मरण रखना होगा कि हिन्दू धर्म कोई भ्रम-प्रमाद की समष्टि नहीं है। पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता की दृष्टि से विचार न कर गम्भीर अध्यवसाय के साथ सनातन धर्म के महत्व को समझने की चेष्टा करनी होगी तथा इस बात की खोज करनी होगी कि इस सनातन हिन्दू जाति का उद्देश्य क्या है और इसकी प्रकृत जीवनी-शक्ति कहाँ है। यह बड़े खेद की बात

है कि हममें से अनेक व्यक्ति पाश्चात्य शिक्षा के मोह से अन्ध होकर मन ही मन कल्पना करते रहते हैं — भारतवर्ष अपने राष्ट्रीय जीवन के आदर्श से बहुत दूर हट गया है तथा उसका ऐसा कोई सार्वजनीन आदर्श भी नहीं रहा है जिसके द्वारा विभिन्न सम्प्रदायों में एक समन्वय का सूत्र निकाला जा सके। वर्तमान समाज-सुधारकों में यही प्रधान कमी है — आध्यात्मिक नींव पर प्रतिष्ठित हिन्दू सभ्यता के प्रकृत रूप को देखने की दृष्टि-शक्ति वे खो बैठे हैं। जिस दिन हम इस बात को भलीभाँति समझते हुए विदेशी भावयुक्त संस्कारों के पंजे से समाज की रक्षा करने के लिए उद्यत हो जाएँगे, उसी दिन हमारी वर्तमान जातीय समस्या का समाधान होगा।

घनिष्ठ परिचय हो जाने से महान् तपस्वी पवहारी बाबा पर स्वामीजी बड़े मुग्ध हुए। उन्होंने अपने मन में सोचा, "क्या कारण है कि भगवान् श्रीरामकृष्ण की अहैतुकी कृपा क अधिकारी होकर भी आज तक मुझे शान्ति नहीं मिली? सम्भव है कि इन ब्रह्मज्ञ पुरुष की सहायता से मैं शान्ति प्राप्त कर सकूँगा।"

कौन कहेगा, इस समय प्रबल व्याकुलता से ही वे अपने श्री गुरुदेव की आदेश-वाणी को भूल गए थे या नहीं। श्रीरामकृष्ण देव ने उनसे एक दिन कहा ही था, "तेरी निर्विकल्प समाधि अभी ताले में बन्द करके रख दी गई है; काम समाप्त होने पर ही मिलेगी।" — क्या वे क्षणिक दुर्बलता के कारण ही इस बात को भूल गए थे?

स्वामीजी ने सुना था कि पवहारी बाबा ने योग-मार्ग की साधना द्वारा सिद्धि लाभ की थी। अतएव उनके हृदय में पवहारी बाबा से योग सीखने की इच्छा जाग्रत हुई। वे बाबाजी को पकड़कर बैठ गए और कहने लगे, "आपको मुझे योग की शिक्षा देनी ही होगी।" अत्यन्त आग्रह देखकर पवहारी बाबा ने भी हाँ कह दिया। स्वामीजी अब शुभ दिन की प्रतीक्षा करने लगे।

गम्भीर रात्रि में स्वामीजी पवहारी बाबा की गुफा में जाने के लिए

तैयार हुए। "श्रीरामकृष्ण या पवहारी बाबा?"— यह प्रश्न मन में आते ही उनका उत्साह ठंडा पड़ गया। विह्वल हृदय से, सन्देहपूर्ण चित्त से विवेकानन्द भूमि पर बैठ गए। श्रीरामकृष्ण की असीम कृपा, गम्भीर प्रेम, स्नेहयुक्त व्यवहार, एक एक करके उनकी स्मृति में आने लगे और इससे उनका व्यथित चित्त आत्मधिक्कार से भर गया। एकाएक उनका अन्धकारमय कक्ष दिव्य आलोक से उद्भासित हो उठा। स्वामीजी ने अपने सजल नेत्रों को उठाकर देखा,— दिव्य-दर्शन — उनके जीवन के आदर्श दक्षिणेश्वर के वही अद्भुत देव-मानव उनके सामने खड़े हैं!— उनके उज्ज्वल तथा विस्तृत नेत्रों में स्नेह, करुणा एवँ व्यथापूर्ण भर्त्सना थी— विवेकानन्द अवाक् रह गए, एक प्रहर तक पत्थर की मूर्ति की तरह वे जमीन पर बैठे रहे। प्रातःकाल हुआ। मन में संकल्प-विकल्प होने लगा कि भगवान् श्रीरामकृष्ण का वह दर्शन मस्तिष्क की दुर्बलता का ही फल तो नहीं था। निदान अगली रात को वे फिर से पवहारी बाबा के पास जाने के लिए उद्यत हुए। पर आज भी वही पहले की देखी हुई ज्योतिर्मयी मूर्ति उसी तरह उनके सामने खड़ी हो गई!! एक दिन, दो दिन, तीन दिन, लगातार सत्ताईस दिन इसी प्रकार व्यतीत होने पर अन्त में वे मर्म-वेदना से भूमि पर लोटपोट होकर आर्त स्वर से बोल उठे, "नहीं प्रभो, मैं और किसी के पास नहीं जाऊँगा। हे रामकृष्ण! तुम ही मेरे एक मात्र आराध्य हो, मैं तुम्हारा ही दास हूँ। मेरी इस मानसिक दुर्बलता के अपराध को क्षमा करो प्रभो!"

इस सम्बन्ध में कोई भी प्रश्न उठाने पर स्वामीजी का मुखमण्डल एक अव्यक्त वेदना से व्यथित तथा गम्भीर हो उठता था— विशेष कोई भी उत्तर न देते थे— दे ही नहीं सकते थे। बहुत दिनों के बाद उनके रचित 'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को'* शीर्षक कविता के कुछ अंश में हम इस घटना का थोड़ा बहुत आभास पाते हैं:—

---

* 'गाई गीत शुनाते तोमाय' इस मूल बंगला कविता का अनुवाद।

बाल-केलि करता हूँ तुमसे मैं
और क्रोध करके देव
तुमसे किनारा कर जाना कभी चाहता हूँ
किन्तु निशा काल में
शय्या के शिरोभाग में
देखता हूँ तुमको मैं खड़े हुए,—
चुपचाप,— आँखें छलछलाई हुईं,
हेरते हो मेरे तुम मुख की ओर।
उसी समय बदल जाता भाव मेरा,
पैरों पड़ता हूँ पर क्षमा नहीं माँगता;
तुम नहीं करते हो रोष।
पुत्र हूँ तुम्हारा, कहो,
और कोई कैसे इस प्रगल्भता को
सहन कर सकता है?
प्रभु हो तुम मेरे, तुम प्राणसखा मेरे हो।
कभी देखता हूँ—
"तुम मैं हो, मैं तुम हूँ!"

काशीधाम से स्वामी अभेदानन्दजी की अस्वस्थता का समाचार पाकर स्वामीजी गाज़ीपुर छोड़कर चले। काशीधाम पहुँचकर उन्होंने अभेदानन्दजी की चिकित्सा की अच्छी व्यवस्था की। जब वे कुछ स्वस्थ हुए तो स्वामी प्रेमानन्दजी को उनकी सेवा-टहल में नियुक्त कर स्वामीजी बाबू प्रमदादास मित्र के बगीचे वाले मकान में रहने लगे। इसी समय एक दिन स्वामीजी को श्रीरामकृष्ण देव के एक गृही भक्त बाबू बलराम बसु के परलोक सिधारने का समाचार मिला। इससे स्वामीजी को बड़ा दुःख हुआ। गुरुभाई के वियोग की व्यथा से कातर होकर स्वामीजी को विलाप करते देख

प्रमदा बाबू ने कहा, "यह क्या स्वामीजी! आप संन्यासी हैं — शोकार्त होना आपको शोभा नहीं देता।"

स्वामीजी ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया, "क्या आप सोचते हैं कि संन्यासी के हृदय नाम की कोई चीज़ ही नहीं होती? प्रकृत संन्यासी दूसरों के लिए साधारण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सहानुभूति का अनुभव करते हैं। विशेषतः मैं तो मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ। और फिर वे मेरे गुरुभाई जो थे। हमने एक साथ ही श्रीरामकृष्ण के चरणों के पास बैठकर शिक्षा ग्रहण की थी। उनके वियोग में जो मैं कातर हूँ इसमें विचित्र बात क्या है? पत्थर की तरह अनुभूतिशून्य संन्यासी का जीवन मेरे लिए ईप्सित नहीं है।"

बलराम बाबू की मृत्यु के बाद शोकार्त बसु परिवार को सान्त्वना देने के लिए तथा वराहनगर मठ की व्यवस्था आदि के लिए स्वामीजी काशी से कलकत्ता लौट आए। इसी बीच में २५ मई को मठ के एक मित्र तथा सहायक एवं श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ शिष्य सुरेशचन्द्र मित्र का देहान्त हो गया। इससे अब मठ का खर्च चलाने के लिए स्वामीजी चिन्तित हो गए। दो महीनों तक कलकत्ता व वराहनगर में रहकर स्वामीजी ने मठ का खर्च चलाने की उचित व्यवस्था की। इसके बाद उनके मन में भारत-भ्रमण की इच्छा फिर से तीव्र हो उठी। एक ओर तो नवगठित श्रीरामकृष्ण संघ के प्रति तीव्र ममत्व-बोध और दूसरी ओर सत्यकाम संन्यासी की निःसंग साधना का आवेग — इन दो विरुद्ध भावों के संघर्ष में विचलित होकर स्वामीजी ने मन ही मन संकल्प किया कि सभी बन्धनों को — यहाँ तक कि, गुरुभाइयों के निःस्वार्थ प्रेम-बन्धन तक को छिन्न करना होगा। जिस शक्ति के बल पर श्रीरामकृष्ण के महान् आदर्श का प्रचार किया जा सकता है उसी शक्ति को प्राप्त करूँगा — अन्यथा इसी चेष्टा में प्राण त्याग दूँगा — बस यही संकल्प उनके मन में दृढ़ हो गया।

उस समय श्रीरामकृष्ण-भक्तों की माता श्री शारदा देवी भागीरथी के पश्चिम तट पर घुसुड़ी गाँव में निवास करती थीं। स्वामीजी मठ छोड़कर जाने से पूर्व उनका आशीर्वाद प्राप्त करने की आकांक्षा से वहाँ गए। श्री माताजी के पवित्र चरणों की वन्दना करते हुए गम्भीर श्रद्धा से उन्होंने कहा, "माँ, जब तक श्रीगुरु के ईप्सित कार्य को मैं सम्पन्न न कर लूँगा तब तक नहीं लौटूँगा, तुम आशीर्वाद दो, मेरा संकल्प सिद्ध हो।"

करुणामयी माँ ने वीर सन्तान के मस्तक पर कल्याणहस्त रख श्रीरामकृष्ण का नाम लेकर उन्हें आशीर्वाद दिया। उस पवित्र स्पर्श से स्वामीजी का हृदय एक दिव्य भाव से परिपूर्ण हो गया, उन्हें ऐसा लगा मानो वे एक ऐसी महान् शक्ति के बल से बलवान हो गए हैं जो सभी प्रकार की विघ्न-बाधा, विपत्ति, सन्देह-द्वन्द्व आदि के बीच उनके हृदय में सदैव अचल रहेगी, यहाँ तक कि, मृत्यु का भय भी उन्हें अपने संकल्प से च्युत नहीं कर सकेगा।

१८९० ई० के जुलाई मास में मठ-भवन छोड़ने के बाद स्वामीजी ने पहले पहल भागलपुर में वकील मथुरानाथ सिंह के मकान पर कुछ दिन व्यतीत किए। वहाँ से विदा लेकर वे अपने गुरुभाई अखण्डानन्दजी के साथ देवघर आए। वहाँ स्वामीजी ने श्रद्धेय राजनारायण बसु से भेंट कर एक दिन उनके साथ धर्म-चर्चा की। देवघर से काशी आकर उन्होंने प्रमदादास बाबू का आतिथ्य ग्रहण किया। उस समय उन्हें हिमालय आकर्षित कर रहा था। अतएव वे अधिक दिन काशी में न रहे। विदा लेने से पूर्व वे प्रमदादास बाबू से कह गए, "जब मैं लौटूंगा तो समाज के ऊपर बम की तरह फूट पड़ूँगा और समाज मेरे पीछे चलेगा।" उसके बाद अयोध्या व नैनीताल होकर वे बद्री, केदार के पथ से अलमोड़ा पहुँचे। यहाँ के प्रसिद्ध व्यापारी लाला बदरी सहाय ने दोनों संन्यासियों के रहने के लिए एक सुन्दर बाग वाला मकान दे दिया। समाचार पाकर कुछ दिनों बाद स्वामी शारदानन्दजी व कृपानन्दजी भी आकर उनसे सम्मिलित हो गए। इस समय वराहनगर मठ

के अधिकांश संन्यासी तीर्थ-भ्रमण में निकल पड़े थे। कोई कोई हृषीकेश, हरिद्वार इत्यादि स्थानों में कुटी बनाकर अथवा पहाड़ की गुफाओं में रह-कर कठोर तपश्चर्या में लग गए।

हिमालय के वैराग्योद्दीपक मनोहर गम्भीर सुन्दरता ने स्वामीजी के समाधिलिप्सु मन को अन्तर्मुखी कर दिया। वे प्रति दिन रात के समय गुप्त रूप से पहाड़ की गुफा में ध्यान करते थे।

* * * *

विवेकानन्द के ध्यानस्तिमित नेत्रों में सत्य-धर्म मूर्तिमान हो उठा। आगतप्राय नवयुग के सम्मुख श्रीरामकृष्ण की वार्ता को पहुँचाना होगा — भावी भारत के उद्बोधन के लिए सत्व-रज की मिलन-वेदी पर सेवाधर्म की स्थापना करनी होगी — इससे पूर्व निर्विकल्प समाधि प्राप्त न होगी। इस दायित्वपूर्ण कर्म के भार से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने मन ही मन प्रबल व सचेष्ट युद्ध की घोषणा की; परन्तु बार बार असफल होकर अन्त में विरक्ति के साथ पहाड़ की गुफा को छोड़कर अलमोड़ा लौट आए और थोड़े ही दिनों के बाद गुरुभाइयों के साथ उत्तराखण्ड के परिभ्रमण के लिए निकल पड़े।

इस समय स्वामी तुरीयानन्दजी कर्ण प्रयाग में अलकानन्दा के तट पर आश्रम बनाकर तपस्या में रत थे। स्वामीजी गुरुभाइयों के साथ उनसे मिलकर बड़े आनन्दित हुए। वहाँ से वे बद्रीनारायण की ओर रवाना होने वाले थे पर उसी समय स्वामी अखण्डानन्द के अस्वस्थ हो जाने के कारण वे बाध्य होकर उनकी चिकित्सा के लिए देहरादून लौट आए। अखण्डानन्दजी के स्वस्थ हो जाने पर स्वामीजी गुरुभाइयों के साथ हृषीकेश में आकर रहने लगे। वहाँ उनके दिन वेदान्त आदि शास्त्रों की चर्चा तथा ध्यान, जप आदि में व्यतीत होने लगे। हृषीकेश स्वामीजी को बहुत ही आनन्ददायक लगा। इस समय की सुखद स्मृति वे अपने अन्तिम दिन तक भूल न सके थे। अपनी 'परिव्राजक' नामक पुस्तक में मर्मस्पर्शी भाषा में लिख भी गए हैं:—

" हृषीकेश की गंगा का स्मरण है न ? — वह निर्मल नीला जल — जिसमें दस हाथ नीचे की मछली के पंख तक गिने जा सकते हैं, वह अपूर्व स्वादपूर्ण हिमशीतल 'गांग्यं वारि मनोहारी' और वह अद्भुत 'हर हर हर हर' तरंग-ध्वनि, सामने पहाड़ी झरनों के 'हर हर' की प्रतिध्वनि, वह वन में निवास, मधुकरी भिक्षा, गंगा के बीच में छोटे छोटे द्वीपों की तरह प्रस्तर-खण्डों पर बैठकर भोजन करना, करपुटों से अंजलि भर भर के जल पीना, चारों ओर खाद्यकणों की आशा से मछलियों का निर्भय विचरण, गंगाजल के प्रति वह प्रीति, गंगाजी की महिमा, गंगाजल का वह वैराग्यप्रद स्पर्श ! ! * * * गत बार मैं थोड़ा सा गंगाजल ले गया था — कौन जाने ! समय पाते ही एकाध बूँद पी लेता था । पर पीने के साथ ही उस पाश्चात्य जनस्रोत के बीच में, उस सभ्यता के कोलाहल के बीच में, उन करोड़ों मनुष्यों के उन्मत्तप्राय द्रुतपदविक्षेपों के बीच में, मानो मन स्थिर हो जाया करता था । उस देश का वह जनस्रोत, रजोगुण का वह उधम, पग पग पर प्रतिद्वन्द्वियों का वह संघर्ष, विलास का वह क्षेत्र, अमरावती से तुलनीय वह पेरिस, न्यूयार्क, बर्लिन, रोम सभी लुप्त हो जाता था — और मैं सुनता था — वही 'हर हर' ध्वनि, और देखता था — वही हिमालय का निर्जन अरण्य, और वही कल्लोलिनी सुरतरंगिणी मानो हृदय में, मस्तक में, नस-नस में संचारित हो रही है और गरज गरज कर पुकार रही है 'हर, हर, हर, हर।' "

स्वामीजी का कठिन पथभ्रमण से क्लान्त शरीर घोर तपस्या का भार सहन न कर सका । तीव्र ज्वर व डिफ्थिरिया से वे पीड़ित हो गए । उनकी स्थिति दिन पर दिन अधिक खराब होती गई । अन्त में एक दिन नाड़ी की गति धीरे धीरे क्षीण होने लगी और साथ ही उन्हें खूब पसीना आने लगा । उनके गुरुभाईगण उनका अन्तिम समय निकट जानकर शोक और उद्वेग से अधीर हो उठे । दूसरा कोई उपाय न देखकर सभी मिलकर कातर कण्ठ से ईश्वर के चरणों में उनके प्राणों की भिक्षा माँगने लगे । ऐसे समय एक

अज्ञात तथा अपरिचित संन्यासी दैवयोग से वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने सभी को रोते देख कुतूहल सहित कुटी के भीतर प्रवेश किया। रोगी की स्थिति का विशेष रूप से निरीक्षण करने के बाद उन्होंने उपस्थित संन्यासियों को आश्वासन दिलाया और रोगी को एक दवा खिलाकर वे चले गए। आश्चर्य की बात है कि स्वामीजी ने थोड़ी ही देर में आँख खोल दी और बात करने की चेष्टा करने लगे। एक संन्यासी ने उनके मुँह के पास कान ले जाकर सुना, वे कह रहे हैं, "भाई, तुम लोग डरो मत — मैं मरूँगा नहीं।" धीरे धीरे स्वामीजी स्वस्थ होकर उठ बैठे और बोले, "अज्ञान अवस्था में मैंने अनुभव किया कि अभी मेरे अनेक कार्य बाकी हैं। उनकी समाप्ति होने के पूर्व देहत्याग न होगा।"

हिमालय से कन्याकुमारी तक भ्रमण करते हुए भारतवर्ष के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प होकर स्वामीजी हिमालय के चिर ईप्सित सुहावने स्थान का परित्याग कर 'साम गान से मुखरित आर्यों के आदि निवास-स्थान' पंचनद पहुँच गये। इधर उनके गुरुभाईगण उनका अनुसरण करने लगे और यह जानकर कि स्वामीजी मेरठ में हैं एक एक करके स्वामी ब्रह्मानन्द, अखण्डानन्द, तुरीयानन्द, शारदानन्द, कृपानन्द व अद्वैतानन्दजी आकर उनके साथ सम्मिलित हो गए। सेठजी का बगीचा वाला मकान एक प्रकार से दूसरा वराहनगर मठ हो गया। कीर्तन, ध्यान, जप, वेदान्त की चर्चा, शास्त्रालाप, उपस्थित जिज्ञासुओं को धर्म का उपदेश आदि आदि यही नित्य की दिनचर्या हो गई। एक दिन स्वामीजी के मन में यह विचार उठा कि गुरुभाइयों के स्नेह में भूलकर कहीं वे व्यर्थ में समय तो नष्ट नहीं कर रहे हैं?— इस विचार के आते ही स्वामीजी ने सभी को बुलाकर कहा, "मैं शीघ्र ही इस स्थान से चला जाऊँगा — मेरी इच्छा अकेले भ्रमण करने की है। तुममें से कोई भी मेरा पीछा न करना।" स्वामी अखण्डानन्दजी स्वामीजी

के साथ जाने के लिए विनीत भाव से उनकी आज्ञा माँगने लगे। स्वामीजी ने उत्तर दिया, "मैं देख रहा हूँ, तुम लोगों का स्नेह-बन्धन भी कर्म करने के पथ में प्रबल विघ्नतुल्य है। अतः जिसे देखने से माया जाग उठेगी उसे साथ लेना उचित नहीं। गुरुभाइयों के प्रति प्रीति भी एक प्रकार की माया है—बल्कि उससे भी अधिक समझो।" इस प्रकार तरह तरह से उन लोगों को सान्त्वना देकर स्वामीजी मेरठ से चल पड़े।

इतने दिनों के बाद अब श्रीगुरुदेव के इशारे को भलीभाँति समझकर परिव्राजक संन्यासी शिक्षादाता आचार्य के रूप में भारतभ्रमण के लिए निकल पड़े और धीरे धीरे पंजाब होकर 'साधुओं की पवित्र अस्थि, तथा सती के शोणित से रंजित प्रताप के देश—पद्मिनी की पवित्र भूमि'—वीरों का स्थान—राजपूताना में पहुँचे।

१८९१ ई० का फरवरी मास। स्वामीजी ने अलवर स्टेशन पर उतरकर नगर में प्रवेश किया। सरकारी दातव्य अस्पताल के डाक्टर बाबू गुरुचरण लश्कर महाशय व उनके मित्र स्थानीय उच्च विद्यालय के मौलवी साहब ने आनन्द के साथ स्वामीजी के ठहरने आदि का प्रबन्ध कर दिया। स्वामीजी जिस घर में रहते थे, वह अधिक लोगों के आने जाने से छोटा पड़ने लगा। यह देखकर इंजिनिअर पं० शम्भुनाथ जी बड़े आग्रह के साथ उन्हें अपने घर पर ले गये।

यहाँ प्रतिदिन नौ बजे प्रातःकाल से दोपहर तक हिन्दू-मुसलमान दोनों जाति के शिक्षित भद्र युवकगण एकाग्रचित्त होकर उनके उदार धर्म-मत-समूह का श्रवण करते थे। दार्शनिक चर्चा अथवा किसी कूट प्रश्न का उत्तर देते देते स्वामीजी एकाएक भावोन्मत्त होकर ज्ञानदास, सूरदास, चण्डीदास, विद्यापति आदि भक्त-कवियों के भजन मधुर कण्ठ से गाकर सुनने वालों के हृदय को भक्तिरस से भरपूर कर देते थे। स्वामीजी धर्मान्धता व कट्टरपन के तीव्र समालोचक होते हुए भी उनके युक्तिपूर्ण उत्तरों को

सुनकर सभी जिज्ञासु सन्तुष्ट होते थे। भलीभाँति सजाकर अथवा आगे पीछे की सोचकर या लोगों का मन रखने के लिए बात करने में नितान्त अनभ्यस्त स्वामीजी प्रश्न करने के साथ ही उसी समय उत्तर देते थे; उनमें पाण्डित्य या आत्मप्रतिष्ठा प्राप्त करने की किसी प्रकार की चेष्टा नहीं देखी जाती थी। इसी प्रश्नोत्तर की सभा में नाना प्रकार की आलोचनाओं के बीच एक व्यक्ति एकाएक प्रश्न कर बैठा, "बाबाजी, आप गेरुआ क्यों पहने हुए हैं?"

"क्योंकि गेरुआ भिक्षुकों का वस्त्र है।" स्वामीजी ने सकरुण दृष्टि डालते हुए कहा, "यदि मैं साधारण मनुष्यों की तरह वस्त्रादि पहन कर भ्रमण करूँ तो दरिद्र भिक्षुकगण मुझे धनवान समझ कर भिक्षा माँगेंगे। मैं स्वयं एक भिखारी हूँ, मेरे हाथ में एक पैसा भी नहीं है। माँगने वालों को निराश करने में मुझे बड़ा ही कष्ट होता है, परन्तु मेरा गेरुआ वसन देख वे मुझे अपनी ही तरह एक भिक्षुक समझ कर मुझसे भिक्षा न माँगेंगे।" स्वामीजी के इस उत्तर के बीच में दरिद्रों के प्रति कैसी गम्भीर समवेदना का आकुल उच्छ्वास छिपा हुआ है — कैसा सुन्दर, कैसा हृदयग्राही !!

इस अद्भुत शक्तिसम्पन्न संन्यासी के बारे में सुनकर एक दिन अलवर राज्य के दीवान बहादुर ने उन्हें अपने घर पर बुलाया। स्वामीजी से परिचित होकर दीवान बहादुर बड़े आनन्दित हुए और उन्हें अपने घर में ठहराकर दूसरे ही दिन महाराज बहादुर को उन्होंने एक पत्र में लिखा, "यहाँ पर एक महापण्डित संन्यासी पधारे हैं। अंग्रेजी भाषा पर तो उनका इतना अधिकार है कि उसे देखकर मैं विस्मित हो गया हूँ। श्रीमान इनके साथ वार्तालाप करके निःसन्देह सन्तुष्ट होंगे।" महाराज मंगलसिंग बहादुर उस समय राजधानी से दो मील दूर एक प्रासाद में ठहरे हुए थे। संयोगवश वे दूसरे ही दिन राजधानी लौटे और दीवान बहादुर के मकान पर स्वामीजी से उनका साक्षात्कार हुआ। महाराज ने स्वामीजी को भक्तिपूर्वक

प्रणाम कर आसन ग्रहण करने के लिए अनुरोध किया। थोड़ी देर वार्तालाप के बाद महाराज ने पूछा, "स्वामीजी महाराज, मैंने सुना है कि आप धुरन्धर पण्डित तथा एक बड़े विद्वान व्यक्ति हैं। आप यदि चाहें तो प्रचुर धन उपार्जन कर सकते हैं, फिर भी आपने भिक्षा-वृत्ति का अवलम्बन क्यों किया ?"

स्वामीजी ने कहा, "महाराज, पहले मेरे एक प्रश्न का उत्तर दीजिए। आप राजकार्य की अवहेला करते हुए क्यों साहबों के साथ शिकार आदि व्यर्थ के आमोद-प्रमोद में अपना समय बिताते हैं ?"

राजकर्मचारीगण स्पन्दित हृदय से इस असम साहसी साधु के अमंगल की आशंका करने लगे। थोड़ी देर सोच विचार कर महाराज ने कहा, "हाँ करता तो हूँ, परन्तु क्यों, यह नहीं कह सकता। इतना जरूर कह सकता हूँ कि वह मुझे अच्छा लगता है।"

स्वामीजी ने हँसकर कहा, "बस इसलिए मैं भी फकीर के वेश में इधर उधर घूमता फिरता रहता हूँ, कि यह मुझे अच्छा लगता है।" थोड़ी देर वार्तालाप के बाद महाराज समझ सके कि यह कृतविद्य संन्यासी केवल सुपण्डित ही नहीं — निर्भीक व स्पष्टवादी भी है। कुतूहलवश ही हो अथवा वास्तव सत्य को जानने के आग्रह से ही हो, महाराज ने प्रश्न किया, "देखिए बाबाजी महाराज, मूर्तिपूजा में मेरा ज़रा भी विश्वास नहीं है। इसके लिए मेरी क्या दुर्गति होगी ?" महाराज को हँसते देख स्वामीजी संदिग्ध दृष्टि से उनकी ओर देखकर बोले, "क्या महाराज मेरे साथ मजाक कर रहे हैं ?"

महाराज का मुखमण्डल एकाएक गम्भीर हो उठा। उन्होंने आग्रह के साथ कहा, "नहीं, नहीं, स्वामीजी ! वास्तव में मैं लकड़ी, मिट्टी, पत्थर या धातु की बनी हुई मूर्तियों के प्रति अन्य साधारण व्यक्तियों की तरह श्रद्धा-भक्ति नहीं कर सकता; क्या इसके लिए मुझे परकाल में कठोर सजा भुगतनी पड़ेगी ?"

"अपने विश्वास के अनुसार उपासना करने पर परकाल में सजा क्यों मिलेगी? मूर्तिपूजा में आपका विश्वास नहीं है तो क्या हुआ?" स्वामीजी का उत्तर सुनकर वहाँ पर अनेक उपस्थित व्यक्ति विस्मय के साथ सोचने लगे, कि वही स्वामीजी जिन्हें उन्होंने कई बार श्री बिहारीजी के मन्दिर में श्रीमूर्ति के सम्मुख भजन गाते गाते भावावेश में आँखों से आँसू बरसाते हुए साष्टांग होकर गिरते देखा है — उन्हीं स्वामीजी ने मूर्तिपूजा के समर्थन में दलील क्यों नहीं पेश की?— निदान उनके हृदय में तरह तरह के सन्देह उठने लगे।

इतने में ही दीवार पर लटके हुए महाराज के एक चित्र पर स्वामीजी की दृष्टि पड़ी। स्वामीजी ने उस चित्र को उतरवाया और उसे हाथ में लेकर दीवान बहादुर से पूछा, "क्यों, यह महाराज बहादुर का ही चित्र है न?" दीवान बहादुर ने स्वीकार-सूचक संकेत करते हुए मस्तक हिलाया।

"स्वामीजी ने कहा, बहुत अच्छा"— और उस चित्र को भूमि पर रखकर दीवान बहादुर से कहा, "अब आप इस पर ज़रा थूक दीजिए।" किंकर्तव्यविमूढ़ होकर दीवान बहादुर भयकातर विस्मित दृष्टि से स्वामीजी की ओर ताकने लगे! अन्य सभी उपस्थित व्यक्ति भी स्वामीजी के इस अद्‌भुत कार्य का कारण न जानकर साँस रोके हुए चित्रवत् खड़े रहे। स्वामीजी ने ज़रा ऊँची आवाज में सभी को उद्देश्य करके कहा, "आप में से कोई भी इस पर थूक दीजिए। यह एक कागज का टुकड़ा ही तो है। आप लोग हिचकिचा क्यों रहे हैं?— आइए इस पर थूकिए न?" सभी लोग एक बार स्वामीजी के, और फिर महाराज के मुँह की ओर ताकने लगे। दीवान बहादुर अन्त में बोल उठे, "आप कह क्या रहे हैं स्वामीजी? क्या हम महाराज के चित्र पर थूक सकते हैं?"

—"महाराज का चित्र होने से इसमें क्या आ गया? इसमें महाराज स्वयं तो उपस्थित नहीं हैं— यह तो सिर्फ एक टुकड़ा कागज है। यह

महाराज की तरह हिलडुल तो नहीं सकता या बातचीत भी तो नहीं कर सकता फिर भी आप लोग चुप क्यों खड़े हैं? " स्वामीजी ने हँसते हुए कहा, "हाँ, मैं जानता हूँ, आप लोग इस पर थूक नहीं सकेंगे, क्योंकि आप लोग समझ रहे हैं कि इस पर थूकने से महाराज के प्रति असम्मान प्रकट होगा। क्यों है न ठीक?" यह सुनकर सभी उपस्थित व्यक्तियों ने कुण्ठित आनंद तथा नीरव दृष्टि-भंगी से स्वामीजी के कथन का समर्थन किया। अब स्वामीजी ने महाराज को लक्ष्य करके कहा, "देखिए महाराज, एक दृष्टि से विचार करने पर यह आप नहीं हैं, पर यदि दूसरी ओर से देखा जाय तो इस चित्र में भी आपका अस्तित्व है और तभी कोई इस पर थूकने के लिए अग्रसर नहीं हुआ, क्योंकि ये लोग आपके अनुरक्त व विश्वस्त सेवक हैं। ऐसा कोई भी काम करने में जिसमें आप का असम्मान हो उनका संकुचित होना स्वाभाविक है। ये लोग आपको तथा इस चित्र को एक ही दृष्टि से देख रहे हैं। बस ठीक इसी तरह पत्थर या धातु की बनी प्रतिमाएँ भी श्रीभगवान की विशेष गुणवाचक मूर्तियाँ हैं। उन्हें देखते ही भक्त के मन में उसी भगवान की बातें जाग उठती हैं। भक्त मूर्ति के द्वारा भगवान की ही उपासना करते हैं,—धातु या पत्थर की पूजा नहीं करते। मैंने अनेक स्थानों में भ्रमण किया है, परन्तु कभी किसी हिन्दू को यह कहते नहीं सुना कि, 'हे पत्थर, हे धातु, मैं तुम्हारी पूजा कर रहा हूँ, तुम मुझ पर प्रसन्न हो जाओ।' महाराज, उन्हीं एक अनन्त भावमय भगवान की—जो सभी के उपास्य तथा सच्चिदानन्द स्वरूप हैं—भक्तगण अपने अपने भाव के अनुसार विभिन्न प्रकारों से उपासना किया करते हैं।"— यह कहते कहते स्वामीजी का मुखमण्डल एक दिव्य छटा से उद्भासित हो उठा। महाराज कृतज्ञ दृष्टि से टकटकी लगाए हुए हाथ जोड़कर बोले, "स्वामीजी! आपकी कृपा से आज मुझे मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में एक नवीन अभिज्ञता हुई। वास्तव में यदि आपकी दृष्टि से विचार किया जाय तो मैंने

भी आज तक एक भी लकड़ी या पत्थर का उपासक नहीं देखा। इतने दिनों तक मैंने मूर्तिपूजा का वास्तविक रहस्य नहीं समझा था, और न समझने की चेष्टा ही की थी। पर आज आपने मेरी ज्ञान की आँखें खोल दी हैं।" स्वामीजी से विदा लेते समय महाराज ने उनकी पदधूलि लेकर कहा, "स्वामीजी, कृपा करके मुझे आशीर्वाद दीजिए।"

स्वामीजी स्निग्ध हास्य द्वारा कल्याण वर्षाते हुए बोले, "एक मात्र भगवान के अतिरिक्त कृपा करने का अधिकार और किसी का नहीं है, आप सरल शुद्ध भाव से उनके चरणों में शरण लीजिए, वे अवश्य ही आप पर कृपा करेंगे।"

जब स्वामीजी अलवर से प्रस्थान करने लगे तो महाराज ने दीवानजी से कहा, "दीवानजी, मैंने आज तक इन जैसे किसी महापुरुष का दर्शन प्राप्त नहीं किया था। इन्हें कुछ और दिन अपने घर में रखने की चेष्टा कीजिए।" दीवानजी ने कहा, "कहा नहीं जा सकता कि यह अग्नितुल्य तेजस्वी व स्वाधीनचेता संन्यासी हमारा अनुरोध किसी प्रकार मानेंगे या नहीं। परन्तु खैर, मैं भरसक चेष्टा करूँगा।"

दीवान बहादुर के विशेष आग्रह को देखकर स्वामीजी ने उनके घर में ठहरना मान तो लिया, परन्तु तय यह हुआ कि कोई भी व्यक्ति किसी भी समय तथा स्थिति में बिना किसी विचार के उनसे साक्षात्कार प्राप्त कर सकेगा। कहना न होगा, दीवानजी ने बड़े आनन्द से स्वामीजी के इस प्रस्ताव को मान लिया।

अलवर निवासी कुछ विश्वासी तथा पवित्रहृदय युवक इससे पहले ही स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर चुके थे। स्वामीजी के उपदेश से उत्साहित होकर अब वे संस्कृत का अध्ययन करने लगे। इस प्रकार कुछ दिन भक्त व शिष्यों के साथ परम आनन्द से बिताकर स्वामीजी सभी से विदा लेकर भ्रमण के लिए निकल पड़े। अपने गुरुदेव को प्राणसदृश मानने वाले

शिष्यगण मना करने पर भी उनके पीछे हो लिए। प्रेमवश निरुपाय होकर स्वामीजी ने उन्हें अपने साथ ले लिया और अलवर से अठारह मील दूर पाण्डुपोल गाँव में जाकर हनुमानजी के मन्दिर में रात्रि व्यतीत की। प्रातः-काल श्री महावीरजी की पूजा करने के बाद स्वामीजी ने शिष्यों को अलवर लौट जाने का आदेश दिया और स्वयं अकेले अपनी इच्छा के अनुसार घूमते हुए जयपुर पहुँचे।

इधर स्वामी अखण्डानन्दजी स्वामी विवेकानन्दजी के विरह में कातर होकर उनकी खोज में निकल पड़े थे। जयपुर में आकर उन्होंने सुना कि राजभवन में एक संन्यासी निवास कर रहे हैं जो प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दर्शनशास्त्रों में पारंगत हैं और अंग्रेजी तथा संस्कृत में धारा-प्रवाह वार्तालाप कर सकते हैं। उन्होंने मन में सोचा कि हो न हो यह स्वामीजी ही होंगे। उनके अतिरिक्त दूसरा कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता। निदान अखण्डानन्दजी ने उनसे साक्षात्कार किया। स्वामीजी ने उन्हें देखकर आनन्द प्रकट करना तो दूर रहा, बल्कि क्रुद्ध होकर तथा कुछ भय दर्शाकर कहा, "तुमने मेरा पीछा करके अच्छा नहीं किया, शीघ्र ही इस स्थान को छोड़कर चले जाओ।" अखण्डानन्दजी दुःखित अन्तःकरण से जयपुर छोड़कर चले गए। उन्होंने मन ही मन सोचा, 'गुरुभाइयों के प्रति इस प्रकार निर्मम होने का अवश्य ही कोई महान् उद्देश्य होगा।'

जयपुर राज्य के एक सभापण्डित असाधारण व्याकरणवेत्ता थे। स्वामीजी ने उनसे पाणिनि-रचित अष्टाध्यायी का अध्ययन प्रारम्भ किया। पण्डितजी के कई बार समझा देने पर भी लगातार तीन दिन यत्न करने पर भी स्वामीजी प्रथम सूत्र का भाष्य न समझ सके। चौथे दिन पण्डितजी ने कहा, "स्वामीजी, मेरे यहाँ अध्ययन करने से आपको विशेष लाभ होगा, क्योंकि तीन दिन लगातार चेष्टा करके भी मैं आपको एक सूत्र भी न समझा सका।" स्वामीजी पण्डितजी की बात से लज्जित हुए और मन ही मन उन्होंने संकल्प

किया, "जब तक सूत्र का अर्थ समझ न सकूँ तब तक अन्न-जल ग्रहण न करूँगा।"

एक प्रहर समय बीतते ही स्वामीजी पण्डितजी के पास लौट आए और उस सूत्र की व्याख्या उन्हें कह सुनाई। स्वामीजी के मुँह से उक्त सूत्र की इतनी सरल व्याख्या सुनकर पण्डितजी बड़े विस्मित हुए। इसके बाद फिर अनन्यचित्त होकर स्वामीजी अध्ययन में रत हुए और दो सप्ताह में ही उन्होंने अष्टाध्यायी की समस्याओं का समाधान करके पण्डितजी से विदा ली। यहाँ पर हमें यह न समझना चाहिए कि केवल दो सप्ताह में ही उन्होंने सम्पूर्ण पाणिनि का अध्ययन कर लिया था। हम पहले ही कह चुके हैं, कि वराहनगर के मठ में उन्होंने दो वर्ष तक पाणिनि का अध्ययन किया था। जयपुर में उन्होंने पण्डितजी से केवल कुछ अंशों की व्याख्या सीखी थी। इस घटना को सुनकर बाद में कई व्यक्ति सन्देहवश स्वामीजी से प्रश्न किया करते थे। वे उत्तर देते थे, "योगी के लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आत्मा की सारी शक्ति को केन्द्रीभूत करके उसका प्रयोग किसी एक विषय पर करने से त्रिलोक में ऐसा कौन सा रहस्य है, जो अवगत न हो सके?"

जयपुर के प्रधान सेनापति सरदार हरिसिंग के साथ स्वामीजी का घनिष्ट परिचय हो गया था। उनके घर में स्वामीजी अक्सर धर्मचर्चा किया करते थे। कहा जाता है, सरदार साहब मूर्तिपूजा के विश्वासी न थे। एक दिन राजपथ पर श्रीकृष्ण की मूर्ति के साथ जुलूस जा रहा था। स्वामीजी ने एकाएक उन्हें छूकर कहा, "देखिए,—श्री भगवान का जीता जागता स्वरूप।" सरदारजी का भावान्तर हो गया,—डबडबाई आँखों से मंत्रमुग्ध की तरह वे खड़े रहे। अन्त में स्वाभाविक स्थिति को फिर से पाकर भरे हुए कण्ठ से बोले, "स्वामीजी, अनेक बार तर्क करके जिस विषय को समझ न सका था, आज आपकी कृपा से उसका अपूर्व दर्शन प्राप्त हो गया।"

स्वामीजी विनोदप्रिय थे। अविश्वासी होकर भी जो लोग तर्क करते थे, उन्हें निरुत्तर करके वे सदा ही आनंद का अनुभव करते थे। एक दिन वे कुछ लोगों के साथ धर्म-चर्चा कर रहे थे, ऐसे समय जयपुर के विख्यात पण्डित सूर्यनारायण वहाँ पधारे। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा, "मैं एक वेदान्ती हूँ। मैं अवतार-पुरुषों की विशेष आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास नहीं रखता। पौराणिक अवतारों में भी मेरा विश्वास नहीं है। हम सभी ब्रह्म हैं। मुझमें और किसी अवतार में क्या अन्तर है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "आपकी बात सत्य है, परन्तु हिन्दू लोग मत्स्य, कच्छप, वराह को भी अवतार कहते हैं। बताइए इनमें से आप कौन हैं?" सभा में बड़ी हँसी हुई। पण्डितजी लज्जित होकर चुप हो गए।

जयपुर से विदा होकर स्वामीजी अजमेर पहुँचे और आबू पहाड़ की एक गुफा में रहने लगे। कोटा दरबार के एक मुसलमान वकील स्वामीजी को उस स्थिति में देखकर अपने घर ले गए। इन धर्मप्राण उदारहृदय मुसलमान महोदय ने स्वामीजी के गुणों का परिचय पाकर कोटा के प्रधान मंत्री ठाकुर फतहसिंह आदि अनेक विशिष्ट व्यक्तियों से उनका परिचय करा दिया। एक दिन मौलवी साहब के बुलावे पर खेतरी के राजाबहादुर के सेक्रेटरी मुन्शी जगमोहनलाल उनका दर्शन करने आए। केवल कौपीन पहने स्वामीजी उस समय एक खटिया पर लेटे आँखें बन्द किए विश्राम कर रहे थे। मुन्शीजी मन ही मन सोचने लगे, "यह तो ऐसे ही साधारण भटकने वाले साधु दिखते हैं, साधु के भेष में चोर या गिरहकट भी होते हैं।" इतने में ही स्वामीजी उठ बैठे। बातचीत प्रारम्भ हुई। जगमोहन ने पूछा, "स्वामीजी, आप हिन्दू संन्यासी होकर मुसलमान के घर पर हैं, आपके भोजन आदि को ये मुसलमान महोदय छू सकते हैं।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "महाशय, आपका ऐसा कहने का मतलब क्या है। मैं संन्यासी हूँ, मैं सभी सामाजिक आचार-व्यवहार से परे हूँ। मैं एक मेहतर के साथ

भी बैठकर भोजन करता हूँ। यह तो ईश्वर का निर्देश है—अतः मैं निर्भय हूँ। शास्त्र का भी मुझे डर नहीं है, क्योंकि शास्त्र तो इसका समर्थन करते हैं। परन्तु हाँ, मुझे भय है आप जैसे सब कुछ जाननेवाले अंग्रेजी-वालों से! आप लोग शास्त्र व भगवान की परवाह नहीं करते, मैं सर्व भूतों में ब्रह्म का ज्ञान रखता हूँ। फिर मेरे लिए ऊँच-नीच या स्पृश्य-अस्पृश्य क्या है?"—'शिव शिव' उच्चारण करते हुए स्वामीजी तन्मय हो गए। उनका मुखमण्डल स्वर्गीय आभा से उद्भासित हो गया। इस थोड़ी देर के वार्तालाप से ही जगमोहन मुग्ध हो गए। राजा बहादुर ने जब सेक्रेटरी के मुँह से स्वामीजी की बात सुनी तो उन्हें भी उनके दर्शन करने की बड़ी लालसा उत्पन्न हुई। उन्होंने स्वामीजी को निमंत्रण भेजा और एक दिन स्वामीजी से प्रार्थना कर मुन्शीजी उन्हें राजभवन में लिवा लाए। राजा बहादुर ने बड़ी श्रद्धा से अभ्यर्थना करके उन्हें आसन-ग्रहण कराया और स्वय उनके सामने खड़े होकर पहले उनसे यह प्रश्न किया, "स्वामीजी, यह जीवन क्या है?"

स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "एक अन्तर्निहित शक्ति मानो लगातार अपने स्वरूप में व्यक्त होने के लिए अविराम चेष्टा कर रही है, और बाह्य प्रकृति उसे दबा रही है—इसी चेष्टा का नाम है जीवन।"

राजा बहादुर ने और भी कुछ प्रश्न किये तथा स्वामीजी ने भी उनका उचित उत्तर दिया। उनकी सूक्ष्म दृष्टि तथा गम्भीर आध्यात्मिक शक्ति का परिचय पाकर राजा बहादुर विशेष आनन्दित हुए और कुछ दिनों के बाद उनसे अनुरोध करके उन्हें अपने राज्य में ले आए। धर्मप्राण राजा अजीतसिंह व उनके सेक्रेटरी मुन्शीजी ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। गुरुभक्त शिष्य के व्याकुल आग्रह की उपेक्षा करने में असमर्थ हो स्वामीजी को कुछ दिन राजमहल में निवास करना पड़ा।

राजा बहादुर के सभापण्डित श्री नारायण दास उस समय सारे राज-

पूताना में सर्वश्रेष्ठ विद्वान गिने जाते थे। स्वामीजी इस अवसर पर उनसे पतञ्जलि महाभाष्य का अध्ययन करने लगे। संन्यासी की अलौकिक प्रतिभा से विस्मित होकर पण्डितजी ने एक दिन उनसे कहा, "स्वामीजी, मैं जो कुछ सिखा सकता था वह समाप्त हो गया। यदि मैं आपको स्वयं न देख लेता तो शायद मुझे यह विश्वास न होता कि आप जैसी प्रतिभा मनुष्य में सम्भव है।" स्वामीजी इन पण्डितजी की चिरकाल तक अध्यापक की तरह श्रद्धा करते रहे।

खेतरी के राजा को कोई पुत्र नहीं था। एक दिन गुरुदेव से अपना दुःख निवेदित करके उन्होंने प्रार्थना की, "मुझे ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि मुझे एक पुत्रसन्तान हो।" राजा की प्रार्थना सुनकर स्वामीजी कुछ चिन्तित हुए। अन्त में कातर आवेदन की उपेक्षा करने में असमर्थ होकर वे बोले, "अच्छा, श्रीरामकृष्ण देव की कृपा से आप की मनोकामना पूर्ण होगी।"

कुछ दिनों बाद स्वामीजी के हृदय में भ्रमण के लिए निकल पड़ने की इच्छा फिर से जाग्रत हुई। राजा बहादुर ने दुःखित अन्तःकरण से बड़ी ही अनिच्छा के साथ उन्हें विदा कर दिया।

गुजरात के रेगिस्तानी अंचलों को पैदल लाँघकर अहमदाबाद, लिंबड़ी, जूनागढ़, भोज, भेरावल व प्रभास होते हुए सोमनाथ का दर्शन कर स्वामीजी पोरबन्दर पहुँचे। इस बीच में लिंबड़ी के महाराजा ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। एक दिन स्वामीजी को पोरबन्दर के राजपथ पर भ्रमण करते देख महाराजा उन्हें अपने महल में ले आए।

पोरबन्दर के विख्यात विद्वान पण्डित शंकर पाण्डुरंग महोदय से परिचित होकर स्वामीजी की अध्ययन-स्पृहा फिर से जाग उठी। संन्यासी छात्र की सूक्ष्म बुद्धि का परिचय पाकर पण्डितजी भी उन्हें महाभाष्य पढ़ाने लगे। पण्डित नारायण दास के पास स्वामीजी ने उसका अधिकांश पढ़ ही

लिया था। जो शेष रह गया था उसे समाप्त कर अब वे उत्साह के साथ वेदान्त के व्यास-सूत्र का अध्ययन करने लगे। संयोगवश इसी समय गोवर्धन मठ के जगद्गुरु श्री शंकराचार्य महाराज का पोरबन्दर में आगमन हुआ। इस उपलक्ष्य में उनके सभापतित्व में लिंबड़ी राजभवन में स्थानीय पण्डित मण्डली की एक विचार-सभा बुलाई गई। पं० शंकर पाण्डुरंग महोदय के साथ स्वामीजी भी सभा में आए।

स्वामीजी की प्रतिभा की ख्याति पण्डितों ने इसके पहले ही सुन रखी थी। इसलिए उनकी परीक्षा लेने के हेतु उनमें से कई व्यक्ति व्यग्र हो उठे। एक दो वयोवृद्ध पण्डित दूसरे पण्डितों की सहायता से उनसे प्रश्न करने लगे। बड़े बड़े पण्डितों की मण्डली के सम्मुख एकाएक वाद-विवाद में बुलाए जाने पर संभ्रम, संकोच व लज्जा से स्वामीजी का मुखमण्डल आरक्त हो उठा। अन्त में अपने अध्यापक की सम्मति लेकर वे उठाए हुए कूट प्रश्नों का धीर भाव से एक एक करके उत्तर देने लगे। स्वामीजी का विनय, पाण्डित्य व उनकी तेजस्विता देखकर पण्डित मण्डली मुग्ध होकर उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगी। श्री शंकराचार्य महाराज ने भी उन्हें अपने पास बुलाकर बड़े आनन्द से उन्हें आशीर्वाद दिया और स्नेहपूर्ण व्यवहार से सम्मानित किया।

स्वामीजी की असाधारण बुद्धि व पवित्र चरित्र से भलीभाँति परिचित होकर एक दिन उनके अध्यापक पं० शंकर पाण्डुरंगजी ने कहा, "स्वामीजी, मैं नहीं समझता कि आप इस देश में धर्म-प्रचार करके विशेष कुछ कर सकेंगे। आपके उदार भावों को हमारे देशवासी जल्दी नहीं समझ सकेंगे। व्यर्थ में शक्ति का क्षय न कर आप पाश्चात्य देशों में जाइये। वहाँ के लोग महत्व व प्रतिभा का सम्मान करना जानते हैं। वहाँ आप अवश्य ही पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता पर सनातन धर्म का अपूर्व ज्ञानालोक फैलाकर एक नवीन युगान्तर लाने में समर्थ होंगे।"

स्वामीजी ने थोड़ी देर सोचकर उत्तर दिया, "हाँ, एक दिन प्रभार

में समुद्र तट पर खड़े होकर मैं सुदूर दिगन्त में आलोकोज्ज्वल तरंगमाला का नृत्य-कौशल्य देख रहा था। एकाएक मानो मन में आया कि इस विक्षुब्ध समुद्र को लँघकर मुझे किसी सुदूर विदेश में जाना होगा। परन्तु पता नहीं, यह कैसे सम्भव होगा।"

इस समय संयोगवश स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी हिंगुलाज तीर्थ में जाते हुए रास्ते में वहाँ आ पहुँचे। वे यह जानकर कि लिंबड़ी राजमहल में एक धुरंधर पण्डित, परमहंस ठहरे हुए हैं, उनके दर्शन के लिए वहाँ आए और बड़े आश्चर्य तथा आनन्द से देखा कि वे परमहंस तो उन्हीं के प्रियतम नेता नरेन्द्रनाथ हैं! बातचीत के सिलसिले में स्वामीजी ने कहा, "भाई शारदा ! श्रीरामकृष्ण देव मेरे सम्बन्ध में जो सब बातें कहा करते थे तथा जिन्हें मैं उस समय चपलतावश हँसकर उड़ा देता था वे अब सब धीरे धीरे सत्य प्रतीत होती जा रही हैं। मैं उनका अनुभव भी कर रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि मेरे भीतर जो शक्ति है उसके द्वारा तो मैं जगत् को उलट-पलट सकता हूँ।" स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के चले जाने पर इस शंका से कि कहीं दूसरे गुरुभाईगण भी उनका समाचार जान वहाँ आकर उन्हें तंग न करें, स्वामीजी पोरबन्दर छोड़ द्वारका, माण्डवी, पालीटाना आदि स्थानों का दर्शन करते हुए बड़ौदा में जाकर बड़ौदा राज्य के दीवान बहादुर मणिभाई के अतिथि हुए। वहाँ वे तीन सप्ताह रहे, पर इसी अवसर में बीच बीच में उन्होंने दो एक दिन के लिए मध्यभारत के कुछ स्थानों को भी देखा। इस समय भारत के विभिन्न प्रान्तों के जन समुदाय से परिचय प्राप्त कर लेने के लिए उनकी इच्छा मानो सौ गुनी बढ़ गई थी। गुजरात, काठियावाड़ व बम्बई प्रदेशों के अनेक छोटे-बड़े देशी नरेश व शासकों से उन्होंने स्वेच्छा से परिचय किया। उस समय उनकी यह धारणा थी कि यदि धनी राजा-महाराजागण जनसाधारण का दुःख, दैन्य व अज्ञान मिटाने के लिए अग्रसर हों तो काम अधिक सरलता से हो सकेगा। इसके बाद बड़ौदा से खण्डवा होकर

एक बंगाली महोदय का परिचय-पत्र लेकर वे बम्बई के बॅरिस्टर सेठ रामदास छबिलदास के अतिथि हुए। इस समय बम्बई के एक नामी राजनीतिक नेता ने कलकत्ते के एक अंग्रेजी समाचार पत्र में प्रकाशित 'सहवास-सम्मति की उम्र' नियत करने वाले कानून (The Age of Consent Bill) के सम्बन्ध में एक वाद-विवाद की ओर स्वामीजी की दृष्टि आकर्षित की। स्वामीजी यह देखकर बहुत लज्जित हुए कि बंगाल के शिक्षित भद्र महोदयगण भी निर्लज्ज भाव से इस प्रकार के एक कानून का प्रतिवाद कर सकते हैं और बातचीत के सिलसिले में उन्होंने बाल विवाह के असामञ्जस्य व दुष्परिणाम की तीव्र समालोचना की। एक गेरुआ वस्त्रधारी हिन्दू संन्यासी के ऐसे उदार भाव देखकर बम्बई के वह विख्यात राजनीतिज्ञ बड़े विस्मित हुए।

१८९२ ई० के सितम्बर मास में बम्बई से पूना जानेवाली रेलगाड़ी के एक दूसरी श्रेणी के डब्बे में स्वामीजी बैठे थे, — डब्बे में और भी तीन महाराष्ट्रीय युवक यात्री थे, उनमें घोर तर्क-युद्ध छिड़ा था। तर्क का विषय था संन्यास। दो युवक रानडे आदि सुधारकों के स्वर में स्वर मिलाकर संन्यास की अकर्मण्यता तथा उसके दोषों का प्रदर्शन कर रहे थे, तीसरे व्यक्ति उनके मतों का खण्डन कर भारत के प्राचीन संन्यास की महिमा का गुणगान कर रहे थे। यह युवक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ही थे। पास बैठे हुए संन्यासी विवेकानन्द इन तर्करत युवकों की युक्ति व उक्तिओं को ध्यान से सुन रहे थे। अन्त में लोकमान्य तिलक का पक्ष लेकर वे भी तर्क युद्ध में सम्मिलित हो गए। इस अंग्रेजी जानने वाले संन्यासी की प्रखर प्रतिभा से वे युवकगण उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो गए। स्वामीजी ने धीर भाव से समझा दिया कि संन्यासियों ने ही भारत के विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण करते हुए जातीय जीवन के उच्च आदर्शों का आज तक समस्त भारतवर्ष में प्रचार किया है। भारतीय सभ्यता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति यह संन्यास ही है जो शिष्य-परम्परा द्वारा जातीय जीवन के आदर्श की रक्षा नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं

के बीच में से इतने दिनों तक करता आया है। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि ढोंगी व स्वार्थी व्यक्तियों के हाथों बीच बीच में संन्यास लांछित तथा विकृत हुआ है, परन्तु किसी विशेष व्यक्ति के ढोंग के लिए भारत के समस्त संन्यासी सम्प्रदाय को जिम्मेदार बनाना उचित नहीं। इस विद्वान संन्यासी की वाक्-पटुता तथा गम्भीर पाण्डित्य देखकर लोकमान्य तिलक बड़े मुग्ध हुए और पूना स्टेशन पर उतरकर स्वामीजी को अपने घर लिवा ले गए। स्वामीजी भी तिलकजी की प्रखर प्रतिभा तथा उनका वेदादि शास्त्रों पर अधिकार देख-कर आनंदित हुए तथा हर्ष के साथ उनके घर रहने लगे। दोनों आपस में वेदों के गूढ़ार्थ की चर्चा कर बड़े तृप्त होते थे। इस प्रकार पूना के तिलक-भवन में कुछ दिन व्यतीत कर स्वामीजी ने महाबलेश्वर की ओर प्रस्थान किया। अकस्मात् एक दिन राजपथ पर लिंबड़ी के ठाकुर साहब अपने गुरुदेव को दीन वेष में देखकर उन्हें अपने घर लिवा लाए और बोले, "महाराज, इस प्रकार व्यर्थ का भ्रमण-क्लेश क्यों सहन कर रहे हैं? आपको मैं अब न छोड़ूँगा, दया करके मेरे साथ चलिए, लिंबड़ी में आपके स्थायी रूप से रहने के लिए भलीभाँति व्यवस्था कर दूँगा।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "ठाकुर साहब, एक अद्भुत शक्ति मुझे जबरदस्ती घुमा रही है। भगवान श्रीरामकृष्ण देव मेरे कन्धे पर एक महान् कार्य का भार सौंप गए हैं। जब तक वह कार्य समाप्त न होगा तब तक विश्राम करने की आशा व्यर्थ है। यदि जीवन में कभी विश्राम करने का अवसर मिला तो आपके साथ आकर जरूर रहूँगा।"

विवेकानन्द फिर अपने पथ पर निकल पड़े और मार्मागोआ होकर बेलगाँव पहुँचकर वे एक विशिष्ट महाराष्ट्रीय महोदय के अतिथि हुए। उनके पुत्र अध्यापक जी. एम. भाटे, एम. ए. ने अपने यहाँ के नवीन अतिथि के सम्बन्ध में जो विस्तृत विवरण लिखा है उसमें हम देखते हैं कि सरल, उदार-अकपट स्वामीजी के पाण्डित्य, निरभिमान, विनय व तीव्र राष्ट्र-प्रेम से

स्थानीय सभी शिक्षित व विशिष्ट व्यक्ति उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। बेलगाँव निवासी हरिपद मित्र, जो जंगल के मुहकमे में एक कर्मचारी थे, इन संन्यासी का परिचय प्राप्त कर उन्हें अपने घर ले आए और उनके पाण्डित्य व धर्म के प्रति अनुराग से मुग्ध होकर सपत्नीक उनके शिष्य बन गए। यहाँ पर स्वामीजी ने एक दिन हरिपद बाबू से अमेरिका में जाकर शिकागो-धर्मसभा में सम्मिलित होने की अपनी इच्छा प्रकट की थी। परन्तु जब हरिपद बाबू ने इस उद्देश्य-सिद्धि के लिए चन्दा इकट्ठा करने का प्रस्ताव किया तो स्वामीजी ने उन्हें रोक दिया। थोड़े दिनों के बाद मित्र-दम्पति से विदा लेकर स्वामीजी बेलगाँव से बंगलोर चले गए।

मैसूर राज्य के दीवान आर. के. शेषाद्रि बहादुर की भी स्वामीजी से भेंट हुई। उन्होंने इनकी ओर आकर्षित होकर मैसूर नरेश महाराजा चामराजेन्द्र वाडियर बहादुर को इनसे परिचित करा दिया। महाराजा भी स्वामीजी की अलौकिक प्रतिभा व उनके पाण्डित्य का परिचय पाकर विशेष आनन्दित हुए और उन्होंने उनसे राजभवन में रहने के लिए बड़ी श्रद्धा से प्रार्थना की। स्वामीजी राजभवन में अतिथि हो गए। मैसूर नरेश बड़े सरल व उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। स्वामीजी समय समय पर बालक की तरह सरल भाव से महाराजा के किसी कार्य में त्रुटि देखकर उसी समय उसकी तीव्र आलोचना कर देते थे, इससे महाराजा विशेष आनंद का अनुभव करते थे। एक दिन स्वामीजी की सस्नेह भर्त्सना से बनावटी क्रोध प्रकट करते हुए महाराजा ने कहा, "स्वामीजी, मैं इतना बड़ा महाराजा हूँ। मुझसे आपको डरना उचित है, मेरी खुशामद करना उचित है। भविष्य के लिए आप सावधान हो जाइए, वरना आपका जीवन संकट में पड़ सकता है।"

स्वामीजी ने बालकोचित सरलता से महाराज की बातों पर विश्वास करते हुए गम्भीर भाव से उत्तर दिया, "आपके अनुचित कार्य व कथनों का समर्थन करने के लिए तो अनेक सभासद हैं ही, मैं संन्यासी हूँ — सत्य

ही मेरी तपस्या है। मामूली जड़ देह के अनिष्ट की आशंका से मैं सत्य को छोड़ दूँ? आप हिन्दू राजा होकर क्या एक हिन्दू संन्यासी से भी अनुचित कार्य की आशा रखते हैं?"

कहना न होगा, इस प्रकार की निर्भीक स्पष्टवादिता के लिए ही स्वामीजी मैसूर नरेश के मित्र बन सके थे। महाराजा एक ओर जिस प्रकार स्वामीजी के साथ हासपरिहास एवं रहस्यपूर्ण वार्तालाप करते थे, दूसरी ओर उसी प्रकार गुरु की तरह श्रद्धा भी रखते थे, यहाँ तक कि महाराजा बहादुर ने एक दिन स्वामीजी की पादपूजा करने का अभिप्राय प्रकट किया, परन्तु स्वामीजी ने उसका ऐसा निषेध किया कि महाराजा को बाध्य होकर उक्त संकल्प का परित्याग करना पड़ा। कोई आश्चर्य नहीं है कि पार्थिव यश, सम्मान व ऐश्वर्य की आकांक्षा रहित इस संन्यासी ने केवल अपने विमल चरित्र के प्रभाव से राजाधिराज से लेकर एक मेहतर तक के हृदय पर अधिकार प्राप्त कर लिया था।

एक दिन दीवान बहादुर के सभापतित्व में राजप्रासाद में एक विचार-सभा बुलाई गई। बंगलोर नगर के प्रायः सभी पण्डितगण इस सभा में सम्मिलित हुए।

वेदान्त पर विचार आरम्भ हुआ। पण्डितगण वेदान्त के विभिन्न मतवादों का समर्थन कर वाद-विवाद में प्रवृत्त हुए। अपने अपने मत की स्थापना की आकांक्षा से दूसरों के मत को भ्रान्त प्रमाणित करने के लिए तर्क-वितर्क की खूब आँधी उठी —— परन्तु बहुत समय व्यतीत होने पर भी वे लोग किसी सिद्धान्त पर न पहुँच सके।

अन्त में दीवान बहादुर के अनुरोध से स्वामीजी खड़े हुए और श्रद्धा के साथ उन्होंने उपस्थित मण्डली का अभिवादन किया। उनके दैवी लावण्य-मण्डित मुखमण्डल तथा उज्ज्वल विशाल नेत्रों ने थोड़ी ही देर में वयोवृद्ध विद्वान पण्डित-मण्डली के हृदय पर अपना अधिकार जमा लिया। स्वामीजी

ने अपने स्वाभाविक मधुर कण्ठ से सुललित संस्कृत में अपूर्व युक्ति द्वारा प्रमाणित कर दिया कि सर्व सन्देह-विनाशक वेदान्त के विभिन्न मतवाद परस्पर-विरोधी नहीं, बल्कि एक दूसरे के समर्थक हैं। वेदान्त शास्त्र कुछ दार्शनिक मतवादों की समष्टि नहीं, वरन् साधक जीवन की विभिन्न स्थितियों में अनुभूत सत्यों का समूह है। अतः एक की सत्यता प्रमाणित करने के लिए ऊपर से विरुद्ध प्रतीत होने वाले दूसरे को मिथ्या प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी की वेदान्त की नवीन व्याख्या सुनकर उपस्थित पण्डितमण्डली आश्चर्यचकित हो गई और एक स्वर से उनकी प्रशंसा करने लगी।

एक दिन बातचीत में महाराजा ने कहा, "स्वामीजी, मेरी बड़ी इच्छा है कि यदि मैं आपके लिए कुछ कर सकता तो बड़ा ही अच्छा होता। आप तो मुझसे कुछ भी ग्रहण नहीं करेंगे।"

स्वामीजी ने अपने भारत-भ्रमण की अभिज्ञता से देश की वर्तमान स्थिति का वर्णन करके कहा, "हमारी वर्तमान आवश्यकता है पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से आर्थिक व सामाजिक स्थिति को उन्नत बनाने की चेष्टा करना। केवल यूरोपनिवासियों के दरवाजे पर खड़े होकर रोने-पीटने से तथा भीख माँगने से उद्देश्य सिद्ध न होगा। वे लोग हमें जिस प्रकार वर्तमान उन्नत वैज्ञानिक प्रणाली से कृषि, शिल्प आदि की शिक्षा देंगे, उसके बदले में हमें भी उन्हें कुछ देना होगा। भारतवर्ष के पास इस समय एक मात्र आध्यात्मिक ज्ञान के अतिरिक्त और देने योग्य है ही क्या? इसीलिए कभी कभी मेरी इच्छा होती है कि वेदान्त के उदार धर्म-प्रचार के लिए पाश्चात्य देश में जाऊँ। प्रत्येक भारतवासी का स्वजाति व स्वदेश के कल्याण की कामना से ऐसी चेष्टा करना कर्तव्य है जिससे इस प्रकार के आदान-प्रदान का सम्बन्ध स्थापित हो सके। आप जैसे, महाकुलप्रसूत शक्तिशाली राजन्यवर्ग यदि चेष्टा करें तो सहज ही में यह कार्य

प्रारम्भ हो सकता है। आप ही इस महत्कार्य में अग्रसर हों, यही मेरी एक मात्र इच्छा है।"

महाराजा ने ध्यान से स्वामीजी की बातें सुनीं और कहा, "स्वामीजी, यदि आप पाश्चात्य देशों में हिन्दू धर्म का प्रचार करने के लिए जाएँ तो उस सम्बन्ध में सारे व्यय का भार उठाने के लिए मैं तैयार हूँ।" यहाँ तक कि महाराजा उसी समय उन्हें कई हजार रुपये देने को भी तैयार हो गये। पर स्वामीजी ने लेने से इन्कार करते हुए कहा, "महाराज, मैं अभी स्थिर निश्चय नहीं कर सका हूँ। मैंने हिमालय से कन्याकुमारी तक भ्रमण करने का संकल्प किया है। यह परिव्राजक व्रत उद्यापित न होने तक अन्य किसी दूसरे कार्य में हस्तक्षेप न करूँगा — यहाँ तक कि उसके बाद क्या करूँगा, कहाँ जाऊँगा, इसका भी कोई निश्चय नहीं है।"

अन्त में एक दिन स्वामीजी को प्रस्थान करने के लिए तैयार देख महाराजा ने उन्हें विविध प्रकार के बहुमूल्य द्रव्यों का उपहार प्रदान किया। बहुत अनुरोध करने पर स्वामीजी ने उनमें से मित्रता के स्मृति-चिह्न के रूप में एक छोटीसी चीज़ लेकर शेष सब को अस्वीकार कर दिया। दीवान बहादुर ने स्वामीजी की छोटीसी गठरी में एक नोटों का बंडल रख देने के लिए बहुत चेष्टा की परन्तु वे उसमें भी सफल न हो सके। इससे दीवान बहादुर बहुत दुःखी हो गए। स्वामीजी ने उन्हें खिन्न देखकर कहा, "अच्छा ऐसा ही है तो लो मैं कोचीन तक का एक दूसरी श्रेणी का रेल-टिकट तुमसे लिए लेता हूँ।" दीवान बहादुर कोचीन राज्य के दीवान के लिए एक परिचय-पत्र देकर बोले, 'स्वामीजी, दया करके मेरे एक अनुरोध को स्वीकार कीजिए। आप पैदल भ्रमण का कष्ट न उठाइएगा। कोचीन राज्य के दीवानजी आपकी श्रीरामेश्वर तक जाने की व्यवस्था कर देंगे।"

स्वामीजी कोचीन की राजधानी त्रिचुड़ में कुछ दिन विश्राम कर सुरम्य मलाबार प्रान्त में से होकर त्रावणकोर राज्य की राजधानी त्रिवेन्द्रम में उप-

स्थित हुए। त्रावणकोर महाराजा के भतीजे के गृह-शिक्षक अध्यापक सुन्दरराम अय्यर ने उन्हें आदर के साथ अतिथि के रूप में ग्रहण किया। स्वामीजी ने उनके द्वारा त्रावणकोर के महाराजा, दीवान बहादुर तथा प्रिन्स मार्तण्ड वर्मा के साथ परिचय प्राप्त किया। उक्त राजकुमार के साथ वार्तालाप के सिलसिले में स्वामीजी उत्तर भारत, राजपूताना तथा पश्चिम भारत के देशी नृपतियों के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए बोले—"देशी राजा-महाराजाओं में बड़ौदा के गायकवाड़ की विद्वत्ता, कर्मकुशलता व देशप्रीति विशेष रूप से श्लाघ्य है।" स्थानीय कुछ पण्डितगण भी स्वामीजी के पाण्डित्य व प्रतिभा से मुग्ध हुए। इस समय की स्मृति में त्रावणकोर के श्री. एस. के. नायर ने लिखा है:—

"विख्यात विद्वान महाराजा कालेज के रसायन-शास्त्र के अध्यापक श्री. रंगचारियार व स्वामीजी दोनों ही अंग्रेजी व संस्कृत में धुरन्धर विद्वान हैं। वे आपस में नाना विषयों की चर्चा कर सुखी होते थे। ऐसे व्यक्ति बहुत कम थे जो स्वामीजी के साथ थोड़ी भी देर वार्तालाप करने पर उनके प्रखर व्यक्तित्व से आकृष्ट न हो जाते हों। एक ही साथ कई अथवा अलग अलग अनेक व्यक्तियों के विभिन्न विषय के प्रश्नों का एक ही साथ उत्तर देने की उनमें अपूर्व दक्षता थी। कभी स्पेन्सर, कभी शेक्सपिअर, कभी कालिदास और कभी डार्विन के अभिव्यक्तिवाद, यहूदी जाति का इतिहास, आर्य सभ्यता की क्रमाभिव्यक्ति, वेद, इस्लाम धर्म अथवा ईसाई धर्म— किसी भी विषय में क्यों न प्रश्न किया जाय, स्वामीजी उचित उत्तर देने के लिए सदा तैयार रहते थे। उनके सभी अंग-प्रत्यंग महानता व सरलता से मण्डित थे। पवित्र हृदय, आडम्बर विहीन जीवन, उदार व खुले दिल का व्यवहार, व्यापक ज्ञान व गम्भीर सहानुभूति ही उनके चरित्र की विशेषताएँ हैं।"

मदुरा में रामनद के राजा भास्कर सेतुपति के साथ उनका परिचय

हुआ और विद्वान राजा ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। जनसाधारण की स्थिति को उन्नत बनाने के लिए शिक्षा के विस्तार व कृषि की उन्नति के लिए संसार से वैराग्य लिए हुए संन्यासी को आग्रह व उत्साह के साथ चर्चा करते देख राजा को कुछ विस्मय हुआ। स्वामीजी ने कहा, "मोक्ष लक्ष्य अवश्य ही संन्यासी का है, परन्तु मुझे मेरे गुरुदेव से यही आदर्श प्राप्त हुआ है कि भारतवर्ष की जनता की उन्नति करने की चेष्टा करना भी मोक्ष-प्राप्ति का एक साधन है।" मदुरा में कुछ दिन बिताकर दक्षिण भारत की वाराणसी रामेश्वर में भगवान् श्रीरामचंद्र द्वारा स्थापित शिवजी के तथा अन्य बड़े बड़े मन्दिरों का दर्शन करके स्वामीजी कन्याकुमारी की ओर चल पड़े।

स्वामीजी के भारत-भ्रमण की अपूर्व कथा ज्यों की त्यों लिपिबद्ध करना इस पुस्तक में सम्भव नहीं है। अतः हम इसे संक्षेप में ही समाप्त करने के लिए बाध्य हो रहे हैं। स्वामीजी कभी राजाधिराजाओं के सुन्दर, शीतल, संगमर्मर के प्रासादों में आराम कर रहे हैं—पास स्वयं नरपति आदेश-पालन के लिए हाथ जोड़े खड़े हैं, तो कभी धूप से चमकने वाली प्रचण्ड मरुभूमि की तपी हुई बालू पर भूख-प्यास से व्याकुल चले जा रहे हैं—और सामने एक साधारण बनिया उन्हें खाद्य वस्तुओं का लोभ दिखा दिखाकर उनसे व्यंग कर रहा है। कभी वे राजा महाराजा तथा उच्च वंशजात धनी व मानी व्यक्तियों के आग्रहपूर्ण आमंत्रणों को अस्वीकार करके दरिद्र चमार के घर में भिक्षा ग्रहण कर उसे कृतार्थ कर रहे हैं, तो कभी पाँच-पाँच, छः छः दिन भूखे प्यासे रहकर पेड़ के नीचे प्रसन्नतापूर्ण हँसी के साथ धर्म के सूक्ष्म तत्वों की व्याख्या कर रहे हैं। आदर, सम्मान, भक्ति, उपेक्षा व ताड़ना—कुछ भी उनके चित्त को विचलित करने में समर्थ न हुआ। उस अपूर्व तितिक्षा, असीम धैर्य, अलौकिक त्याग-शक्ति, अपार परदुःखकातरता का वर्णन मानवी भाषा में करना असम्भव है। हम जिसे

दुःख कष्ट कहते हैं,—जिसके साधारण स्पर्श से हम व्यथितचित्त होकर चीत्कार करते हुए 'भगवान का विचार नहीं है' इत्यादि मन्तव्य प्रकट कर बैठते हैं, मूर्तिमान संन्यासरूपी इस महामानव ने अविचलित रहकर उन सभी कष्टों को सहन किया है—केवल सहन ही नहीं—मानो उनमें ही वे आनन्द से उन्मत्त भी हो जाते थे। उन्होंने कभी दुःख से दूर भागने की चेष्टा नहीं की, बल्कि स्वयं अपने समग्र योगैश्वर को गुप्त रखते हुए वे मानव जाति की सारी दुर्बलता—समस्त पापभार—तथा सभी दुःख-कष्ट स्वयं अपने कन्धे पर उठाकर, हमारी ही तरह मनुष्य सजकर जगत् के कल्याण की कामना से नवजागरण की पुण्य वार्ता लेकर द्वार द्वार पर फिरे हैं। वर्तमान युग में इससे बढ़कर स्वार्थत्याग तथा तपस्या किसने कहाँ देखी है? इसीलिए स्वामीजी ने भारत भ्रमण के लिए निकलने से पहले किसी भक्तिभाजन मित्र को एक पत्र में लिखा था, "आशीर्वाद दीजिए कि मेरा हृदय महान् ईश्वरीय बल से बलवान हो और सभी प्रकार की माया मुझसे दूर हो जाय—For 'we have taken up the cross, Thou hast laid it upon us and grant us strength that we bear it unto death. Amen'—Imitation of Christ.

"क्योंकि—हमने जगत् के दुःख-कष्ट रूपी क्रास को उठा लिया है। हे पिता, अब तुम्हीं हमें बल दो ताकि हम उसे मृत्यु तक वहन कर सकें।"

इस अविराम भ्रमण के बीच में से भारत के विभिन्न प्रान्तों के आचार-विचार, रीति-रिवाज आदि का परिचय पाकर स्वामीजी को जो अभिज्ञता प्राप्त हुई थी वह साधारण न थी; परन्तु सब से बढ़कर, जन-साधारण का दारिद्र्य, अज्ञान व कुसंस्कार से उत्पन्न दुःख ने ही उनका विशाल हृदय व्यथित कर दिया था। हम देखते हैं, अपने परिव्राजक जीवन में वे प्रायः सभी स्थानों में राजा-महाराजाओं के अतिथि हुए हैं,

स्वयं उनसे मिले हैं। इस समय उनका विश्वास था कि पाश्चात्य भावों से उन्मत्त, घोर विलासी तथा अमितव्ययी देशी राजाओं के चित्त में यदि राष्ट्र के प्रति सहानुभूति जाग्रत हो जाय तो जनसाधारण का बड़ा कल्याण हो सकता है। वे सोचा करते थे, वे लोग जिस धन का भोगविलास में व्यय करते हैं उसका यदि थोड़ासा भी अंश शिक्षा व कृषि की उन्नति में लगा दें तो जनसाधारण का निश्चय ही बड़ा कल्याण हो और यदि वे पाश्चात्य भोग-विलास का अनुकरण न करें तो इन्हें देखकर साधारण धनिकगण भी स्वजाति के साथ सामाजिकता को छिन्न कर साहबीपन की ओर न झुकें। परन्तु परवर्ती काल में उनकी यह धारणा बदल गई थी। देश के कल्याण के लिए राजा-महाराजा व धनिकों के बजाय उनका विश्वास चरित्रवान, शिक्षित युवकों के प्रति अधिक दृढ़ हो चला था। इस समय युवक संन्यासी विवेकानन्द के विचारों व चरित्र में अतिद्रुत परिवर्तन हुआ था।

१८८८ ई० में जो अशान्त परिव्राजक वराहनगर मठ को छोड़कर निरुद्देश यात्रा में निकल पड़े थे तथा १८९२ ई० के दिसम्बर मास में जिन विवेकानन्द को हमने दाक्षिणात्य के पथ पथ में भ्रमण करते देखा,—वे दोनों सम्पूर्ण पृथक् न होने पर भी बहुत कुछ पृथक् व्यक्ति हैं। इस प्रकार अद्भुत मानसिक विकास अति अल्प मानव में ही सम्भव है। मानो भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के मंगल हस्त ने आवरण के बाद आवरण को हटा कर उन्हें भारत-भ्रमण के बहाने राष्ट्रीय जीवन की मर्मान्तिक समस्याओं का प्रत्यक्ष परिचय करा दिया।

सामने—वायु से आन्दोलित तरंगों के विक्षोभ से पूर्ण उच्छ्वसित सुनील महासागर; पीछे पर्वत, मैदान तथा अरण्यों से सुशोभित सस्यश्यामला भारतमाता—और उसकी अन्तिम पाषाण शिला पर योगासन में उपविष्ट नवभारत के मंत्रगुरु—परिव्राजकाचार्य विवेकानन्द! कैसा महिममय दृश्य है!!

स्वामीजी सोच रहे थे—गुरुदेव की आदेश वाणी को शिरोधार्य कर समग्र भारतवर्ष का भ्रमण किया, धनी-निर्धन, ऊँच-नीच, राजा-महाराजा, पण्डित मूर्ख,—सभी के द्वार द्वार पर गया हूँ—अपरोक्षानुभूति द्वारा प्राप्त सत्य के प्रचार के लिए यथासाध्य चेष्टा की है,—परिव्राजक का व्रत उद्यापित हुआ है, अब मैं क्या करूँ? क्या और भी कुछ कर्म शेष हैं?

कन्याकुमारी के श्रीमन्दिर के पास प्रस्तरासन पर बैठे योगीवर ध्यानमग्न हो गए। महापुरुष के तपोमार्जित निर्मल, पवित्र चित्त-दर्पण पर मातृभूमि के अतीत, वर्तमान व भविष्य चित्रसमूह एक एक करके प्रतिबिम्बित होने लगे। आशा-आनन्द, उद्वेग-अमर्ष से उद्वेलितहृदय वीरवर संन्यासी की ध्यान दृष्टि के सामने 'वर्तमान भारत' देदीप्यमान हो उठा। "यही मेरा भारतवर्ष है—मेरी प्यारी मातृभूमि!"—सोचते सोचते उनकी दोनों आँखों में आँसू भर आए।

उन्होंने देखा—धर्मक्षेत्र भारतवर्ष दुर्भिक्ष, महामारी, दुःख-दैन्य, रोग शोक से जर्जरित है। एक ओर प्रबल विलास-मोह में उन्मत्त, अधिकार मद से मतवाले धनिक लोग गरीबों को चूस कर अपने विलास की पिपासा को तृप्त कर रहे हैं,—दूसरी ओर अनाहार से जीर्ण शीर्ण, फटे वस्त्रवाले, मुखमण्डल पर युग-युगान्त की निराशा को लिए अगणित नरनारी, बालक-बालिकाएँ 'हा अन्न, हा अन्न' के चीत्कार से गगनमण्डल को विदीर्ण कर रहे हैं; शिक्षा-दीक्षा के अभाव में निम्नजातीय लोग पुरोहित-सम्प्रदाय के हृदयहीन कठोर व्यवहार से सनातन धर्म के प्रति श्रद्धाहीन हो गए हैं; केवल यही नहीं, हजारों व्यक्ति हिन्दू धर्म को ही अपराधी ठहराकर दूसरे धर्म को ग्रहण करने के लिए तैयार हैं, करोड़ों व्यक्ति प्रति दिन अज्ञान के अन्धकार में डूब रहे हैं—उनके हृदय में न आशा है, न विश्वास है और न नैतिक बल ही। शिक्षित नामधारी एक अपूर्व श्रेणी के जीवगण उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करना तो दूर रहा, पाश्चात्य शिक्षा से स्वेच्छाचारी बन

उन्हें छोड़कर नए नए समाज व सम्प्रदायों की स्थापना द्वारा हिन्दू धर्म के मस्तक पर अग्निमय अभिशापों की वर्षा करने में लगे हुए हैं। धर्म केवल प्राणविहीन आचार-नियमों की समष्टि व कुसंस्कारों की लीलाभूमि है। परिणाम में वर्तमान भारत प्रायः आशा, उद्यम, आनंद व उत्साह के बिखरे हुए ध्वंसावशेषों से पूर्ण महास्मशान बना हुआ है। काम-कांचन-त्यागी आजन्म-समाधि-लिप्सु संन्यासी का वज्रकठोर विशाल हृदय दया से द्रवीभूत हो गया।

बोधिवृक्ष के नीचे बैठे शाक्य कुमार गौतम बुद्ध की ही तरह उनका हृदय हजारों अज्ञ, मोहान्ध, अत्याचारपीड़ित एवं उपेक्षित देव ऋषियों के वंशधरों के लिए रो उठा। वे सोचने लगे, "हम लाखों संन्यासी इन्हीं के अन्न से जीवन धारण करते हुए इनके लिए क्या कर रहे हैं? उन्हें दर्शन-शास्त्र की शिक्षा दे रहे हैं! धिक्कार है!! भगवान् श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे, 'खाली पेट में धर्म नहीं होता, साधारण अन्न व मोटे वस्त्र की व्यवस्था चाहिए।' भूखे व्यक्ति को धर्मोपदेश देने के लिए अग्रसर होना मूर्खता मात्र है। धर्म उनमें यथेष्ट है। आवश्यकता है शिक्षा-विस्तार की,—चाहिए भोजन वस्त्र की व्यवस्था। परन्तु यह कैसे सम्भव होगा? इस कार्य में अग्रसर होने के लिए प्रथम चाहिए मनुष्य और द्वितीय धन।"

कमर की कौपीन मात्र सहाय, निर्धन संन्यासी हैं वे—वे क्या कर सकते हैं? निविड़ नैराश्य से उनका हृदय भर उठा। गम्भीर—गम्भीरतम चिन्ता से उनके हृदय का अन्तःस्तल आलोड़ित हो गया। पर एकाएक निराशा के घनान्धकार को हटाकर आशा की दिव्य ज्योति स्फुरित हुई! वेदनामिश्रित आनन्द की तीव्रतम अनुभूति लेकर वे सोचने लगे, "श्रीगुरुदेव के आशीर्वाद से इस महान् कार्य का भार मैं ग्रहण करूँगा। उन्हीं की इच्छा से निकट भविष्य में भारत के नगर नगर, गाँव गाँव में ऐसे हजारों नर-नारी पैदा होंगे जो गतानुगतिक रूप से स्वार्थान्ध होकर भोग-विलास के

पीछे न दौड़ेंगे — जो नरनारायण की सेवा में सर्वस्व अर्पण कर इस महान् युगचक्र के विवर्तन में सहायक होंगे। परन्तु धन कहाँ से आएगा?— मैंने इस चिन्ता के भार को मस्तिष्क में लेकर हृदय का रक्त देते देते समस्त भारतवर्ष का भ्रमण किया है — धनी, राजा-महाराजा, प्रत्येक के द्वार द्वार पर गया हूँ — दरिद्रों की सहायता के लिए प्रार्थना की, परन्तु प्राप्त हुई केवल मौखिक सहानुभूति। केवल भारतवर्ष के मुखापेक्षी बनकर रहना व्यर्थ में समय नष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस विस्तीर्ण महासागर को लाँघ, भारत के लाखों पीड़ितों का प्रतिनिधि बनकर मैं पाश्चात्य देश में जाऊँगा। वहाँ मस्तिष्क के बल पर अर्थोपार्जन करके स्वदेश लौटूँगा और शेष जीवन मातृभूमि की उन्नति के लिए लगा दूँगा — अन्यथा इसी चेष्टा में प्राण त्याग दूँगा।"

* * * *

मोक्षकामी संन्यासी मनुष्यत्व व मातृभूमि के सेवक के रूप में ध्यानासन से उठे। मन में दुविधा नहीं रही, सन्देह व संकोच हट गया, महान् गुरु श्रीरामकृष्ण देव के निर्देश व नियोग को उन्होंने सर्वान्तःकरण से स्वीकार कर लिया। उन्होंने इस बात की उपलब्धि की कि अद्वैत वेदान्त के महा निनाद द्वारा भारत के सोये मनुष्यत्व को जगाये बिना तथा समष्टि-मुक्ति को प्राप्त किए बिना अपनी मुक्ति तुच्छ है। प्रत्येक महान् व्यक्ति के जीवन में जो कुछ होता है, यहाँ भी वही हुआ,— उद्दाम अशान्त जीवन के स्रोतावर्त में नई तरंग उत्पन्न हुई! विवेकानन्द का मानसिक विकास एक स्तर छोड़कर दूसरे में आ पहुँचा। संसारविमुख योगी लाखों-करोड़ों नर-नारियों के कल्याण के लिए योद्धा के वेश में सत्य की तलवार हाथ में लिए हुए रणांगण की ओर दौड़ पड़े। भारतवर्ष की ओर मुँह फेरकर विवेकानन्द की नवीन यात्रा का प्रारम्भ हुआ।

कन्याकुमारी छोड़ रामनद के बीच में से होकर वे फ्रान्सीसियों द्वारा

अधिकृत पाँडिचिरी में आ पहुँचे। यहाँ थोड़े ही समय में कुछ शिक्षित युवक उनके अनुरागी बन गए और भ्रमण से क्लान्त स्वामीजी को कुछ दिन आराम करने का अवसर मिला। यहाँ पर एक दक्षिणी कट्टर ब्राह्मण विद्वान के साथ हिन्दू धर्म व उसके संस्कार के विषय में स्वामीजी का वाद-विवाद हुआ। स्वामीजी के उन्नतिशील प्रस्तावों पर युक्ति के बदले गालियों की बौछार करते करते पण्डितजी आग-बबूला हो उठे। जब स्वामीजी ने कहा कि समुद्र-यात्रा के विरुद्ध शास्त्र का कोई सुसंगत निषेध नहीं है, तब तो मानो आग में घृताहुति पड़ गई! स्वामीजी ने शान्त भाव से समझाने की जितनी ही चेष्टा की, पण्डितजी उतनी ही अंगभंगी करते हुए तथा अपनी मोटी चोटी को हिलाते हुए कहने लगे, "कदापि न, कदापि न।" विचार-सभा का यह परिणाम देख स्वामीजी उपस्थित शिक्षित युवकों को सम्बोधित कर बोले, "धर्म के नाम से प्रचलित आचार-व्यवहार वास्तव में धर्म है या नहीं इसकी परीक्षा कर देखने का दायित्व आज के शिक्षित युवकों के कन्धों पर पड़ा है। हमें अतीत व प्रचलित प्रथा की सीमा से बाहर निकल कर वर्तमान उन्नतशील जगत् की ओर दृष्टिपात करना होगा। यदि हम देखें कि परम्पराप्राप्त आचार-नियम समाज के विकास व परिपुष्टि के पथ में विघ्न उत्पन्न कर रहे हैं, यदि वे हमारी विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति में रोड़े के सदृश हैं तो हम जितना शीघ्र उनका त्याग कर दें उतना ही अच्छा है।"

युगधर्म-प्रचारक के स्पष्ट सतेज कण्ठ स्वर में मानो आदेश ध्वनित होने लगा—मानो वह दिन निकट आने लगा जब भारत के ये अज्ञात लोग सिर ऊँचा करेंगे और चिरकाल उपेक्षित शूद्र अपने अधिकार व मनुष्यत्व की माँग उपस्थित करेंगे। आज प्रत्येक शिक्षित युवक का कर्तव्य है, अधःपतित जनसमूह में शिक्षा का प्रचार करना, समाजजीवन में समानाधिकार के आदर्श का प्रचार करना, पुरोहितों के अत्याचारों को जड़ से नष्ट कर

होते हैं, उन सभी से वे स्वयं भी प्रत्यक्ष रूप से परिचित थे। इसीलिए उत्तर देने में उन्हें कोई विशेष कठिनाई नहीं होती थी। अस्तु, होते होते मन्मथ बाबू का निवास-स्थान शीघ्र ही धर्म-चर्चा का एक केन्द्र बन गया। इसमें सन्देह नहीं कि स्वामीजी के साम्प्रदायिक विद्वेष-बुद्धि रहित उदार धर्म-मत ने मद्रास के शिक्षित सम्प्रदाय को प्रभावित कर दिया था। विद्वत्ता व प्रतिभा की आड़ में उनकी समवेदना से कातर विशाल हृदय, जो निर्विचार सभी को आलिंगन करने के लिए — शरण देने के लिए तैयार रहता था, — उसके साथ भलीभाँति प्रत्यक्ष रूप से परिचित होकर ही इस युवक सम्प्रदाय ने स्वामीजी को अपने गुरुपद पर वरण किया था।

यह जान कर कि विश्वविद्यालय की सर्वोच्च उपाधिधारी युवकगण स्वामीजी का शिष्यत्व स्वीकार कर रहे हैं, मद्रास नगर के सुप्रसिद्ध नास्तिक, ईसाई कालेज के विज्ञान के अध्यापक श्री सिंगरावेलु मुदलियार अपनी हँसी रोक न सके और एक दिन दलबल के साथ तैयार होकर उन्होंने स्वामीजी को तर्क-युद्ध में आह्वान किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि स्वामीजी किसी भी तरह उनकी युक्तियों का खण्डन न कर सकेंगे; परन्तु थोड़े ही समय में वे नीरव होने के लिए बाध्य हुए।

स्वामीजी के स्वच्छ विशाल ललाट पर महिमा की वह बिखरी हुई छटा — शान्त उज्ज्वल नेत्रद्वय में करुणा का वह चिरविगलित अमृत निर्झर — विस्मयस्तम्भित मुदलियार महोदय ने उनमें क्या देखा, क्या समझा, यह तो वे ही जानें, पर हाँ, बाहर के लोगों ने देखी, उनके गालों पर बहती हुई आँसुओं की धारा! नास्तिकता लुप्त हो गई, अनुतप्त हृदय से उन्होंने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। स्वामीजी उन्हें प्रेमवश 'किड़ी' कह-कर पुकारते थे और उनके प्रति यथेष्ट स्नेह रखते थे। आजीवन संयमी, दृढ़-चेता मुदलियार की गुरुभक्ति अतुलनीय है। स्वामीजी के अमेरिका में रहते ही इन्होंने अपने गुरुदेव के आदेश से नवस्थापित 'प्रबुद्ध भारत' नामक

अंग्रेजी मासिक पत्रिका के सम्पादन का भार ग्रहण किया था और स्वल्प काल में ही संसार-धर्म को तिलांजलि देकर 'नरनारायण' की सेवा में आत्म-समर्पण कर दिया था।

इस समय संयुक्त राष्ट्र में शिकागो-महासम्मेलन के साथ ही एक विराट धर्मसभा का आयोजन हो रहा था। ऐसा घोषित किया गया था कि पृथ्वी के सभी धर्म-सम्प्रदायों के प्रतिनिधिगण व्याख्याताओं के रूप में सभा में सम्मिलित हो सकेंगे। स्वामीजी के कुछ उत्साही मद्रासी शिष्यों ने उन्हें हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अमेरिका भेजने के लिए संकल्प किया। एक दिन सचमुच पाँच सौ रुपये एकत्रित कर उन्होंने स्वामीजी के हाथ में समर्पित किए। स्वामीजी इस असमञ्जस में पड़ गए कि हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में विराट सभा में उपस्थित होने की योग्यता उनमें है या नहीं। अन्त में उन शिष्यों को उन्होंने वह धन लौटा दिया और कहा, "वत्सगण, मैं श्री जगन्माता के हाथ में यंत्र मात्र हूँ। उनकी इच्छा होने पर वे स्वयं ही मुझे वहाँ भेज देंगी। इस धन को तुम दरिद्रनारायण की सेवा में लगा दो; देखूँ माँ की क्या इच्छा है।" बड़े कष्ट से संग्रह किए हुए उस धन को दूसरे काम में लगा देने का आदेश पाकर उन शिष्यों का दिल बैठ गया, परन्तु गुरु की आज्ञा तो अलंघनीय ही थी। हतोत्साह शिष्यों को सान्त्वना देते हुए स्वामीजी ने कहा, "देखो, मैं संन्यासी हूँ, संकल्प करके कोई कार्य करना मेरे लिए उचित नहीं। यदि भगवान् की ऐसी ही इच्छा होगी तो वे उपाय भी बता देंगे। तुम लोगों को इसमें व्यस्त होने की आवश्यकता नहीं है।"

इतने में ही मन्मथ बाबू के पास हैदराबाद से उनके मित्र स्टेट इंजिनिअर बाबू मधुसूदन चटर्जी का स्वामीजी को वहाँ पर भेजने के लिए एक पत्र आया। यह जानकर कि वहाँ के मान्य व्यक्तिगण व शिक्षित समाज स्वामीजी को अपने बीच में थोड़े दिनों के लिए पाने को उत्सुक हैं, मन्मथ

बाबू व स्वामीजी की शिष्यमण्डली ने उनकी सम्मति लेकर मधुसूदन बाबू को सूचित कर दिया कि स्वामीजी दस फरवरी को हैदराबाद पधारेंगे।

हैदराबाद-स्टेशन पर उतरकर स्वामीजी को यह देखकर कुछ विस्मय हुआ कि उनकी अभ्यर्थना के लिए एक विराट जनसमूह उत्सुक होकर उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। राजा श्रीनिवास राव, महाराज रम्भा राव बहादुर, पं. रतनलाल, शमश्-उल्-उल्मा सैयद अली बिलग्रामी, नवाब इमाद जंग बहादुर, नवाब सिकंदर निवाज जंग बहादुर, राय हुकूमचन्द, एम. ए., एल एल. डी., सेठ चतुर्भुज, सेठ मोतीलाल, कँ. रघुनाथ आदि हैदराबाद व सिकन्दराबाद के प्रमुख व्यक्तिगण प्लेटफार्म पर उपस्थित हैं। संकोच व लज्जा से एक कोने में खड़े दण्ड व कमण्डलु हाथ में लिए हुए इन तरुण संन्यासी की देवदुर्लभ अंगकान्ति को देख समस्त जनता जयध्वनि कर उठी। बाबू कालीचरण चटर्जी ने सभी के साथ उनका परिचय कराया। प्रतिष्ठित व्यक्ति आनन्द के साथ उन्हें पुष्प-मालाओं से सजाकर मधुसूदन बाबू के बंगले पर ले गए।

निजाम बहादुर के शालक नवाब सर खुर्शीद जंग बहादुर, अमीर-इ-कबी, के. सी. एस. आई. महोदय के निमंत्रण पर स्वामीजी बारह फरवरी को नवाब बहादुर के महल में पधारे। नवाब बहादुर हिन्दू धर्म के प्रति यथेष्ट श्रद्धा रखते थे और हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक सभी प्रसिद्ध तीर्थस्थानों का दर्शन कर चुके थे।

स्वामीजी की आदरपूर्वक अभ्यर्थना कर उन्होंने उन्हें अपने पास बैठाया और बड़ी तन्मयता से वे उनसे धर्म के विषय में वार्तालाप करने लगे। हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म व ईसाई धर्म के सम्बन्ध में चर्चा करते समय स्वामीजी ने उक्त तीनों धर्मों के मूल सूत्रों का उल्लेख कर उनकी समन्वय-भूमि को स्पष्ट कर दिखाया तथा बातचीत के सिलसिले में कहा कि वे सभ्य जगत् के सम्मुख वेदान्त शास्त्र की सहायता से धर्म-समन्वय का प्रचार करने के लिए कृतसंकल्प हुए हैं। उनका विश्वास है कि दूर भविष्य में सभी प्रकार

के धार्मिक झगड़े मिट जाएँगे और सभी को निर्विवाद होकर अपनी अपनी भावना के अनुसार ईश्वर की उपासना करने का अवसर प्राप्त होगा। स्वामीजी के युक्तिपूर्ण वाक्यों को सुनकर नवाब बहादुर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने स्वामीजी के पाश्चात्य देश मे जाने के लिए व्यय-रूप में एक हजार रुपये उसी समय देने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने बड़ी नम्रता से उसे अस्वीकार करते हुए कहा, "नवाब बहादुर, इससे पूर्व मेरे परम मित्र मैसूर के महाराजा बहादुर तथा शिष्य रामनद के राजा मुझे पाश्चात्य देश में जाने के लिए आर्थिक सहायता करने को तैयार हुए थे। परन्तु मै समझता हूँ अभी समय नहीं आया है। यदि कभी पाश्चात्य देश में जाने के लिए मुझे भगवान् का आदेश होगा तो आपको अवश्य सूचित करूँगा।"

स्थानीय शिक्षित व्यक्तियों के आग्रह से स्वामीजी ने महबूब कालेज में लगभग एक हजार श्रोताओं के सामने 'पाश्चात्य देश के लिए मेरा सन्देश' विषय पर एक व्याख्यान दिया। पण्डित रतनलालजी ने सभापति का आसन ग्रहण किया था। कहना न होगा कि स्वामीजी का भाषण बड़ा ही रोचक व युक्तिपूर्ण हुआ।

१७ फरवरी को स्वामीजी हैदराबाद की मित्रमण्डली व भक्तगणों से विदा लेकर फिर मद्रास लौट गए। यद्यपि वे एक समय शिकागो-धर्मसभा में जाने का विचार छोड़ चुके थे, परन्तु उनके शिष्य व भक्तगणों ने अपने उस संकल्प को नहीं छोड़ा था। उनमें से कुछ व्यक्ति सम्मिलित होकर अर्थसंग्रह के उद्देश्य से रामनद, मैसूर व हैदराबाद गए। महामती आनन्द चारलू, माननीय जस्टिस सुब्रह्मण्य अय्यर आदि अनेक प्रमुख व्यक्तियों को उन्हें उक्त धर्मसभा में भेजने के लिए सचेष्ट देख स्वामीजी चिन्तित हुए। एक दिन उनके अन्यतम शिष्य श्री० आलसिंगा पेरुमल, एम. ए. महोदय को बुलाकर उन्होंने कहा, "यदि माँ की निश्चित ऐसी इच्छा है कि मैं अमेरिका जाऊँ तो मुझे अवश्य ही जाना होगा। तुम लोगों ने मुझे हिन्दू धर्म के

प्रतिनिधि के रूप में भेजने का निश्चय किया है। मैं भी जनसाधारण के प्रतिनिधि के रूप में ही जाने की इच्छा करता हूँ। परन्तु इस कार्य में जन-साधारण की सम्मति है या नहीं यह जानना विशेष आवश्यक है। अतः केवल राजा-महाराजाओं से सहायता न लेकर तुम लोग जनसाधारण से भिक्षा लेकर धन संग्रह करो।" अपने गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य कर वे द्वार द्वार पर भिक्षा माँगने लगे। इन निःस्वार्थ पवित्रहृदय मद्रासी युवकों की असीम गुरु-भक्ति धर्मजगत् के— विशेष कर श्रीरामकृष्ण संघ के इतिहास में अमर बनी रहेगी।

इस बीच में एक दिन स्वामीजी ने स्वप्न में देखा —श्रीरामकृष्ण देव दिव्य देह धारण कर समुद्रतट से विस्तीर्ण महासागर के ऊपर पैदल चले जा रहे हैं और उन्हें पीछे पीछे आने के लिए हाथ से इशारा कर रहे हैं। अब सारी दुविधा, संकोच व सन्देह दूर हो गया, और स्वामीजी अमेरिका जाने के लिए तैयार हो गए। परन्तु एकाएक उन्हें स्मरण हुआ कि उन्होंने अभी तक श्रीमाताजी (श्री शारदा देवी) का आदेश नहीं लिया है। उनका आदेश व आशीर्वाद प्राप्त किए बिना सुदूर विदेश में जाना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। अनेक सोच विचार कर अन्त में स्वामीजी ने श्रीमाताजी के पास अपने संकल्प का विस्तार के साथ वर्णन कर एक पत्र लिखा।

प्रिय पुत्र नरेन्द्रनाथ का पत्र पाकर स्नेहकातरा जननी उन्हें देखने के लिए व्याकुल हो उठीं। श्रीरामकृष्ण संघ के नेता राजाधिराज-सेवित वीर संन्यासी विवेकानन्द उनकी दृष्टि में संसार से अनभिज्ञ एक बालक मात्र हैं — उन्हें वे किस पत्थर के हृदय से सुदूर विदेश जाने की अनुमति देंगी! इस बीच श्रीरामकृष्ण देव के आदेश ने सभी समस्याओं को हल कर दिया। अन्त में निरुपाय होकर स्नेहमुग्ध हृदय को रोक जगत् के कल्याण को सामने रखकर उन्होंने स्वामीजी को सानन्द अपनी अनुमति दे दी।

यथासमय उन्हें माताजी का पत्र मिल गया। पत्र को परमभक्ति के

साथ मस्तक पर धारण कर स्वामीजी भाव के आवेग से आँसूभरे नेत्रों से बालक की तरह आनन्दविह्वल हो कमरे में नाचने लगे। इस स्थिति में देखकर लोग क्या समझेंगे यह सोचकर वे अपने उछलते हुए हृदय को शान्त करने के लिए दूसरों की आँखें बचाकर समुद्र-तट पर चले गए। मन्मथ बाबू के भवन में नियमित समय पर उनके शिष्य व भक्तगण उनके लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। थोड़ी देर में स्वामीजी वहाँ पहुँचे और उन्होंने उनसे कहा, "वत्सगण, श्री माँ की आज्ञा मुझे मिल गई है। अब सारे सन्देह व चिन्ताएँ दूर हो गईं। मैं अमेरिका जाने के लिए तैयार हूँ। दयामयी माँ ने आशीर्वाद दे दिया है — अब चिन्ता किस बात की।" आनन्द, विस्मय व उत्साह के साथ शिष्यों ने थोड़े ही दिनों में स्वामीजी की यात्रा की भली-भाँति व्यवस्था कर दी। सब कुछ तैयार हो गया, पर इसी समय खेतरी राज-भवन से मुन्शी जगमोहन लाल आ पहुँचे।

पाठकों को स्मरण होगा, प्रायः दो वर्ष पूर्व स्वामीजी ने खेतरी के महाराज-मंगलसिंह बहादुर को पुत्र पाने का आशीर्वाद दिया था। गुरुदेव की कृपा से महाराजा को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। मुन्शीजी ने मद्रास आकर राजपुत्र के अन्नप्राशन संस्कार में स्वामीजी से उपस्थित रहने के लिए प्रार्थना की — अनुनय विनय की। स्वामीजी तथा उनके मद्रासी शिष्यों ने उस उत्सव में सम्मिलित होने के लिए अनेक प्रकार से असमर्थता प्रकट की, पर उनकी एक न मानी गई। मुन्शी जगमोहनलाल बोले, "गुरुदेव, कम से कम एक दिन के लिए आपको खेतरी अवश्य चलना होगा। नहीं तो राजाजी के हृदय पर बड़ा आघात पहुँचेगा, अमेरिका जाने की व्यवस्था के लिए आपको सोचने की आवश्यकता नहीं है। महाराजा सब व्यवस्था कर देंगे, आप मेरे साथ खेतरी चले चलिए।"

अन्त में अनेक वाद विवाद के बाद यह निश्चित हुआ कि स्वामीजी खेतरी होकर बम्बई से अमेरिका की यात्रा करेंगे। खेतरी-यात्रा की तैयारी

पूरी होने पर स्वामीजी ने उपस्थित शिष्यों से विदा ली। विश्व-विद्यालय के उच्च उपाधिकारी युवक शिष्यगणों ने एक एक करके राजपथ पर अश्रुपूर्ण नेत्रों से श्री गुरुदेव के अभय चरणों पर गिरकर दीन भाव से आशीर्वाद की भिक्षा माँगी। यह दृश्य भारत का — हिन्दुओं का अपना निजी है। बड़ा ही करुण! बड़ा ही मर्मस्पर्शी!! सन्तानों से अधिक प्यारे शिष्यों को छोड़कर जाने में स्वामीजी का हृदय बड़ा व्यथित हुआ। अनेक कष्ट से भाव के आवेग को रोककर वे धीरे धीरे गाड़ी पर जा बैठे।

खेतरी में शुभ अन्नप्राशन का उत्सव निर्विघ्न समाप्त हो जाने पर स्वामीजी अपने शिष्य राजाजी से विदा लेकर मुन्शी जगमोहनलाल के साथ बम्बई आ गए। श्री० आलासिंगा पेरुमल इससे पहले ही गुरुदर्शन की इच्छा से मद्रास से बम्बई नगर में आ गए थे और उन्होंने स्टेशन पर ही स्वामीजी के चरणों के दर्शन किए।

स्वामीजी की विदाई के लिए जगमोहनलाल बहुमूल्य पोशाक खरीदने लगे। पर इसका स्वामीजी ने निषेध किया। पर जगमोहनलाल ने यह सोचकर कि वे राजगुरु हैं, उन्हें सुसज्जित करने के लिए वैसा ही प्रबन्ध करना उचित समझा। स्वामीजी के अमेरिका में भाषण देने के लिए बहुमूल्य रेशम का चोगा व पगड़ी बनाई गई। स्वामीजी ने भी मुन्शीजी का विशेष आग्रह देख निरुपाय होकर शिष्य की सदिच्छा का और निषेध नहीं किया। दण्ड-कमण्डल व भिक्षापात्र हाथ में लेकर भ्रमण करने में अभ्यस्त स्वामीजी को यह चिन्ता हुई कि इतने वस्त्र-आभूषण व नाना प्रकार की चीज़ों की वे देखभाल कैसे करेंगे और यह सोचते हुए बालक की तरह विकल हो गए।

धीरे धीरे यात्रा का दिन निकट आया और वह शुभ घड़ी भी आ गई। मुन्शी जगमोहनलाल ने पहले से ही स्वयं देखकर स्वामीजी के लिए जहाज़ में एक प्रथम श्रेणी का केबिन रिज़र्व करा रखा था।

स्वामीजी डबडबाई आँखों के साथ दोनों शिष्यों से विदा लेकर जहाज़ पर चढ़े। सहसा तीव्र सीटी (व्हिसिल) ने उनके हृदय को व्याकुल कर स्वदेश के साथ आने वाले विच्छेद का वेदनाभरा सन्देश दिया। लोहे का बना हुआ विशालकार्य कछुआ धीर मन्थर गति से गन्तव्य स्थान की ओर चल पड़ा। देखते ही देखते स्वदेश का हरा भरा चित्र अस्पष्ट हो आया — और अन्त में अन्तिम धूसर रेखा तक सुदूर क्षितिज के पीछे विलीन हो गई। उनके निर्निमेष नेत्रों के सामने फेन-शुभ्र-शिर तरंगमाला भैरव कल्लोल से उच्छ्वसित होकर नृत्य करने लगी। डेक के ऊपर प्रस्तर मूर्ति की तरह खड़े स्वदेशप्रेमी संन्यासी के हृदय के अन्तस्तल से एक असीम क्रन्दन झंकृत हो उठा।

"हे रहस्यमय आत्माराम गुरो, तुमने तो छुट्टी नहीं दी। आज सचमुच त्यागपूत पवित्र भारतवर्ष से मुझे भोग-विलास की लीलाभूमि पाश्चात्य देश में ले चले! जैसी तुम्हारी इच्छा!"

* * * *

हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में विदेशियों के भ्रमपूर्ण विश्वासों को दूर कर उसके उदार भावों का आधुनिक वातावरण के अनुकूल वैज्ञानिक युक्तियों द्वारा प्रचार करने के लिए — पाश्चात्य के भोग को ही सब कुछ मानने वाले जड़वाद के उन्मत्त कोलाहल का मंथन कर त्याग की पवित्र वाणी सुनाने के लिए — पाश्चात्य सभ्यता के चकाचौंध में पड़े हुए, सनातन धर्म में अविश्वासी, परमुखापेक्षी, विपथपरिचालित, स्वदेशीय मूढ़ों को 'क्या अवलम्बनीय है' यह भलीभाँति समझाने के लिए — आत्म-सम्मान-विहीन निर्लज्ज हिन्दुओं को विदेशियों के पैरों तले बैठ धर्म की शिक्षा लेने से रोककर अपने ही घर में धर्म की खोज कराने के लिए — भारत के श्रेष्ठतम आध्यात्मिक सत्य रत्नों की जगत् की सभ्यता को परख करा देने के लिए — एक आसन्नप्राय विनाश के पंजे से बचने के लिए पाश्चात्य

जगत् को भारत के चरणों पर बैठकर धर्म की शिक्षा लेने को उच्च स्वर से बुलाने के लिए — सब से बढ़कर अपने आचार्य श्रीरामकृष्ण देव की इस मौलिक उपदेश वाणी कि 'सभी धर्म सत्य हैं और वे ईश्वर की उपलब्धि के विभिन्न उपाय मात्र हैं' का प्रचार संकीर्णता, धर्मान्धता, कट्टरपन व घृणा के विरुद्ध सिंह-विक्रम के साथ करने के लिए १८९३ ई० के ३१ मई को अपने स्वातंत्र्य के गौरव से शिर ऊँचा किए स्वामी विवेकानन्द ने श्री गुरुदेव की मंगलमयी इच्छा से परिचालित होकर शिकागो की ओर प्रस्थान किया।

पंचम अध्याय

आचार्य विवेकानन्द

(१८९३—१८९६ ई०)

"I go forth to preach a religion, of which Buddhism is nothing but a rebel child and Christianity but a distant echo."

—Swami Vivekananda.

बम्बई से जहाज़ छूटा। विषण्ण-चित्त संन्यासी असमञ्जस में पड़ गए। दण्ड-कमण्डल तथा गेरुए वस्त्र में लिपटीं दो चार पुस्तकों के अतिरिक्त जिनका कभी कोई सामान नहीं रहा उन्हीं स्वामीजी को ट्रंक, सूट केस तथा तरह तरह के कपड़े आदि सम्हालने में बड़ा असमञ्जस सा प्रतीत हुआ। वे कहने लगे, "अब यह जो सब साथ लेना पड़ा है, इसी की देखभाल में मेरी सारी शक्ति लग रही है। यह तो एक बला है।" फिर भी उन्होंने स्मरण किया कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "जितने दिन जिन्दा रहूँ, उतने दिन सीखूँ।" अस्तु,—कुछ ही समय में स्वामीजी ने दूसरे यात्रियों के साथ, विशेष रूप से जहाज़ के कप्तान के साथ परिचय कर लिया। नए नए प्रकार के भोजन तथा यूरोपीय आचार-व्यवहार से वे धीरे धीरे अभ्यस्त होने लगे। सात दिन बाद वे कोलम्बो पहुँचे; सीलोन की राजधानी,—बौद्ध धर्म का देश। जहाज़ बन्दरगाह में रुका। स्वामीजी भी उतरे और एक गाड़ी करके उन्होंने सारे शहर को देख लिया। भगवान बुद्ध के मन्दिर में जाकर उन्होंने बुद्ध देव की शयन-अवस्था की एक बृहत् महानिर्वाण-अवस्था की मूर्ति देखी। उन्होंने मन्दिर के पुरोहितों के साथ

भी वार्तालाप करने की चेष्टा की, परन्तु जब उन्होंने देखा कि वे सिंहली के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में बोल ही नहीं सकते तो उन्होंने वह विचार छोड़ दिया। कोलम्बो से जहाज़ फिर चला। रास्ते में मलाया प्रायद्वीप के पिनाङ्ग व सिंगापुर पड़े तथा दूरी पर उन्हें ऊँचे पहाड़ वाला सुमात्रा दिखा। सिंगापुर से वे हाँगकाँग पहुँचे। हाँगकाँग में जहाज़ तीन दिन ठहरा। इस बीच में स्वामीजी सिक्यँग नदी के मुँहाने से ८० मील दूर पर स्थित दक्षिण चीन की राजधानी कैंटन शहर देख आए, कैंटन में उन्होंने अनेक बौद्ध मठ देखे तथा वहाँ के सब से बड़े मन्दिर का दर्शन किया। प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी दो महान् राष्ट्र भारतवर्ष व चीन की स्थिति की उन्होंने आपस में तुलना की और कहा, 'सभ्यता की सीढ़ी पर जो चीनी व भारतवासी एक पैर भी अग्रसर नहीं हो रहे हैं, उसका एक कारण उनकी दरिद्रता ही है। साधारण हिन्दू या चीनी के दैनिक जीवन में छोटी छोटी चीज़ों का अभाव उसका नित्य प्रति इतना समय नष्ट कर डालता है कि उसे और कुछ सोचने का अवसर तक प्राप्त नहीं होता।

इस दरिद्रपीड़ित प्राच्य के बीच में अपूर्व सौन्दर्यमय जापान को देखकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। चीन की अपेक्षा यहाँ कितना अन्तर! साफ सुथरी नगरी, अच्छे अच्छे घर, चित्रों की तरह सुन्दर सुन्दर बगीचे व कृत्रिम जलाशय! खूब चौड़े व सीधे रास्ते। नागासाकी, कोबी बन्दरगाह, याकोहामा, ओसाका, किआटो व टोकियो आदि शहरों को देखकर स्वामीजी ने समझ लिया कि वर्तमान काल की आवश्यकताओं को जापानियों ने समझ लिया है—वे पूर्ण रूप से जाग गए हैं।" जापानियों की द्रुत उन्नति, साहस व उद्यम देखकर विस्मित हो तथा स्वदेश की दुर्दशा के स्मरण से व्यथित होकर स्वामीजी ने याहोकामा से अपने मद्रासी शिष्यों को एक पत्र में लिखा था, "जापा-

नियों के सम्बन्ध में मेरे मन में कितनी ही बातें आ रही हैं। एक संक्षिप्त पत्र में उसे प्रकट नहीं कर सकता, परन्तु इतना कह सकता हूँ कि हमारे देश के युवकों को प्रतिवर्ष दल के दल में चीन व जापान जाना चाहिए। विशेष कर जापान तो अवश्य जाना चाहिए। जापानियों की दृष्टि में भारतवर्ष सभी प्रकार के उच्च व महान् चीज़ों के स्वप्नराज्य की तरह है।

"* * * और तुम लोग क्या कर रहे हो? जीवन भर केवल वृथा बकते रहते हो, आओ इन्हें देख जाओ, उसके बाद जाओ और जाकर शर्म से मुँह छिपा लो। भारत की मानो जराजीर्ण स्थिति से बुद्धि का भी नाश हो गया है! देश छोड़कर बाहर जाने में तुम लोगों की जाति बिगड़ जाती है!! हजार वर्षों के पुराने इस कुसंस्कार का बोझ शिर पर धरे हुए तुम लोग बैठे हो। हजार वर्षों से खाद्य व अखाद्य की शुद्धाशुद्धि पर विचार करते हुए तुम लोग अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हो। पौरो-हित्यरूपी मूर्खता के गम्भीर आवर्त में चक्कर काट रहे हो। सैकड़ों युगों के लगातार सामाजिक अत्याचार से तुम्हारा सारा मनुष्यत्व सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है। तुम्हारा है क्या बोलो तो? और तुम अब भी कर क्या रहे हो? मूर्ख, तुम हाथ में पुस्तक लिए समुद्र के किनारे पर केवल चहल कदमी कर रहे हो। यूरोपीय मस्तिष्क से निकले हुए किसी तत्व के एक कण मात्र का—वह भी असली चीज़ नहीं—बेपचा कुछ अंश लगातार रटते जा रहे हो, और तुम्हारा प्राण तथा मन भी उसी तीस रुपये की क्लर्की पर निछावर है!—और नहीं तो, बड़ी हद तक एक दुष्ट वकील बनने का मतलब साध रहे हो। यही भारतीय युवकों की सर्वोच्च दुराकांक्षा है। फिर प्रत्येक युवक का एक बच्चों का दल—उसके वंशधर 'पिताजी, खाने को दो, खाने को दो' कह कह कर ज़ोर से चिल्ला रहे हैं! अरे, मैं कहता हूँ, क्या समुद्र में जल का अभाव हो गया है?

तुम सब लोग उसमें अपनी पुस्तकें, गाऊन, विश्वविद्यालय, डिप्लोमा आदि सब कुछ डुबा क्यों नहीं देते?

"आओ, मनुष्य बनो। पहले तो इन दुष्ट पुरोहितों को दूर कर दो, क्योंकि ये मस्तिष्कविहीन लोग कभी अच्छी बातें न मानेंगे — उनके हृदय भी शून्य हैं जिसका विकास भी कभी न होगा। सैकड़ों सदियों के कुसंस्कारों व अत्याचारों के बीच में इनका जन्म हुआ है। पहले इनका उच्छेद करो। आओ, मनुष्य बनो, अपने संकीर्ण अन्धकूप से निकल कर बाहर जाकर देखो, सभी राष्ट्र कैसे उन्नति के पथ पर चल रहे हैं। क्या तुम मनुष्य से प्रेम करते हो? तुम लोग क्या देश से प्रेम करते हो? तो फिर आओ, हम भले बनने के लिए प्राणपण से चेष्टा करें। पीछे की ओर न देखो — प्यारे स्वजनों को रोने दो, हाय कर पीछे न देखो — आगे बढ़े जाओ। भारतमाता कम से कम इस प्रकार के हजार युवकों का बलिदान चाहती है। याद रखना — मनुष्य चाहिए, पशु नहीं।"

याकोहामा से प्रशान्त महासागर पार होकर जहाज़ वैंकुवर बन्दरगाह में आ पहुँचा। यहाँ से रेल द्वारा कैनेडा के बीच में से तीन दिन चलने के बाद शिकागो पहुँचे। जो उनकी ख्याति को दिग-दिगन्तरों में फैलाएगी उसी नगरी में वे अपरिचित तथा विस्मय-विह्वल बालक की तरह घूमने लगे। सड़क पर चलने वाले लोग इन्हें गेरुआ वस्त्र पहने देख बड़ी उत्सुकता से घूरने लगे और कई तो इन्हें सताने भी लगे। बालकों का दल भी इनकी हँसी उड़ाता हुआ इनके पीछे चलने लगा। स्वामीजी को यह एक विचित्र अनुभव हुआ। इस पर भी धोखेबाजी, गिरहकटा वैंकुवर से ही चल रही थी। जो जैसा चाहता था इन्हें ठगने का यत्न करता था। रुपए पैसे के मामले में स्वामीजी सम्पूर्ण अनभिज्ञ थे। कुलियों ने भी उनसे मुँहमाँगे दाम कहे। अन्त में वे एक होटल में चले गए और उस दिन के लिए निश्चिन्त हो गए।

दूसरे दिन वे विख्यात विश्व-प्रदर्शनी देखने चले। जड़विज्ञान के नये नये आविष्कार, छोटे बड़े तरह तरह के यंत्र, कितनी विचित्र विचित्र सामग्रियाँ, शिल्प कला के कैसे सुन्दर सुन्दर नमूने आदि आदि वस्तुओं द्वारा स्वामीजी ने पाश्चात्य ऐश्वर्य का गौरव देखा और सोचा कि मनुष्य के आत्मविश्वास, महत्वाकांक्षा, दुर्लभ की खोज में जीवन-मरण का प्रण — आदि बातों ने यह सब सम्भव किया है। पाश्चात्य वेगयुक्त सभ्यता-स्रोत के द्रुत उन्नतिशील जीवन के साथ भारत की धीर, मन्थर, क्षीण व शुष्क जीवन-धारा की तुलना करते हुए निःसंग, अकेले संन्यासी शाम को क्लान्त हो अपने होटल में लौट आए। परन्तु अग्नि कभी वस्त्र द्वारा ढकी नहीं रह सकती। पोशाक कितनी ही विचित्र क्यों न हो, वह ज्योतिर्मय निर्मल ललाट, विशाल नेत्रों की मर्मभेदी दृष्टि सहज ही में मनुष्य को आकर्षित कर लेती है। किसी किसी ने स्वामीजी को पहिचान लिया। संवाद-पत्र के उत्सुक रिपोर्टरगण भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। परन्तु वे तो केवल कुतूहलप्रिय लोग मात्र थे। स्वामीजी ने स्वयं लिखा है, "वरदाराव ने जिस महिला के साथ मेरा परिचय करा दिया था वह तथा उनके पति शिकागो समाज के सम्माननीय व्यक्ति हैं। उन्होंने मेरे साथ बहुत ही अच्छा व्यवहार किया था। परन्तु यहाँ के लोग विदेशियों का अधिक आदर करते हैं, केवल दूसरों को तमाशा दिखाने के लिए। आर्थिक सहायता करते समय सभी हाथ खींच लेते हैं।" अत्यधिक खर्च होते देख स्वामीजी चिन्तित हुए। यहाँ पर लोग पानी की तरह पैसा खर्च करते हैं।

इसी समय एक नवीन दुर्भावना से स्वामीजी को थोड़ी चिन्ता हो गई। एक दिन उन्हें खबर मिली कि धर्म-महासभा सितम्बर मास के पहले प्रारम्भ न होगी तथा जो लोग उक्त सभा की नियमावली के अनुसार परिचय-पत्र नहीं लाए हैं वे सभा में प्रतिनिधि के रूप में स्थान

न पा सकेंगे। और उस समय प्रतिनिधि के रूप में धर्मसभा में आवेदन-पत्र भेजने का समय व्यतीत हो चुका था — अतः स्वामीजी ने अपने तईं हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में ले लिए जाने की कोई सम्भावना नहीं देखी।

इधर जो कुछ थोड़ा धन भी उनके पास शेष था वह भी होटल वालों आदि की अत्यधिक माँग की पूर्ति में दो सप्ताह के बीच में ही समाप्त हो गया था। यद्यपि उनका यह दृढ़ विश्वास था कि भगवान का मंगलमय हाथ सदा ही उनकी रक्षा कर रहा है, फिर भी एक प्रबल सन्देह की आँधी उठकर उन्हें परेशान करने लगी। विचलित हृदय से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर स्वामीजी सोचने लगे कि कुछ हठधर्मी युवकों के परामर्श को मान कर मैं क्यों अमेरिका आया? अस्तु,— शिकागो में संकल्पसिद्धि का कोई उपाय न देखकर उन्होंने उक्त स्थान छोड़ बोस्टन की ओर यात्रा की।

भगवान की इच्छा से रास्ते में एक वृद्ध महिला से उनका परिचय हो गया। यह भद्र महिला उनकी विचित्र पोशाक देखकर उनका परिचय जानने के लिए उत्सुक हो गई। उन्होंने जब यह सुना कि प्राच्य देश के यह संन्यासी अमेरिका में वेदान्त का प्रचार करने के लिए आए हैं तो एक अज्ञात जिज्ञासा के वशीभूत होकर उन्होंने अपने घर में आतिथ्य ग्रहण करने के लिए उन्हें आमंत्रित किया व साथ ही साथ स्वामीजी को आश्वासन दिया कि वे स्वामीजी के प्रचार कार्य की सब प्रकार से सुविधा कर देंगी। इन महिला के घर में स्वामीजी कैसे आराम से थे इसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है —

"यहाँ पर रहने से मेरी पहली जो सुविधा हुई है वह यह है कि प्रतिदिन मेरा जो एक पौंड के हिसाब से खर्च हो रहा था वह बच रहा है और उनका लाभ यह है कि वे अपने मित्रों को आमंत्रित कर भारत के आए

हुए एक अद्भुत जीव को दिखा रही हैं। इन सब कष्टों को सहन करना ही होगा। मुझे इस समय भूख, शीत, विचित्र पोशाक के कारण रास्ते के लोगों की हँसी आदि के साथ लड़ते हुए चलना पड़ रहा है।"

अस्तु, स्वामीजी इस महिला के मकान पर आकर पहले की अपेक्षा निश्चिन्त हो गए। उन्होंने यह निश्चय किया कि कुछ महीने यत्न करके यदि अमेरिका में वेदान्त-प्रचार की सुविधा न दिखेगी तो यहाँ से इंग्लैण्ड जाऊँगा। यदि वहाँ भी कोई सुविधा न होगी तो फिर अपने देश लौटकर श्रीगुरु के अन्य आदेश की अपेक्षा करूँगा।

शिकागो-धर्मसभा में प्रतिनिधि के रूप में लिए जाने के सम्बन्ध में सम्पूर्ण रूप से निराश हो जाने पर भी स्वामीजी का दृढ़ हृदय विचलित न हुआ। वे आनेवाली विघ्न व विपत्ति के साथ संग्राम करने के लिए "भगवान पर दृढ़ विश्वास रूपी सुदृढ़ कवच" धारण कर तैयार हो गए। इस महिला के भवन से उन्होंने अपने एक शिष्य को लिखा था, "यहाँ आने से पहले जो सब सुनहरे स्वप्न देखा करता था वे सब उड़ गए हैं—इस समय असम्भव के साथ युद्ध करना पड़ रहा है। सैकड़ों बार मन में आया, इस देश से चला जाऊँ, परन्तु फिर सोचा मैं नामी हठी हूँ, और मुझे भगवान का निर्देश मिला है, मेरी दृष्टि में कोई पथ नहीं सूझ रहा है यह ठीक है, परन्तु उनकी आँखें तो सब कुछ देख रही हैं। मरूँ या जिन्दा रहूँ, उद्देश्य नहीं छोड़ूँगा।" आज तक जगत् का कोई भी महान् कार्य निर्विघ्न सम्पन्न नहीं हुआ है। पराजय व व्यर्थता के साथ संग्राम के बीच में से ही तो मानव-चरित्र का वास्तविक महत्व प्रकट होता है। इसीलिए हम देखते हैं कि घोर दुर्दशा में भी पड़कर जब उन्होंने मृत्यु को स्थिर जान लिया था, उस समय भी अपने शिष्यों को उत्साह देकर पत्र लिखा था, "कमर कस लो वत्स, प्रभु ने मुझे इस कार्य के लिए बुलाया है, मैंने सारा जीवन नाना प्रकार के दुःख-कष्ट सहन किए हैं, प्राणप्रिय

निकटतम स्वजनों को एक प्रकार अनाहार से ही मरते देखा है, लोगों ने मेरा उपहास व अवज्ञा भी की है, जुआरी व बदमाश भी कहा है, पर मैंने यह सभी कुछ सहन किया है — उन्हीं लोगों के लिए जिन्होंने मेरा उपहास व अवज्ञा की है। वत्स, यह जगत् दुःख का केन्द्र अवश्य है, परन्तु महापुरुषों के लिए शिक्षा का केन्द्र भी है। लाखों दरिद्रों के हृदय की वेदना का अनुभव करो, निष्कपट होकर इनके लिए ईश्वर से सहायता माँगो — सहायता अवश्य मिलेगी! मैंने वर्षों तक इसी चिन्ता का भार मस्तिष्क में व इसी दुःख का भार हृदय में धारण कर भ्रमण किया है। तथाकथित धनी व बड़े आदमियों के दरवाजे पर भी गया हूँ, और अन्त में हृदय का रक्त निचोड़कर देते हुए आधी पृथ्वी लाँघकर इस सुदूर विदेश में सहायता-प्राप्ति की आशा से आ पहुँचा हूँ। भगवान दयामय हैं! वे अवश्य ही सहायता करेंगे। मैं इस देश में शीत व अनशन से मर सकता हूँ, परन्तु हे युवकगण! मैं तुम्हें दरिद्र, पतित व उत्पीड़ितों के लिए यह प्राणपण चेष्टा धरोहर के रूप में दे रहा हूँ। तुम इन तीस करोड़ नर-नारियों के उद्धार का व्रत धारण करो — जो प्रतिदिन घोर अज्ञान के अन्धकार में डूबे जा रहे हैं; प्रभु के नाम की जय हो — हम अवश्य ही कृतकार्य होंगे। इस चेष्टा में सैकड़ों व्यक्ति प्राणत्याग कर सकते हैं, और फिर हजारों व्यक्ति इस कर्म के लिए तैयार भी होंगे। — विश्वास—सहानुभूति! अग्निमय विश्वास — शुद्ध हार्दिक सहानुभूति! — आगे बढ़ो, आगे बढ़ो।"

* * * *

स्वामीजी महिलाओं के परामर्श को मान अपनी पोशाक बदलने के लिए बाध्य हुए। साधारण उपयोग में लाने के लिए उन्होंने एक लम्बा काला कोट बनवाया। गेरुआ रंग की पगड़ी व चोगा केवल व्याख्यान के समय पर पहनने के लिए रख छोड़े। एक दिन संयोगवश पूर्वोक्त महिला के

मकान पर हार्वर्ड विश्वविद्यालय की ग्रीक भाषा के विख्यात प्रोफेसर मि० जे. एच. राइट महोदय के साथ स्वामीजी का परिचय हुआ। इन्होंने थोड़ी देर वार्तालाप के बाद ही स्वामीजी का उद्देश्य जानकर कहा, ' आप शिकागो-महासभा में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अवश्य जाइए। वहाँ पर वेदान्त-प्रचार के कार्य में आप अधिकतर सफलता प्राप्त कर सकेंगे।" उत्तर में स्वामीजी ने अपनी स्वाभाविक सरलता के साथ वास्तविक कठिनाइयों का खोलकर वर्णन कर दिया। प्रोफेसर महोदय ने आश्चर्यचकित होकर कहा, " To ask you Swami, for your credentials is like asking the Sun to state its right to shine!" राइट साहब ने उसी समय उक्त महासभा से सम्बन्धित अपने मित्र मि० बनी के नाम एक पत्र लिखकर स्वामीजी के हाथ में दे दिया। उस पत्र में दूसरी बातों के साथ यह भी लिख दिया, "मेरा विश्वास है कि यह अज्ञात हिन्दू संन्यासी हमारे सभी पण्डितों को एकत्रित करने पर जो कुछ हो सकता है उससे भी अधिक विद्वान है।" यह पत्र लेकर स्वामीजी ने फिर से शिकागो की ओर यात्रा की। रेल का टिकट भी प्रोफेसर महोदय ने ही दिया।

स्वामीजी जिस उत्साह तथा जिस आनन्द को लेकर बोस्टन से रवाना हुए थे, शिकागो रेलवे स्टेशन पर उतरने के साथ ही वह सब लुप्त हो गया। इस विराट नगर में वे किस प्रकार डा० बैरोज साहब का आफिस ढूँढ़ सकेंगे। रास्ते में दो चार भद्रमहोदयों से उन्होंने पूछा अवश्य, परन्तु स्वामीजी को निग्रो समझकर वे लोग घृणा के साथ मुँह फेरकर आगे बढ़ गए; यहाँ तक कि रात को ठहरने के लिए एक होटल की खोज करने में भी उन्हें सफलता नहीं मिली। अन्त में कहीं भी आश्रय न पाकर रेलवे माल गुदाम के सामने पड़े हुए एक बड़े से पैकिंग बक्स में ही उन्होंने प्रवेश किया। उस समय बाहर बर्फ गिरना शुरू हो गया था। शीतकाल की प्रखर वायु का तीव्र स्पर्श और पैकिंग बक्स के भीतर घोर अन्धकार! दुःसह शीत से देह-रक्षा करने के

लिए उनके पास काफी वस्त्र भी न थे! असीम उत्कण्ठा के साथ रात बिताकर प्रातःकाल आशा व उद्यम से ढाढ़स बाँधकर राजपथ पर निकल पड़े। सारी रात अनाहार से बिताने के कारण प्रबल क्षुधा से उनका सारा शरीर शिथिल हो रहा था तथा वे और आगे बढ़ने में असमर्थ हो रहे थे। निरुपाय होकर थोड़े से खाद्य द्रव्य की आशा से द्वार द्वार पर भिक्षा माँगने लगे। उनके मैले फटे वस्त्र तथा क्लेश-व्यंजक मुखमण्डल को देखकर भी किसी के मन में दया का उद्रेक न हुआ। बल्कि उल्टे किसी ने गाली दी तो किसी ने दरवाजे से दूर हटाने के लिए बल का भी प्रयोग करना चाहा; किसी किसी ने प्रबल उपेक्षा व घृणा के साथ दरवाजा ही बन्द कर दिया! विशेष थके होने के कारण स्वामीजी राजपथ के किनारे पर बैठ गए और प्रशान्त चित्त से पूर्ण निर्भरता के साथ श्री गुरुदेव का स्मरण करने लगे। सहसा उनके सामने ही जो एक विशाल भवन था उसका दरवाजा खुला। और एक अपूर्व सुन्दरी रमणी ने धीरे से आकर स्वामीजी से मधुर कण्ठ से पूछा, "महाशय, क्या आप धर्म-महासभा के एक प्रतिनिधि हैं?" स्वामीजी ने विस्मयरुद्ध कण्ठ से संक्षेप में अपनी दुरवस्था की बात कह सुनाई और साथ ही कहा कि बैरोज साहब के आफिस का पता उनसे कहीं खो गया है। उस दयार्द्रचित्त महिला ने स्वामीजी को अपने घर पर बुलाकर भृत्यों को उनकी सेवा करने का आदेश दिया और कहा कि प्रातर्भोजन समाप्त होने पर वे स्वयं स्वामीजी को धर्मसभा में ले जाएंगी।

उपन्यासकार की श्रेष्ठतम कल्पना की तरह घटनाओं की असाधारण विचित्रता के बीच में से विवेकानन्द के प्रवास-जीवन का एक और अध्याय समाप्त हुआ। भगवान इसी तरह से दुःख की कसौटी पर महापुरुषों की परीक्षा किया करते हैं। इस सहृदया महिला का नाम है मिसेज़ जार्ज डब्ल्यू० हैल। अयाचित रूप से इन्होंने स्वामीजी की मातृस्थानीया बनकर उनके प्रचार-कार्य में काफी सहायता की थी — अस्तु। स्वामीजी विश्राम के बाद उनके

साथ जाकर धर्म-महासभा में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में ले लिए गए तथा प्रतिनिधियों के लिए निर्दिष्ट मकान में अतिथि के रूप में रहने लगे।

धर्मसभा के प्रथम अधिवेशन का विस्तृत वर्णन कर स्वामीजी ने स्वयं किसी शिष्य को लिखा था, "महासभा के प्रारम्भ के दिन प्रातःकाल हम सब 'शिल्प प्रासाद' नामक भवन में एकत्रित हुए।

"वहाँ पर महासभा के अधिवेशन के लिए एक वृहत् तथा कुछ छोटे छोटे अस्थायी हाल बनाए गए थे। यहाँ पर सभी जातियों के लोग सम्मिलित हुए थे। भारतवर्ष से आए थे—ब्राह्म समाज के प्रतापचन्द्र मजुमदार व बम्बई के नगरकर, वीरचन्द गान्धी जैन समाज के प्रतिनिधि के रूप में तथा एनी बेसेन्ट व चक्रवर्ती थिओसफी के प्रतिनिधि के रूप में आए थे। मजुमदार के साथ मेरा पूर्व परिचय था, और चक्रवर्ती मेरा नाम जानते थे। मकान से शिल्प प्रासाद तक बड़ी शान शौकत के साथ हम सब गए तथा प्लेटफार्म पर हम सब यथा स्थान बैठाए गए। सोचकर देखो,—नीचे एक हाल, उस पर एक बड़ी भारी गैलरी, उसमें अमेरिका के चुने हुए छः सात हजार सुशिक्षित नरनारी एक दूसरे से सटकर बैठे हैं और प्लेटफार्म पर पृथ्वी के सभी जातियों के विद्वान उपस्थित हैं। और मैं—जिसने जन्म से कभी जनसाधारण के सामने भाषण नहीं दिया वह इस महासभा में भाषण देगा! संगीत, प्रारम्भिक भाषण आदि नियमित रिवाज व ढंग से सभा का कार्य प्रारम्भ हुआ। उस समय प्रतिनिधियों का एक एक करके सभा को परिचय करा दिया गया। प्रत्येक प्रतिनिधि ने भी सामने आकर कुछ कुछ कहा। इधर मेरी छाती धुकधुक कर रही थी और जीभ सूख रही थी। मैं इतना घबड़ा गया कि पूर्वाह्न में तो भाषण करने का भरोसा तक न कर सका। मजुमदार ने अच्छा भाषण दिया। चक्रवर्ती और भी सुन्दर बोले। खूब तालियाँ पीटी जाने लगीं। वे सभी अपना अपना भाषण तैयार करके लाए थे। मैं मूर्ख—मैंने कुछ भी तैयार नहीं किया था। खैर, मैं देवी

सरस्वती को प्रणाम करके आगे बढ़ा। बैरोज महोदय ने मेरा परिचय करा दिया। मेरे गेरुआ वस्त्र से श्रोताओं का चित्त थोड़ा बहुत आकृष्ट हुआ था।

"मैंने अमेरिकानिवासियों को धन्यवाद देकर तथा और भी दो एक बातें बताकर एक छोटा सा भाषण दिया। हाँ, मुझे यह स्मरण है कि जिस समय मैंने उपस्थित जनता को 'अमेरिकानिवासी भगिनी व भ्रातृगण' कह-कर सम्बोधित किया उस समय दो मिनट तक लगातार ऐसी करतल-ध्वनि हुई कि मानो कान ही बधिर होने लगे! उसके बाद मैंने भाषण प्रारम्भ किया। जब मेरा भाषण समाप्त हुआ उस समय हृदय के आवेग से सम्पूर्ण श्रान्त हो मैं बैठ गया। दूसरे दिन सभी समाचार-पत्रों में मोटी मोटी लाइनों में यही वृत्तान्त आया कि मेरा भाषण सभी को बहुत अच्छा लगा। बस उसके बाद कुल अमेरिका मुझे जान गया। उस श्रेष्ठ टीकाकार श्रीधर स्वामी ने ठीक ही कहा है, 'मूकं करोति वाचालं'—हे भगवन्, तुम गूँगे को भी महान् वक्ता बना देते हो! उन प्रभु की जय! उस दिन से मैं एक विख्यात व्यक्ति बन गया। और जिस दिन हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में मैंने अपना भाषण दिया उस दिन तो हॉल में इतनी भीड़ हुई थी कि वैसी अन्य किसी दूसरे दिन नहीं हुई।"

११ सितम्बर १८९३ ई० जगत् के इतिहास में एक स्मरणीय दिन है। प्राच्य व पाश्चात्य के विभिन्न धर्मसम्प्रदायों के सर्व श्रेष्ठ प्रतिनिधि इसी दिन एकत्र सम्मिलित हुए थे,—इस विराट सभा में हजारों उत्कर्ण नर-नारियों के सम्मुख अपनी अद्वितीय आशिर्वाणी का उच्चारण करने के लिए विवेकानन्द खड़े हुए।

थिओसोफिस्ट सम्प्रदाय की नेत्री मिसेज़ एनी बेसेन्ट ने १९१४ ई० के मार्च मास की 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में इस घटना का उल्लेख कर लिखा था, "महिममय मूर्ति, गैरिक वस्त्र से भूषित, शिकागो नगर के धूममलिन धूसर वक्ष पर भारतीय सूर्य की तरह दीप्तिमान, उन्नत-शिर, मर्मभेदी दृष्टिपूर्ण

आँखें, चंचल होंठ, मनोहर अंगभंगी — धर्म-महासभा के प्रतिनिधियों के लिए निर्दिष्ट कमरे में स्वामी विवेकानन्द मेरी आँखों में प्रथम इसी रूप में प्रतिभात हुए थे। वे संन्यासी के नाम से विख्यात हैं, परन्तु यह समर्थनीय नहीं है, क्योंकि प्रथम दृष्टि में वे संन्यासी के बजाय योद्धा ही समझे जाते थे — और वे वास्तव में एक योद्धा संन्यासी थे भी। यह भारतगौरव, राष्ट्र के मुख को उज्ज्वल करने वाले सबसे पुराने धर्म के प्रतिनिधि, दूसरे उपस्थित प्रतिनिधियों में उम्र में सबसे छोटे होने पर भी प्राचीनतम व श्रेष्ठतम सत्य की जीती जागती मूर्तिरूपी स्वामीजी दूसरे किसी से भी कम न थे। द्रुत उन्नतिशील, उद्धत पाश्चात्य जगत् में दूत का काम करने के लिए अपनी योग्यतम सन्तान को नियुक्त कर भारतमाता गौरवान्विता हुई थी। इस दूत ने अपनी जन्मभूमि की गौरवपूर्ण कथाओं को न भूलकर भारत के सन्देश की घोषणा की थी। शक्तिमान, दृढ़संकल्प तथा उद्यमशील स्वामीजी में अपने मत का समर्थन करने के लिए काफी क्षमता थी।"

"दूसरा दृश्य प्रारम्भ हुआ। स्वामीजी सभामञ्च पर खड़े हुए। दूसरे शक्तिमान, प्रतिभासम्पन्न प्रतिनिधियों ने यद्यपि अपने सन्देश को सुन्दर रूप से व्यक्त किया था परन्तु इस अप्रतिद्वन्दी, प्राच्य प्रचारक की अतुलनीय आध्यात्मिक वार्ता की महिमा के सामने वे सभी निश्चय ही अवनत हो गए थे। उनके कण्ठ से निकला हुआ प्रत्येक झंकारमय शब्द आग्रहान्वित मंत्रमुग्ध जैसे विराट जनसमूह के मानसपट पर दृढ़ रूप से अंकित हो गया था।"

थिओसोफिस्ट सम्प्रदाय ने यद्यपि पग पग पर स्वामीजी के मार्ग में बाधा डाली थी तथा सब प्रकार से उनके प्रचार-कार्य में विघ्न उत्पन्न करने की चेष्टा की थी, फिर भी इस वैद्युतिक शक्तिशाली तेजस्वी हिन्दू संन्यासी के पवित्र प्रभाव को वे रोक न सके। इसीलिए विवेकानन्द की झूठी निन्दा की चर्चा करके थिओसोफिस्टों ने जिस अकीर्ति का संचय किया था, उसी को दूर करने के लिए अनेक वर्ष बाद मिसेज़ एनी बेसेन्ट ने 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका

में 'My impressions of Swami Vivekananda and his work' नामक लेख लिखा था, इसमें सन्देह नहीं। इसमें मिसेज़ बेसेन्ट ने यथेष्ट सत्साहस का परिचय दिया है और इसके लिए हम उन्हें धन्यवाद देते हैं।

मनुष्यमात्र में भ्रातृभाव की स्थापना व प्रचार के उद्देश्य से जो महासभा बुलाई गई थी उसके पूर्ववर्ती वक्ताओं ने चिराचरित रीतियों के अनुसार ही श्रोताओं को सम्बोधित किया था। परन्तु विश्वमानव के मिलन-मन्दिर के केन्द्रस्थल में खड़े होकर पृथ्वी के सब से प्राचीन संन्यासी सम्प्रदाय के प्रवक्ता विवेकानन्द ने ही पहले पहल उस विराट सभा को 'भ्राता व भगिनी गण' कहकर सम्बोधित किया था। हृदय के अन्तस्तल से उठे हुए इस निर्मल आह्वान ने सभी के हृदय में छिपी हुई प्रेम-निर्झरिणी के मुखावरण को उन्मुक्त कर दिया!

इसी भातृ-सम्बोधन से प्रीति-उत्फुल्ल श्रोतृवृन्द ने उद्ग्रीव तथा उत्कर्ण होकर सुना, आगतप्राय बीसवीं सदी के नवयुग का आदर्श, — सब प्रकार के धर्म-द्वन्द्व का परित्याग, स्वाधीनता के नाम पर व्यक्तिगत स्वेच्छाचार का परित्याग, जातीयता के नाम पर दूसरों की सम्पत्ति पर दृष्टि का निषेध, धर्म के नाम पर दूसरों के धर्म के प्रति अकारण आक्रमण का घोर निषेध! श्रोताओं के हृदय में यह बात भी पहुँचाई गई कि प्रत्येक व्यक्ति की जातीय, धार्मिक व सामाजिक स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए आपस में एक दूसरे के साथ भावों का आदान-प्रदान करना होगा, ईर्ष्या तथा संकीर्णता को छोड़ अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार दूसरों की लौकिक व आध्यात्मिक उन्नति के लिए सहायता करनी होगी।

१९ सितम्बर को स्वामीजी का हिन्दू धर्म नामक विख्यात भाषण हो जाने के बाद धर्मसभा के प्रतिनिधियों में से कुछ व्यक्तियों ने यह लोकचर्चा फैलाई कि वह वर्तमान प्रचलित हिन्दू धर्म नहीं है। विवेकानन्द ने जिस प्रकार आत्मा की महिमा घोषित की है उसके सम्बन्ध में अधिकांश हिन्दुओं

को जानकारी नहीं है। सूक्ष्म तर्क व युक्ति के द्वारा मूर्तिपूजा की दार्शनिक व्याख्या कर वे पाश्चात्य जगत् की आँखों में धूल झोंकने को उद्यत हुए हैं, क्योंकि जड़ के उपासक पौत्तलिक हिन्दू उक्त प्रकार की व्याख्या स्वप्न में भी नहीं सोच सकते हैं—विशेषतः विवेकानन्द एक नीच वंश में पैदा हुए हैं तथा जाति व समाज से च्युत एक नगण्य व्यक्ति हैं, धर्म की चर्चा उनके लिए अनधिकार चेष्टा मात्र है—आदि आदि इस प्रकार के निन्दावाद का प्रचार कर उन्हीं के स्वदेश वाले किसी 'रेवरन्ड' प्रचारक महोदय ने धर्म-सभा के अधिकारियों से उस उच्छृंखल चरित्रहीन युवक को सभा से निकाल बाहर करने का परामर्श दिया। इस समयोचित परामर्श में धर्मसभा के विज्ञ अधिकारीगण एकाएक विश्वास तो न कर सके, परन्तु उन्होंने स्वामीजी से इतना जरूर कह दिया कि आप अपने भाषण के सम्बन्ध में प्रतिवादी पक्ष द्वारा उठाई हुई आपत्तियों का खण्डन कीजिए। वेदान्त-दर्शन के साथ वर्तमान प्रचलित हिन्दू धर्म का क्या सम्बन्ध है, इस विषय में आलोचना-सभा में स्वामीजी ने २२ सितम्बर को एक आकर्षक भाषण दिया। उसी दिन सायंकाल भारत के वर्तमान धर्मसमूह की आलोचना-सभा में भी उन्होंने प्रतिवादियों द्वारा उठाई हुई विद्वेषपूर्ण युक्तियों का दृढ़ता के साथ खण्डन कर हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता व विशालता प्रमाणित की। २५ तारीख को जिस समय उन्होंने 'हिन्दू धर्म का सार' नामक भाषण देते देते सहसा नीरव होकर उपस्थित जनसमूह को लक्ष्य करके प्रश्न किया, "इस सभा में जो हिन्दू धर्म व शास्त्र के साथ प्रत्यक्ष रूप से परिचित हैं वे हाथ उठाएँ,"—तो प्रायः सात हजार व्यक्तियों के बीच में से केवल तीन चार हाथ उठाए गए! 'योद्धा संन्यासी' मस्तक ऊँचा उठाकर दोनों बाहुओं को दृढ़ता के साथ छाती पर बाँध कर भर्त्सना के साथ गरजते हुए बोले, "और फिर भी तुम हमारे धर्म की समालोचना करने की स्पर्धा रखते हो!" समस्त सभा निर्वाक् बनी रही और मृदु हास्य के साथ स्वामीजी ने फिर से अपना भाषण प्रारम्भ किया।

अन्त में २७ सितम्बर को धर्मसभा के अन्तिम अधिवेशन में युग-धर्मप्रवर्तक आचार्य ने पृथ्वी की सुसभ्य जातियों के सन्मुख वज्रकण्ठ से घोषित किया, "जो लोग इस सभा की कार्यप्रणाली का निरीक्षण करने के बाद भी हृदय में इस प्रकार की भावना रखेंगे कि कोई विशेष धर्म समय पर जगत् का एक मात्र धर्म हो जाएगा, अथवा कोई विशेष धर्म ही ईश्वरप्राप्ति का एक मात्र उपाय है और दूसरे धर्म भ्रान्त हैं, वे वास्तव में दया के पात्र हैं।" अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंस के समन्वय का सन्देश घोषित कर उन्होंने भविष्य के सार्वभौमिक आदर्श के सम्बन्ध में कहा, "प्रत्येक जाति या प्रत्येक धर्म दूसरी जाति या दूसरे धर्मों के साथ आपस में भावों का आदान-प्रदान करेगा, परन्तु प्रत्येक अपनी अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करेगा और अपनी अपनी अन्तर्निहित शक्ति के अनुसार उन्नति की ओर अग्रसर होगा। आज से सभी धर्मों के झण्डों पर लिख दो, 'युद्ध नहीं, — सहायता; ध्वंस नहीं — आत्मस्थ कर लेना; भेद-द्वन्द्व नहीं, — सामञ्जस्य एवं शान्ति!"

ईसाई धर्म व पाश्चात्य सभ्यता ने भारतीय धर्म व समाज को यथेष्ट उन्नत व परिमार्जित बनाया है — इस प्रकार की चापलूसी व दुर्बलता की सहायता से कृतज्ञता प्रकट कर 'वाह वाह' लूटने की आशा से विवेकानन्द पाश्चात्य देश में नहीं गए थे। वे गए थे शिक्षा-गुरु के रूप में — अद्वैतवाद का मणिमय प्रदीप हाथ में लिए, भोगान्धकार से आच्छन्न पाश्चात्य जाति को मुक्ति का पथ दिखाने! अपनी इच्छा से नहीं, भगवान की मंगलमयी इच्छा के दास बनकर! उनका सन्देश सुनने के लिए जगत् बाध्य है। जिन्होंने नीच ईर्ष्या के वशीभूत होकर इस महान् कार्य में विघ्न डालने की चेष्टा की थी वे स्वदेशी हों या विदेशी, इससे कोई प्रयोजन नहीं — उनकी अयाचित बहानेबाजी को उदारहृदय अमेरिकन राष्ट्र ने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने आग्रह के साथ नवयुग के आचार्य का आदर व सत्कार के साथ स्वागत किया। सदियों से अमेरिका वालों को नरक का भय, उत्कट पाप का भय तथा सुख-

मय स्वर्ग-प्राप्ति का प्रलोभन दिखाया गया था — युगयुगान्तर से वे सुनते आ रहे थे कि वे पापी हैं, अपवित्र हैं, अधम हैं, पर आज सहसा सुदूर प्राच्य देश से आए हुए आचार्य की अमृतमय वाणी उन्होंने सुनी। उन्होंने सुना कि आचार्य उन्हें सम्बोधित कर अभय देते हुए कह रहे हैं, "हिन्दू लोग तुम्हें पापी कभी नहीं कहते। पापी? तुम सब अमृत की सन्तान हो। इस पृथ्वी में पाप के नाम की कोई भी चीज़ नहीं है — यदि कोई पाप है तो मनुष्य को पापी कहना ही एक घोर पाप है। तुम सर्वशक्तिमान आत्मा हो — शुद्ध मुक्त महान्! उठो, जागो, अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिए चेष्टा करो!"

अमेरिकन राष्ट्र विवेकानन्द की प्रशंसा से मुखरित हो उठा। धर्म-सभा के अधिवेशन में प्रथम व्याख्यान के बाद से ही सैकड़ों व्यक्ति स्वामीजी के साथ परिचित होने के लिए व्यग्र हो उठे। अपरिचित संन्यासी का नाम समग्र सभ्य जगत् में विद्युत-प्रवाह की तरह फैल गया। समाचार-पत्र भी दुन्दुभि-निनाद से धर्ममहासभा में उनकी विजय की घोषणा करने लगे। न्यूयार्क हेरल्ड नामक सुप्रसिद्ध पत्र ने उनके सम्बन्ध में चर्चा करते हुए लिखा, "शिकागो-धर्ममहासभा में विवेकानन्द ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनकर ऐसा लगता है कि धर्म-मार्ग में इस प्रकार के समुन्नत राष्ट्र (भारतवर्ष) में हमारे धर्मप्रचारकों को भेजना निर्बुद्धता मात्र है।"

'दि प्रेस आफ अमेरिका' ने लिखा, "हिन्दू दर्शन व विज्ञान में सुपण्डित उपस्थित सभासदों में अग्रगण्य हैं — प्रचारक स्वामी विवेकानन्द — जिन्होंने अपने भाषण द्वारा विराट सभा को मानो संमोहिनी शक्ति के बल पर मुग्ध कर रखा था। आधुनिक प्रत्येक ईसाई चर्च के पादरी प्रचारकगण सभी उपस्थित थे, परन्तु स्वामीजी की भाषणपटुता की आँधी में उनके वक्तव्य सभी विषय बह गए थे। उनके ज्ञान-प्रदीप्त प्रशान्त मुखमण्डल से निकले हुए भाषण के प्रवाह ने अंग्रेजी भाषा की मधुरता स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर उनके

चिराचरित धर्मतत्वों को श्रोतृमण्डली के हृदय पर गम्भीरता के साथ अंकित कर लिया।

१८९४ ई० के ५ अप्रैल को 'बोस्टन इविनिंग ट्रेन्सक्रिप्ट' ने मन्तव्य प्रकट किया था, " He is really a great man, noble, simple sincere and learned beyond comparison with most of our scholars." अर्थात् वे वास्तव में एक महापुरुष, उदार, सरल व ज्ञानी हैं; वे हमारे देश के धुरंधर विद्वानों से गुणगौरव में कहीं उच्च हैं।

महाबोधी सोसाइटी के जनरल सेक्रेटरी श्री धर्मपाल महोदय ने १८९४ ई० के १२ अप्रैल के 'इण्डियन मिरर' पत्रिका में लिखा था,

" स्वामी विवेकानन्द के बड़े बड़े चित्र शिकागो नगर में रास्ते रास्ते पर लटकाकर रखे गए हैं और उनके नीचे लिखा है 'संन्यासी विवेकानन्द', विभिन्न सम्प्रदायों के हजारों पथिक इन चित्रों के प्रति भक्ति के साथ सम्मान प्रदर्शित करते हुए चले जा रहे हैं।"

शिकागो-महामेला के अंगरूपी विज्ञानसभा के सभापति मि० स्नेल ने लन्दन के सुप्रसिद्ध 'पायोनिअर' पत्रिका में उक्त महासभा के सम्बन्ध में जो विवरण दिया था उसके कुछ अंश का निम्नलिखित अनुवाद पढ़ने से ही हमें पता लग जाएगा कि आचार्य देव ने पाश्चात्य समाज व धर्म के ऊपर कैसे असाधारण प्रभाव का विस्तार किया था, —

" हिन्दू धर्म ने इस महासभा व जनसाधारण के ऊपर जिस प्रभाव का विस्तार किया है, वैसा करने में कोई भी दूसरा धर्म-संघ समर्थ नहीं हुआ। हिन्दू धर्म के एक-मात्र आदर्श प्रातिनिधि स्वामी विवेकानन्द ही इस महासभा के निर्विवाद रूप से सब से अधिक लोकप्रिय व प्रभावशाली व्यक्ति हैं। उन्होंने इस धर्म-महामण्डली के व्याख्यानमञ्च पर तथा विज्ञान-शाखा की सभा में अक्सर भाषण दिये हैं। इस विज्ञान-शाखा के सभापति के रूप में निर्वाचित होकर मैं सम्मानित हुआ था। ईसाई अथवा अन्य किसी भी धर्म के

व्याख्याता को किसी भी समय इस प्रकार के उत्साह के साथ आदर प्राप्त नहीं हुआ। वे जहाँ भी जाते थे वहीं जनता की भीड़ उमड़ पड़ती थी और लोग उनकी प्रत्येक बात सुनने के लिए आग्रह के साथ उत्कण्ठित रहा करते थे। महासभा के बाद से ही वे संयुक्त राष्ट्र के प्रधान प्रधान नगरों में विराट जनमण्डलियों के समक्ष भाषण दे रहे हैं और सभी स्थानों पर वे विशेष रूप से अभिनन्दित हो रहे हैं। उन्हें ईसाई धर्म-मन्दिरों के वेदियों से भाषण देने के लिए अनेक बार बुलाया गया है। जिन्होंने उनका भाषण सुना है और विशेष रूप से जो लोग उनके साथ व्यक्तिगत रूप से परिचय प्राप्त कर सके हैं वे सदैव ही उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं। घोर कट्टर ईसाई भी उनके सम्बन्ध में कह रहे हैं, स्वामीजी मनुष्य के बीच में 'अतिमानव' हैं।

"इस देश में हिन्दुत्व की कार्यकरी शक्तियों ने स्वामी विवेकानन्द के परिश्रम से विशेष रूप से प्रेरणा लाभ की है। इस देश में वर्तमान प्रचलित अंग्रेजी भावापन्न, शक्तिहीन, सारविहीन, अप्रकृत हिन्दू धर्म के प्रतिवाद के रूप में प्रकृत हिन्दू धर्म का इस प्रकार का कोई विश्वस्त प्रतिनिधि इससे पूर्व अमेरिका के तत्वजिज्ञासुओं के सम्मुख उपस्थित नहीं हुआ है। सामायिक उत्तेजना से नहीं—वरन् सचमुच अमेरिकानिवासी निःसन्दिग्ध रूप से स्वामीजी के प्रस्थान के बाद उनके फिर से आने की आशा में अथवा शंकर-मतावलम्बी उनके सहयोगियों में से किसी के आगमन के लिए उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करेंगे। प्रोटेस्टेण्ट ईसाई धर्म-सम्प्रदाय के बीच में जो लोग बहुत ही कट्टर हैं उनमें से थोड़े, बहुत ही थोड़े व्यक्तियों ने स्वामीजी की सफलता पर ईर्ष्या के वशीभूत हो उनके सम्बन्ध में विरुद्ध मन्तव्य प्रकट किया है। इस प्रकार मन्तव्य अस्वाभाविक तथा अप्रचलित धर्म-मतावलम्बियों से ही आए हैं, परन्तु भारतभूमि के गैरिक वस्त्रधारी संन्यासी की सार्वजनीन महानु-भावता व सदाशयता के गुण से, ज्ञानगौरव व व्यक्तिगत चरित्र की मधुरता से यहाँ का साम्प्रदायिक विद्वेष व द्रोह तिरोहित हुआ है।

" भारतवर्ष ने स्वामीजी को भेजा है — इसलिए अमेरिका धन्यवाद दे रहा है। जिन्होंने अभी तक विश्वबन्धुत्व तथा हृदय एवं मन की उदारता की शिक्षा प्राप्त नहीं की है, अमेरिका की ऐसी सन्तानों को अपने आदर्श का प्रदर्शन कराने तथा शिक्षा देने के लिए — यदि सम्भव हो तो — स्वामीजी की तरह और भी कुछ आदर्श पुरुषों को भेजने के लिए अमेरिका प्रार्थना कर रहा है तथा जो लोग उनके उपदेश द्वारा सर्वभूत में भगवान के स्वरूप की उपलब्धि करने में समर्थ नहीं हुए हैं और सर्वभूताश्रय अद्वितीय ब्रह्मसत्ता का अनुभव करना नहीं सीखे हैं, उन्हें समुन्नत करने के लिए अमेरिका और भी कुछ आदर्श पुरुषों की आवश्यकता अनुभव कर रहा है। "

इस प्रकार महीनों तक आचार्य देव के पवित्र चरित्र, अद्‌भुत प्रतिभा तथा उनके प्रचारित वार्ता के सम्बन्ध में अमेरिका के समाचार-पत्रों में युक्ति-पूर्ण आलोचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। समाचार-पत्रों के प्रतिनिधिगण, विख्यात अध्यापकगण, दार्शनिक थिओसोफिस्ट, सुशिक्षित पण्डित मण्डली तथा सत्य के अन्वेषक उनसे मिलने के लिए दल के दल आने लगे। जब वे राजपथ पर निकलते थे तो सहस्रों व्यक्ति केवल उन्हें देखने के लिए ही पागल हो उठते थे। वास्तव में जिस सम्मान के शतांश का एकांश भी किसी साधारण व्यक्ति के मस्तिष्क में विकार उपस्थित कर सकता है, उसे वे अविचल हृदय से पी गए। इस विश्वव्यापी प्रसिद्धि को उन्होंने कभी निजी नहीं माना, बल्कि जिस सभ्यता व शिक्षा-दीक्षा की गोद में उनका जन्म हुआ था, उन्होंने उसी सनातन धर्म की महिमा को ही इस सम्मान, ख्याति व यश के बीच में गम्भीरता के साथ अनुभव किया है। उन्होंने समझा कि काल का स्रोत फिर गया है। सभ्य जगत् के पास फिर से अमृत का सन्देश पहुँचाने के लिए भारतवर्ष प्रस्तुत हुआ है और इसी के परिणाम में उन्हें इस देश में आना पड़ा है। वे अपने को यंत्र ही मानते थे और इसीलिए साधारण व्यक्तियों की निन्दा या स्तुति की परवाह न करते हुए निःसंकोच होकर अपने

सन्देश को व्यक्त करते थे। तभी वे समय समय पर भाव के आवेग में दृढ़ता के साथ कहा करते थे, "मैं साधारण दूत मात्र हूँ—मेरा कार्य है सन्देश पहुँचाना।"

इस देशव्यापी सम्मान व प्रतिष्ठा के बीच में यशोलाभ से उत्फुल्ल होकर वे अपनी प्रिय मातृभूमि की बात भूले न थे—भूलते भी कैसे ? निर्भीक संन्यासी ने धर्मसभा में खड़े होकर सभी ईसाइयों को सम्बोधित करते हुए प्रश्न किया, "दरिद्र पौत्तलिकों की पापी आत्मा के उद्धार के लिए तुम लोग लाखों रुपए लगाकर मिशनरियों को भेज रहे हो, क्या उनके शरीर को बचाने के लिए दो दाने अन्न की व्यवस्था कर सकते हो ? जब लाखों हिदन (Heathen) दुर्भिक्ष में भूखों मरते हैं तब तुम ईसाई उन्हें बचाने के लिए क्या करते हो ? तुमने भारत के नगर नगर में बड़े बड़े गिरजाघर बनवाए हैं, परन्तु धर्म हमारा यथेष्ट है, हम रोटी माँग रहे हैं और तुम दे रहे हो पत्थर के टुकड़े ! क्या भूखों के दुःख-कष्ट की ओर न देखते हुए उन्हें धर्मोपदेश या दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने की चेष्टा करना मनुष्यत्व का अपमान करना नहीं है ? मैं अपने स्वदेशनिवासी अनशनाक्लिष्ट मनुष्यों के भोजन की व्यवस्था की आशा से तुम्हारे देश में आया हूँ, परन्तु मैं भलीभाँति समझ रहा हूँ कि ईसाइयों से 'हिदनों' के लिए किसी प्रकार की सहायता की प्रार्थना करना व्यर्थ है।"

धर्मसभा समाप्त होने के साथ ही एक 'व्याख्यान कम्पनी' ने स्वामीजी को संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न नगरों में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। स्वामीजी ने आग्रह के साथ उसके प्रस्ताव से सहमत होकर संयुक्त राज्यों के विभिन्न नगरों में भाषण देना प्रारम्भ किया। लोकप्रिय आचार्य के नवीन सन्देश को अमेरिका-निवासी उत्साह के साथ सुनने में तत्पर हुए। वे प्रत्येक नगर में सम्मानपूर्वक अभ्यर्थित होने लगे और प्रत्येक नगर से उनके लिए आग्रह के साथ आमंत्रण आने लगा।

नग्न देह, नरमांस-भोजी असभ्य भारतीयों के सम्बन्ध में मिशनरी लोगों की कृपा से पाश्चात्य जगत् में जो अद्भुत धारणा बँधी हुई थी, वह अधिकांश रूप में स्वामीजी द्वारा भारत की रीति-नीति, आचार-व्यवहार व धर्म का विवरण सुनकर बदल गई। अनेक सुविज्ञ, स्वजातिहितैषी विद्वान पादरियों ने विवेकानन्द के कथन की सत्यता की उपलब्धि की और भलीभाँति समझ लिया कि हिन्दू जाति की प्राचीन सभ्यता के पैरों तले बैठकर शिक्षा ग्रहण करने का दिन वास्तव में उपस्थित हुआ है। धनलोभी, जड़ोपासक, देहात्मवादी पाश्चात्य जाति को आसन्न ध्वंस के पंजे से आत्मरक्षा करने के लिए वेदान्त के अपूर्व धर्म को किसी भी रूप में क्यों न हो स्वीकार करना ही होगा।

हमने पहले ही कहा है, स्वामीजी केवल हिन्दू धर्म के प्रचारक के रूप में ही पाश्चात्य देश में नहीं गए थे, वरन् आचार्य के रूप में उनके सम्मुख दृप्त सिंह की तरह वे खड़े हुए थे। वे उच्च स्वर से ईसाइयों से बार बार पूछने लगे, "तुम्हारा ईसाई धर्म कहाँ है? इस स्वार्थ-संग्राम, अविराम ध्वंस की चेष्टा के बीच में ईसा मसीह का स्थान कहाँ है?"

स्वामीजी को संयुक्त राज्य के प्रत्येक नगर में अनेक प्रतिष्ठित व प्रभावशाली मित्र प्राप्त हो गए थे, यहाँ तक कि अनेक पादरी भी उनकी उदार धर्म-व्याख्या से विस्मित होकर उन्हें अपने अपने उपासना-गृहों में भाषण देने के लिए बुलाने लगे। यदि वे जनसाधारण की श्रद्धा व दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए श्रतिमधुर चाटु वाक्यों का उच्चारण करते तो उन्होंने जिस विश्वव्यापी प्रतिष्ठा को प्राप्त किया था वह होता या नहीं इसमें सन्देह है — यहाँ तक कि सम्भवतः उनके प्रचार-कार्य का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता। वे अद्वैतवाद की सुदृढ़ नींव पर खड़े होकर वेदान्त-प्रतिपादित सार-सत्यों को आधुनिक मन की उपयोगी युक्तियों से सजा-कर सरल भाव से प्रकट करते थे, उसमें देशाचार व लोकाचार के साथ

समझौते का भाव लेश मात्र भी नहीं था। जनसाधारण उनके सन्देश को किस भाव से ग्रहण करेंगे अथवा उसे सुनकर उनके मन में क्या भाव उत्पन्न होगा इसकी वे परवाह नहीं करते थे। यह स्वाभाविक है कि उनकी निर्भीक समालोचना से तंग आकर कई व्यक्ति उनके साथ तर्क में अग्रसर होते थे। अपने मत के समर्थन में स्वामीजी कभी हिचकते न थे। व्याख्यान के बाद अक्सर वे इसी प्रकार द्वन्द्व में बुलाए जाते थे। स्वामीजी की तर्क-शैली की समालोचना करते हुए 'जावा स्टेट रजिस्टर' ने लिखा है,—

"जिस व्यक्ति ने अपनी युक्ति व तर्क द्वारा स्वामीजी को पराजित करने की चेष्टा की उस अभागे की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ हुई हैं। उनका प्रत्युत्तर बिजली की तरह निकल पड़ता था और ऐसा लगता था कि दुःसाहसी प्रश्नकर्ता भारतीय तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा आहत होकर स्तम्भित हो गया है। उनकी मानसिक कार्य-प्रणाली ऐसी तीक्ष्ण, ऐसी समुज्ज्वल, ऐसी तत्व-पूर्ण तथा परिमार्जित होती थी कि समय समय पर वह श्रोताओं को विद्युत् द्वारा आहत जैसा बना देती थी और विशेष औत्सुक्य के साथ हमेशा के लिए अनुशीलन करने का विषय बनी रहती थी।"

अन्तःकरण के वास्तव भाव को छिपाकर, सत्य को तोड़ मरोड़कर विकृत भाव से प्रकट करने की चेष्टा उनमें कभी नहीं देखी गई। इसीलिए उनकी समालोचनाएँ समय समय पर तीव्र व असहनीय लगती थीं। ईसा मसीह व उनके उपदेशों के प्रति स्वामीजी की यथेष्ट श्रद्धा रहने पर भी वे वर्तमान प्रचलित ईसाई धर्म के दोष, उसकी त्रुटि व ढोंगबाजी को स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिखाते थे। स्वामीजी की इस निर्भीक समालोचना से सभी चिन्ताशील भावुक व्यक्ति सन्तुष्ट होते थे, परन्तु संसार के सभी व्यक्ति उदारहृदय तथा सत्समालोचना को सुनने लिए तैयार नहीं होते।

समग्र संयुक्त राज्य में फैली हुई उनकी अप्रतिहत प्रतिष्ठा को देख तथा अर्थोपार्जन में उन्हें विघ्न मानकर कुछ हीनचेता ईसाई मिशनरी नगर नगर में उनके विरुद्ध झूठा प्रचार करते और उनके प्रत्येक मित्र को शत्रु के रूप में परिणत करने के लिए चेष्टा करते थे। वे केवल स्वामीजी के पवित्र चरित्र पर कलंक का आरोप करके ही शान्त न हुए, वरन् अनेक सुन्दरी युवतियों को धन देकर वशीभूत करके स्वामीजी को प्रलोभित करने की चेष्टा करने लगे। थिओसोफिस्ट नेतागण इन सब मिशनरीयों के पीछे रहकर उनकी सहायता करने में तत्पर हुए। विवेकानन्द का अपराध इतना ही है कि वे प्रकट रूप से घोषित करने लगे — भारतीय ऋषियों की कोई गुप्त विद्या नहीं है, हिमालय से कन्याकुमारी तक भ्रमण करके भी उन्हें ऐसे किसी महात्मा से साक्षात्कार नहीं हुआ जो आकाश में पक्षियों की तरह उड़ते रहते हों। विशेष रूप से हिन्दू धर्म में गुप्त व गोपनीय कुछ भी नहीं है, क्योंकि वह युक्तिद्वारा प्रमाणित सत्यों का समूह है, सत्य के प्रकाश को अनायास ही सहन कर सकता है। कुछ भी हो, उक्त थिओसोफिस्टों की विवेकानन्द-भीति धीरे धीरे इतनी बढ़ गई कि उन्होंने यह नियम बना दिया कि समिति के सदस्यों में से यदि कोई भूल कर भी विवेकानन्द का भाषण सुनने जाएगा तो वह समिति की सब प्रकार से सहानुभूति खो बैठेगा, इत्यादि इत्यादि। और अवसर जानकर उनसे इस हीन कार्य में सम्मिलित हुए — उन्हीं के स्वदेशवासी एक प्रख्यातनामा 'रेवरन्ड' धर्मप्रचारक। वे बे-सिर-पैर के अनेकों हीन, मिथ्या अपवादों का प्रचार कर स्वामीजी को लोगों की दृष्टि में गिराने के लिए चेष्टा करने लगे। वे सब मिलकर प्रचार-कार्य को बन्द करने के लिए स्वामीजी को भय प्रदर्शन करने से भी बाज न आए।

विवेकानन्द का ब्रह्मचर्यरूपी वज्र द्वारा गठित चरित्र निन्दकों की बदनामी से विचलित होनेवाला न था। वे निर्विकार चित्त से चुपचाप

अपना कार्य करते रहे और आत्मरक्षा की कोई भी चेष्टा न कर केवल कहते थे, "साधारण मनुष्य, समाज को ही अपना ईश्वर मानकर उसका आदेश पालन करना ही अपना कर्तव्य समझता है। ज्योति के पुत्र (Children of Light) कभी वैसा नहीं करते। यही सनातन नियम है। एक व्यक्ति अपनी पारिपार्श्विक स्थिति व सामाजिक मतामत के साथ अपने को मिलाकर अपने अभीष्टदायी समाज से अनेक प्रकार की सुख-सम्पत्तियाँ प्राप्त कर लेता है और दूसरा व्यक्ति अकेला खड़ा रहकर समाज को अपनी ओर कर लेता है। मेरे हृदय के बीच में सत्य की जो वाणी ध्वनित हो रही है उसे न सुनकर मैं क्यों बाहर के लोगों के ख्याल के अनुसार चलने जाऊँ? यह मूर्ख जगत् मुझे जो कुछ करने के लिए कह रहा है, यदि मैं वैसा करने जाऊँ तो मुझे एक निम्न श्रेणी के जीवविशेष में परिणत हो जाना होगा, उसके बजाय तो मृत्यु सहस्र गुनी श्रेयस्कर है। मुझे जो कुछ कहना है, मैं उसे अपने ही भाव में कहूँगा। मैं अपने वाक्यों को न तो हिन्दू ढाँचे में ढालूँगा, न ईसाई ढाँचे में और न किसी दूसरे ढाँचे में ही। मैं अपनी बातों को केवल अपने ही ढाँचे में ढालूँगा।"

स्वामीजी के विरुद्ध इस सम्मिलित षड्यंत्र से उनके मित्रगण भयभीत हो उठे। उन्होंने स्वामीजी को सावधान होने का परामर्श दिया और स्थानीय सामाजिक व्यवहार की किसी प्रकार समालोचना करने की मनाही करके मधुर वाणी से सभी को सन्तुष्ट करने का परामर्श दिया। परन्तु उनकी अमानवी प्रकृति दक्षिणेश्वर की पंचवटी के नीचे नितान्त विभिन्न धातु से गठित हुई थी। इसीलिए हम देखते हैं कि इन सब नीच षड्यंत्रकारियों की प्राणपण चेष्टाओं की घोर अवहेलना के साथ उपेक्षा कर वे किसी सहृदय महिला को लिख रहे हैं:—" * * * * क्या? संसार के क्रीत दासगण क्या कह रहे हैं, इसके द्वारा मैं अपने हृदय का जाँच-विचार करूँगा? छीः, बहन, तुम संन्यासी को नहीं पहिचानतीं।

वेदों का कथन है, संन्यासी वेदशीर्ष हैं, क्योंकि वे गिरजा, धर्ममत, ऋषि, शास्त्र आदि किसी की भी परवाह नहीं करते। मिशनरी या दूसरा कोई भी क्यों न हो, वे भरसक चीत्कार व आक्रमण करें, मैं उनकी परवाह नहीं करता।"

भर्तृहरि की भाषा में,

"चण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः
किंवा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम्।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जनै—
र्न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः।"

अर्थात् क्या यह चाण्डाल है अथवा ब्राह्मण अथवा शूद्र अथवा तपस्वी अथवा तत्वविचार में धुरन्धर कोई योगेश्वर है? इस प्रकार भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से आलोचना होते रहने पर भी योगीगण न तो रुष्ट होते हैं और न तुष्ट ही। वे अपने मन से चलते रहते हैं।

किसी ने कहा है,—

"हाथी चले बाजार में कुत्ता भौंके हजार,
साधुओं का दुर्भाव नहीं जब निन्दे संसार॥"

अर्थात् जब हाथी बाजार के बीच में से चला जाता है तो हजारों कुत्ते उसके पीछे पीछे भौंकने लगते हैं, परन्तु हाथी मुड़कर देखता भी नहीं। इसी प्रकार जब समाज में कोई महापुरुष आविर्भूत होता है तो एक दल के संसारी व्यक्ति लगातार उसके विरुद्ध चिल्लाते रहते हैं।

सहिष्णु-काठिन्य से दुर्भेद्य पाषाण-प्राचीर की तरह उनका सुदृढ़ व्यक्तिस्वातंत्र्य सदा सभी स्थितियों में मस्तक उन्नत किए रहता था— उनकी त्यागपूत महिमा नितान्त अपरिचित व्यक्ति की स्थूल दृष्टि में भी

ज्यों की त्यों प्रतिभात होती थी — इसीलिए जनसाधारण उन सब असम्भव निन्दाओं पर सहसा विश्वास न कर सके; बल्कि उसका उल्टा ही फल हुआ, क्योंकि अनेक व्यक्ति जो विवेकानन्द के चरित्र की बारीकी के साथ परीक्षा करने गए वे उनके मित्र बन गए। फिर भी आचार्य देव के चरित्र का एक और दृष्टिकोण था, जो था अपूर्व व सुन्दर। अन्याय रूप से उत्पीड़ित व निन्दित होकर भी उनकी जिह्वा ने भूल से भी कभी किसी पर अभिशाप की वर्षा नहीं की। यदि कोई उन्हें गाली देता तो गम्भीर भाव से 'शिव शिव' कहते कहते उनका मुखमण्डल अपूर्व दीप्ति से उद्भासित हो उठता; यदि कोई क्षुब्ध उत्तेजना के वश में आकर उन्हें प्रतीकार करने की याद दिला देता तो स्नेह के साथ हँसते हुए वे उत्तर देते, "यह तो केवल प्रियतम प्रभु की ही वाणी है।"

जिस दिन शिकागो-धर्ममहासभा में आचार्य देव की अपूर्व सफलता का सन्देश भारतवर्ष के गाँव गाँव, नगर नगर में उत्तेजना-मिश्रित आनन्दोल्लास के साथ फैलने लगा उस दिन से हिन्दू जाति के इतिहास के एक गौरवमय अध्याय का सूत्रपात हुआ। हिमालय से कन्याकुमारी तक सभी भारतवासी इस अपरिचित वीर संन्यासी के कार्यों का विवरण कौतूहल व आग्रह के साथ सुनने लगे। रामनद के अधिपति राजा भास्कर वर्मा सेतुपति व खेतरी के राजा अजितसिंह बहादुर — दोनों राजशिष्यों ने आम दरबार में ठाठबाट के साथ अपनी अपनी प्रजा को बुलाकर हिन्दू जाति के मुख को उज्ज्वल करने वाले श्री गुरुदेव के कार्यों की प्रशंसा की और शिकागो-धर्ममहासभा में जो वे हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने में समर्थ हुए हैं, इसलिए उन्हें धन्यवाद देकर पत्र लिखा।

मद्रास में राजा सर रामस्वामी मुदालिआर व दीवान बहादुर सर*

---

* श्री सुब्रमण्य अय्यर ने बाद में भारतवासीयों के प्रति सरकार के अन्याय्य व्यवहार के प्रतिवाद के रूप में 'सर' उपाधि का परित्याग कर दिया था।

सुब्रमण्य अय्यर, सी. आई. ई. महोदय के नेतृत्व में एक विराट सभा बुलाई गई। नगर के विख्यात विद्वान व मान्य व्यक्तियों ने उपस्थित होकर स्वामीजी के प्रचार-कार्य का समर्थन किया, और उक्त सभा की रिपोर्ट के साथ उन्हें उत्साहप्रद एक पत्र लिखा गया।

स्वामीजी की जन्मभूमि कलकत्ता नगरी उत्साह व आनंन्द में उन्मत्त हो गई। स्वामीजी के महिमासमुज्ज्वल प्रचार-कार्य का समर्थन कर उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए बुधवार ता० ५ सितम्बर १८९४ ई० को राजा प्यारेमोहन मुखर्जी, सी. एस. आई. के सभापतित्व में कलकत्ते के टाऊन हॉल में एक विराट सभा बुलाई गई। सभा आरम्भ होने के नियत समय से बहुत पहले ही टाऊन हॉल हजारों दर्शकों एवं श्रोतागणों से भर गया। इस सभा में पं. राजकुमार न्यायरत्न, मधुसूदन स्मृतितीर्थ, कामाख्यानाथ तर्कवागीश, रामनाथ तर्कसिद्धान्त, महेशचन्द्र शिरोमणि, तारापद विद्यासागर, केदारनाथ विद्यारत्न, ईशानचन्द्र मुखोपाध्याय आदि विख्यात पण्डितगण तथा महाराज कुमार विनयकृष्ण देव बहादुर, माननीय जस्टिस गुरुदास बैनर्जी, माननीय सुरेन्द्रनाथ बन्दोपाध्याय, बाबू नगेन्द्रनाथ घोष (सम्पादक, इण्डियन नेशन), नरेन्द्रनाथ सेन (इण्डियन मिरर), डा० जे. बी. डेली (इण्डियन डेली न्यूज), बाबू भूपेन्द्रनाथ बसु, राय यतीन्द्रनाथ चौधरी (जमींदार, टाकी) एवं कलकत्ता नगर के अन्य अनेक प्रतिष्ठित व विद्वान सज्जन सम्मिलित हुए थे।

उपस्थित भद्रमहोदयों ने विवेकानन्द के गौरव के गर्व से प्रफुल्लित होकर ओजस्वी भाषणों द्वारा आचार्य देव की कार्य-प्रणाली का समर्थन किया। सारी सभा ने एकवाक्य से हिन्दू समाज की ओर से स्वामी विवेकानन्द को धन्यवाद देने के लिए उपस्थित किए हुए प्रस्ताव का समर्थन किया। माननीय सभापति महोदय ने सर्व-सम्मति से हिन्दू समाज की ओर से शिकागो-धर्ममहासभा के सभापति व स्वामीजी के पास धन्यवाद-सूचक पत्र भेजा।

राजा बहादुर के पत्र के उत्तर में डा० बैरोज साहब ने लिखा था:—

(अनुवाद)

२९५७, इण्डिआना अवेन्यु,
शिकागो।
१२ अक्टूबर १८९४

राजा प्यारेमोहन मुखर्जी, सी. एस. आई.

प्रिय महाशय,

कलकत्ते की टाऊन हॉल की विराट सभा के विवरण के साथ आपने मुझे जो पत्र लिखा है वह मुझे अभी मिला। मैं इससे बहुत ही सम्मानित हुआ हूँ। शिकागो-धर्ममहासभा में आपके मित्र स्वामी विवेकानन्द बड़े सम्मान के साथ लिए गए थे। उन्होंने अपने भाषण-बल से चुम्बक के आकर्पण के सदृश सभी को आकृष्ट कर लिया। वे अपने व्यक्तिगत प्रभाव को भलीभाँति विस्तारित करने में समर्थ हुए थे। उनके यत्न से यहाँ के लोगों की धर्म के अनुशीलन में विशेष रूप से प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। प्रधान प्रधान विश्वविद्यालयों में उनके भाषण तथा अध्यापन की व्यवस्था हो रही है। अमेरिका की जनता के हृदय में भारतवर्ष के प्रति विशेप कृतज्ञता एवं प्रेम है। हमारा विश्वास है कि आप के प्राचीन एवं पवित्र साहित्य से हमें अनेक विषयों को ग्रहण करना होगा।

आपका एकान्त विश्वस्त,
जान हेन्री बैरोज

१८९४ ई० के १८ नवम्बर को न्यूयार्क से स्वामीजी ने अभिनन्दन के उत्तर में राजा बहादुर को लिखा,—

"कलकत्ता टाऊन हॉल की जनसभा में स्वीकृत प्रस्ताव मुझे प्राप्त हुआ। मैं अपनी जन्मभूमि के निवासियों के स्नेहपूर्ण वाक्यों तथा अपने

मामूली से कार्य के प्रति उनके सहृदय अनुमोदन के लिए हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

"मैने यह निश्चित रूप से समझ लिया है कि कोई व्यक्ति या जाति दूसरों से विच्छिन्न होकर जीवित नहीं रह सकती। भ्रान्त श्रेष्ठत्व के अभिमान अथवा पवित्रता के बोध से जहाँ भी इस प्रकार की चेष्टा हुई है वहीं परिणाम अत्यन्त शोचनीय हुआ है। मैं समझता हूँ, दूसरों के प्रति घृणा की नींव पर कुछ प्रथाओं की दीवार उठाकर अलिप्तता का अवलम्बन ही भारत के पतन व उसकी दुर्गति का कारण है। प्राचीन काल में हिन्दुओं को पड़ोस वाले बौद्ध सम्प्रदायों के सम्मिश्रण से रोकने के लिए ही उस प्रकार की व्यवस्था का अवलम्बन किया गया था। इस व्यवस्था की यथार्थता को प्राचीन काल में अथवा आजकल भी, किसी भी भ्रान्त युक्ति के द्वारा प्रमाणित करने की चेष्टा क्यों न की जाय, पर जो दूसरों से घृणा करेगा उसका पतन अवश्यम्भावी है, यही निश्चित नीति है। फलतः प्राचीन जाति-समूह के बीच में जो अग्रगण्य हुए थे — आज तो यह केवल किंवदन्ती के रूप में विद्यमान है — वे आज सभी की घृणा के पात्र हैं। हमारे पूर्वपुरुषों की भेदनीति के परिणाम में क्या स्थिति हुई है, हम उसके जीते जागते उदाहरण हैं।

"आदान प्रदान जगत् का नियम है। भारतवर्ष यदि फिर उठना चाहे तो उसके गुप्त भण्डार में जो कुछ संचित है उसे विभिन्न जातियों में उदारतापूर्वक बाँट देना होगा और बदले में दूसरे लोग जो देंगे उसे लेने के लिए भी तैयार रहना होगा। सम्प्रसारण ही जीवन है, और संकोच मृत्यु; प्रेम ही जीवन है, घृणा मृत्यु। हम उसी दिन से मर रहे हैं जिस दिन हमने दूसरी जातियों से घृणा करना सीखा और सम्प्रसारण के अतिरिक्त हमारी इस मौत को और कोई नहीं रोक सकेगा। अतः हमें संसार की सभी जातियों के साथ मेल मिलाप करना होगा। जो कोई हिन्दू विदेश में जाता है वह अप्रत्यक्ष रूप से देश का कल्याण करता है और तुलना में वह अपने उन हजारों देश-

वासियों से श्रेष्ठ है जिन्हें हम कुसंस्कार व स्वार्थपरता की मूर्ति कह सकते हैं; क्योंकि वे लोग स्वयं जड़ की तरह रहते हैं और दूसरों को भी कुछ नहीं करने देते! पाश्चात्य जातियों ने जातीय जीवन का जो आश्चर्यजनक सौध खड़ा किया है वह चरित्ररूपी सुदृढ़ स्तम्भों पर खड़ा है। जब तक हम उस प्रकार का अपना चरित्र बना न सकेंगे तब तक उसके विरुद्ध चीत्कार करना व्यर्थ है।

"जो दूसरों को स्वाधीनता देने को तैयार नहीं है, क्या वह स्वयं स्वाधीनता पाने के योग्य है? व्यर्थ की हाय हाय व चीख-चाख न करते हुए आइये हम दृढ़ चित्त से मनुष्य की तरह काम में लग जाएँ। मुझे सम्पूर्ण विश्वास है कि जो वस्तु जिसको वास्तव में प्राप्य है, उससे उसे कोई वंचित नहीं करा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि हमारा भूतकाल महान् था, परन्तु मुझे विश्वास है, हमारा भविष्य उससे भी महान् होगा। भगवान शंकर हमें पवित्रता, धीरता व अध्यवसाय के बीच में सुप्रतिष्ठित रखें।"

शिकागो-धर्ममहासभा की समाप्ति के बाद प्रायः एक वर्ष तक आचार्य देव ने संयुक्त राज्य के नगर नगर में जो वक्तृताएँ दी थीं उनका एकत्रित विवरण प्रकाशित करना बहुत ही कठिन कार्य है। समाचार-पत्रों में प्रकाशित आचार्य देव के भाषण व चरित्र के सम्बन्ध में आलोचनाओं द्वारा हम जान सकते हैं, १८९४ ई० के फरवरी मास में उन्होंने डिट्राइट युनिटेरिअन चर्च में धारावाही रूप से कुछ भाषण दिए थे। स्वामीजी ने डिट्राइट में पहले मिशिगन की भूतपूर्व गवर्नर-पत्नी, असाधारण विदुषी महिला मिसेज़ जान. जे. बैङ्लो के अतिथि के रूप में और उसके बाद दो सप्ताह तक शिकागो-महासभा कमिशन के सभापति संयुक्त राज्य के अन्यतम सेनेटर माननीय टॉमस. डब्ल्यू. पामर महोदय के भवन में निवास किया था।

मार्च, अप्रैल, मई और जून — इन चार महीनों में शिकागो, न्यूयार्क व बोस्टन के चारों ओर स्थित छोटे बड़े नगरों में उन्होंने अविराम व्याख्यान दिये थे। जून मास में वे न्यू इंग्लैण्ड के अन्तर्गत 'ग्रीन एकर' के एक

सम्मेलन में भाषण देने के लिए गए। वहाँ पर कुछ उत्साही छात्र वेदान्त-दर्शन की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनकी शरण में आए। स्वामीजी भी आग्रह के साथ उन्हें शिक्षा देने लगे। ये छात्रगण अपने अध्यापक के प्रति सम्मान व श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए आचार्य देव को घेर, वृक्षों के नीचे भारतीय रीति का अनुसरण कर भूमि पर बैठते थे। इसके बाद वे शरत्काल भर विभिन्न स्थानों में घूमकर अक्टूबर मास के अन्तिम भाग में बाल्टिमोर व वाशिंग्टन नगर में भाषण देकर न्यूयार्क लौटे। न्यूयार्क की एक छोटी सी पारिवारिक सभा में ' ब्रुकलिन नैतिक सभा ' के सभापति प्रसिद्ध विद्वान डा. लुइस जी. जेम्स स्वामीजी का भाषण सुनकर बड़े मुग्ध हुए। उन्होंने उक्त नैतिक सभा में हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में भाषण देने के लिए स्वामीजी को आमंत्रित किया और उस सभा की ओर से स्वामीजी ' पौच मैन्शन ' नामक विशाल भवन में हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में हजारों श्रोताओं के सम्मुख प्रतिदिन धारा-प्रवाह रूप में भाषण देने लगे।

" ब्रुकलिन नैतिक सभा ' में दिये हुए भाषणों को ही स्वामीजी के वेदान्त-प्रचारकार्य का प्रारम्भ मान लिया जा सकता है। इस समय से ही स्वामीजी ने अनेक स्थानों में घूम घूम कर व्याख्यान देना बन्द कर न्यूयार्क में स्थायी रूप से वेदान्त व योग की शिक्षा देने के लिए एक क्लास खोलने का निश्चय किया। व्याख्यान-कम्पनी की सहायता से भाषण देना व्यवसाय की दृष्टि से बहुत लाभदायक होने पर भी उन्होंने उक्त कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। भाषण देकर धन कमाना उन्हें ठीक न जँचा। न्यूयार्क में आकर उन्होंने घोषित किया कि जनता को बिना मूल्य ही उनके भाषण व उपदेश ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होगा। ब्रुकलिन व ग्रीन एकर में स्वामीजी ने जिन थोड़े से व्यक्तियों को शिष्य बनाया था वे उत्सुकता के साथ नवीन स्थापित क्लास में सम्मिलित हुए। १८९५ ई० के फरवरी मास से यह कार्य नियमित रूप से प्रारम्भ हुआ। लगातार यश व

प्रशंसा का विवरण सुनते सुनते स्वामीजी विरक्त हो गए थे, इसीलिए वे व्याख्यान देने के बजाय व्यक्तिगत रूप से धर्म सम्बन्धी समस्याओं की मीमांसा कर देने तथा शिष्यों के अनभ्यस्त मन को भारतीय साधना के उपयोगी बनाने में अधिक तत्पर हुए।

ऐसा करने में उन्हें साधारण जनता के साग्रह आमंत्रण से छुटकारा पाने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा; परन्तु फिर भी वे अपने संकल्प से च्युत न हुए। सम्भव है कि उनका ऐसा उद्देश्य रहा हो कि यदि सचमुच किसी का प्रकृत धर्म लाभ करने के लिए एकान्त आग्रह जाग उठा है तो वह भारतीय शिष्य की तरह गुरु के पास आये। भाषण की सामायिक उत्तेजना में जो उत्साह देखा जाता है उसका स्थायी फल बहुत ही कम व्यक्तियों पर होता है — यह बात आचार्य देव ने बहुत शीघ्र समझ ली थी।

अक्लान्तकर्मा आचार्य देव के प्रत्येक कार्य में इस प्रकार एक ऐसी अनासक्ति का भाव प्रकट होता था जिसका स्पष्ट कारण जानना अमेरिकनों के लिए असाध्य था, क्योंकि अपने भौतिक ज्ञान के मानदण्ड से वे इस भारतीय योगी को नापने में सबसे पहले यही एक भूल कर बैठते थे कि इन्होने धनोपार्जन के सरल पथ को छोड़कर अच्छा नहीं किया। भाषण देकर स्वामीजी कभी कभी यथेष्ट धन प्राप्त तो कर लेते थे, परन्तु उसे पाने से पहले ही वे उसका दान कर डालते थे। अमेरिका व भारतवर्ष के अनेक दातव्य भण्डार स्वामीजी से अप्रत्याशित रूप में आशातीत सहायता प्राप्त कर बहुधा चकित हुए हैं। यदि स्वामीजी के आय-व्यय या हिसाब-किताब का कोई खाता होता तो हमें प्रतीत होता कि जिस परिणाम से दान करने पर इस संसार में लोग बहुधा बड़े दाता के नाम से विख्यात हो जाते हैं स्वामीजी उसकी सीमा से कहीं आगे निकल गए थे। यहाँ पर हम देखते हैं कि पाश्चात्य के मोहमय विलास की मरीचिका, — प्रबल अर्थलालसा, उनके संन्यास को विचलित

नहीं कर सकी। जिस समाज में पग पग पर प्रचुर धन की आवश्यकता है उसी समाज के वक्ष पर उन्होंने कल कहाँ रहेंगे, क्या खाएँगे इत्यादि चिन्ताओं से शून्य होकर दिन पर दिन व्यतीत किए हैं। पहले पहल जोश में मस्त होकर अमेरिकनों ने उनकी प्रशंसा की, ध्वनि से आकाश को मुखरित तो किया, परन्तु धर्म की शिक्षा के लिए शिष्य के रूप में उनके पदतल पर उपवेशन नहीं किया। उनके गुणमुग्ध व्यक्तियों ने मित्र के रूप में ही उनका सम्मान किया, उनसे स्नेह किया — गुरु के रूप में, आचार्य के रूप में भक्ति नहीं की, परन्तु जब विशेष रूप से पर्यवेक्षण करके उन्होंने देखा कि उनके वाक्य व कार्य में किसी प्रकार भिन्नता नहीं है, — जब उन्होंने समझा कि उन्होंने अपने बीच में एक ऐसे व्यक्ति को प्राप्त किया है, जो तथाकथित इन्द्रियजन्य भोगसुख को तृण की तरह मानता है, — आदर, सन्मान, यश, प्रतिपत्ति, धन आदि किसी से भी उसका चित्त विचलित नहीं होता, — जब उन्होंने देखा कि यह अद्भुत पुरुप सम्पूर्ण निःस्वार्थ भाव से, उन्हीं की कल्याण-कामना से, हिन्दू शास्त्र व धर्म रूपी अगाध समुद्र के मन्थन से उत्पन्न अद्वैत रूपी अमृत को लेकर उनके द्वार पर उपस्थित है — तभी तो वे उसके पैरों तले बैठकर धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए अग्रसर हुए थे।

अवश्य साथ ही साथ हमें यह भी न भूल जाना चाहिए कि यद्यपि शिकागो-महासभा के बाद से ही विवेकानन्द एक विख्यात व्यक्ति हो गए थे, तथापि वेदान्त-प्रचार के कार्य को प्रतिष्ठित करने में उन्हें अनेक असम्भव बातों के साथ युद्ध करना पड़ा था। १८९३ ई० के ११ सितम्बर को जगजननी ने अपने प्रियतम पुत्र को विराट सभा के बीच खड़े कर आगामी सदी के चिन्ता-राज्य के एक अप्रतिहत योद्धा का पद देकर उनके महिमासमुन्नत मस्तक पर जिस प्रकार 'यश का कँटीला मुकुट' पहिना दिया था उसी प्रकार साथ ही साथ शेष जीवन को भी यथासाध्य कण्टकाकीर्ण बाधा व विपत्तियों से युक्त बनाने में भी कमी न की थी।

पृथ्वी की विभिन्न प्रकार की सभ्य तथा अर्ध-सभ्य जातियों के सम्मेलन से निर्मित अमेरिकन जाति को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त अन्ध कुसंस्कार, असार अहंकार, उद्दाम भावप्रवणता एवं अव्यवस्थित-चित्तता — प्रत्येक विदेशी बुद्धिमान व्यक्ति को अमेरिका में पदार्पण करते ही दृष्टिगोचर हो जाते थे। संसार के किसी भी प्रकार का कोई नवीन मतवाद या धर्म क्यों न हो — वह युक्तिपूर्ण हो अथवा नितान्त भ्रमात्मक — उसके समर्थक अमेरिका में मिल ही जाएँगे। किसी भी ढंग से क्यों न हो, कुछ व्यक्तियों के मन में उत्तेजना पैदा करने में समर्थ होने से ही धन कमाने का सीधा रास्ता बना लिया जा सकता है। अमेरिकानिवासियों की इस दुर्बलता को सुलभ शिकार बनाकर धर्म-तत्व, प्रेम-तत्व, प्रेत-तत्व — महात्माओं का जल-स्थल-आकाश में अबाध विचरण आदि वैचित्र्यपूर्ण मतवादों का यहाँ पहले से ही प्रचार होता आया है और यथेष्ट धन दक्षिणा के रूप में देकर स्थूलदृष्टि अन्ध-विश्वासी नरनारी मुक्ति व आध्यात्मिक उन्नति की कामना से उन्हीं सब अलौकिक रहस्यपूर्ण समितियों के सदस्य बनकर अपने को कृतार्थ मानते थे। पारिपार्श्विक इस प्रकार की पार्श्वभूमि में वेदान्त के ब्रह्मज्ञान का प्रचार करने के लिए युक्तिपन्थी विवेकानन्द को किस असीम धीरता के साथ कठिन परिश्रम करना पड़ा था, यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है।

इस सब अलौकिक रहस्य के पीछे दौड़नेवाले भ्रमित नर-नारियों के बीच में से प्रकृत सत्य की खोज करने वाले जिज्ञासुओं तथा साधनेच्छुकों को बड़े परिश्रम के साथ चुन चुन कर तथा उन्हें वहाँ से निकालकर फिर कहीं विवेकानन्द शिक्षा-दान के कार्य में अग्रसर हो सके थे।

उन सब समितियों के अधिकारीगण विवेकानन्द को उनके साथ सम्मिलित हो जाने के लिए पहले प्रलोभन व अनुरोध, पर अन्त में अनेक प्रकार से भय प्रदर्शन करने लगे। स्वामीजी के मत, कार्य या चिन्ता में 'गुप्त' कुछ भी न था। उन्होंने निर्भीक होकर प्रकट रूप से घोषित किया, "मैं

सत्याग्रही व सत्य का उपासक हूँ,—सत्य कभी किसी भी स्थिति में मिथ्या के साथ सन्धि न करेगा। यदि समग्र जगत भी आज एकमत होकर मेरे विरुद्ध खड़ा हो तो भी सत्य ही अधिकतर बलवान रहेगा।"

इसके बाद ईसाई मिशनरीगण! ये लोग विवेकानन्द द्वारा प्रचारित धर्ममत का युक्ति व तर्क द्वारा खण्डन करने में असमर्थ होकर पग पग पर उनके व्यक्तिगत चरित्र की समालोचना करने लगे। जो कोई उनका मित्र बना, उसे ही शत्रु बनाने की चेष्टा करने लगे। ऐसा भी हुआ कि किसी परिवार में धर्म का उपदेश देने के लिए स्वामीजी बुलाए गए हैं। इन लोगों को इस बात का पता लगते ही वे उस परिवार के व्यक्तियों को अनेक प्रकार से समझाने लगे कि 'उसकी बात व कार्य में कोई मेल नहीं है, उसका चरित्र इस प्रकार है,' इत्यादि इत्यादि। ऐसी बातें सुनकर उनमें से कोई कोई पत्र लिखकर आमंत्रण वापस ले लेते थे। कहीं कहीं पर ऐसा भी हुआ है कि स्वामीजी को किसी ने निमंत्रण दिया। स्वामीजी जब उसके यहाँ गए तो देखते हैं कि घरवाले दरवाजा बन्द करके कहीं चले गए हैं! फिर ऐसी भी घटनाएँ होती थीं कि वे ही सब लोग अपनी गलती स्वीकार करते हुए स्वामीजी के पास आकर पश्चात्ताप प्रकट करते थे। स्वामीजी के अमेरिकन शिष्य व शिष्याओं में इस प्रकार के लोगों की संख्या नगण्य नहीं है। कुछ भी हो, इन मिशनरी प्रभुओं ने प्रकारान्तर से स्वामीजी के प्रचार-कार्य में सुविधा ही कर दी थी।

परन्तु न्यूयार्क में धर्मप्रचार-कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व स्वामीजी को एक और प्रबलतम प्रतिद्वन्द्वी दल का सामना करना पड़ा था। वह था अमेरिका का विख्यात स्वाधीन-चिन्तावादी दल (Free Thinkers)। इस दल के सदस्य नास्तिक, जड़वादी, सन्देहवादी, युक्तिवादी आदि विभिन्न प्रकार के मतावलम्बी व्यक्ति तो थे ही, परन्तु साथ ही वे सब धर्म या धर्म सम्बन्धी सभी कार्यों को ठगी व कुसंस्कार मानकर उनकी उपेक्षा करने में भी एकमत

थे। उन्होंने दम्भ के साथ एक दिन विवेकानन्द को अपने समाजगृह में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया।

स्वामीजी ने उनकी उठाई हुई युक्तियों का खण्डन कर अद्वैतवाद की श्रेष्ठता प्रमाणित की। इस वाद-विवाद का विस्तृत विवरण देना यहाँ अनावश्यक है। पर उसके बाद से ही अनेक स्वाधीन चिन्तावादियों ने स्वामीजी के उपदेश से अनुप्राणित होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। स्वाधीन चिन्तावादियों के नीरव होने के बाद ही विवेकानन्द का प्रचार-कार्य विघ्नरहित होकर तेजी के साथ बढ़ा। इसी से अनुमान किया जाता है कि विवेकानन्द के प्रचार-कार्य के इतिहास में यह एक प्रसिद्ध घटना थी।

पाश्चात्य देश में स्वामीजी के धर्मप्रचारार्थ जाने के कारण के सम्बन्ध में हमने इसके पूर्व उचित स्थान पर बहुत कुछ कहा है, फिर भी एक और बात यहाँ पर कह देना जरूरी है। एक दल का कहना है, कि हिन्दू धर्म कभी भी प्रचारशील धर्म नहीं है और विवेकानन्द का अमेरिका व पाश्चात्य देश में जाना अगर इतिहासकार की दृष्टि से देखा जाय, तो राममोहन व केशवचन्द्र का अनुकरण मात्र था। इनमें से कई तो विवेकानन्द को राममोहन व केशवचन्द्र से अनेक बातों में प्रभावित भी पाते थे।

विवेकानन्द के पाश्चात्य देश में जाने को इतिहासकार की दृष्टि यदि केवल किसी व्यक्तिविशेष का अनुकरण ही न मान बैठती तो उसे प्रतीत होता कि निखिल धर्ममतों की जननी भारतमाता ने जगत् को अपने आध्यात्मिक तत्वों का दान अनेक बार दिया है;—उसे प्रतीत होता कि जब कभी कोई शक्तिमान जाति जाग्रत होकर पृथ्वी को एक अखण्ड राजनीतिक सूत्र में बाँधने के लिए सचेष्ट हुई है, उसी समय उस सूत्र को अवलम्बन बनाकर भारतीय भाव समस्त जगत् में फैल गया है। ग्रीक, रोमक, बैबिलोन आदि प्राचीन सभ्यता के निर्माण के लिए भारत ने क्या क्या सामग्रियाँ दी थीं, यह भी सूक्ष्मदृष्टि चिन्ताशील इतिहासकार को अविज्ञात नहीं है। बौद्धधर्म द्वारा

जगत् का प्लावन, अशोक द्वारा धर्म-प्रचारकों का प्रेषण, — ये भी ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। ठीक इसी कारण से, जिस समय तमोभाव बहुल रजः-शक्ति की सहायता से बलदृप्त पाश्चात्य जातियों ने जातीय स्वार्थ-सिद्धि की प्रेरणा से समग्र जगत् में एक संयोग-सूत्र की स्थापना की थी — उस समय बहुत काल बाद भारतवर्ष इस नवीन सभ्यता के भण्डार में अपने युग-युगान्तों से संचित चिन्तन-समूह का दान करने के लिए प्रस्तुत हुआ — और इस चेष्टा का ही प्रथम फल है, — विवेकानन्द का पाश्चात्य देश में गमन। अतः आपात दृष्टि में उसे किसी व्यक्तिविशेष का अनुकरण मानने का भ्रम होने पर भी वह इतिहास की ही पुनरावृत्ति मात्र है।

और पाश्चात्य देश में जाने का कार्य यदि अनुकरण ही है, तो प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को यह स्पष्ट प्रतीत हो जाएगा कि विवेकानन्द किसी भी दृष्टि से राममोहन या केशवचन्द्र की प्रतिध्वनि नहीं हैं, बल्कि विवेकानन्द केशवचन्द्र के प्रतिवाद — तीव्र प्रतिवाद हैं। केशवचन्द्र का अन्तिम परिवर्तित मत 'नव विधान' के रूप में प्रचारित हुआ था। उनके 'नव विधान' की सार्वभौमिकता एक उदार, कल्पनाप्रसूत वस्तुतंत्रहीन आदर्श है जो प्रत्येक विशेष सभ्यता के वैशिष्ट्य को उस सभ्यता के अंग से विच्छिन्न कर, अनेक सभ्यताओं की अनेक विशेषताओं का एक अभूतपूर्व, अद्भुत, असम्भव, अनैतिहासिक व समाजविज्ञान-विरोधी महामिलन है। इसी कारण हम कह सकते हैं कि संन्यासी विवेकानन्द केशवचन्द्र के प्रतिवाद हैं। केशवचन्द्र ईसाई धर्म की ओर जो अत्याधिक झुक गए थे, विवेकानन्द घात-प्रतिघात की प्रतिक्रिया के परिणाम में अद्वैत वेदान्त के शिखर पर खड़े होकर उसका प्रतिषेध करने के लिए बाध्य हुए थे। ईसाईपन का जो मोह केशव तथा केशवपन्थियों पर भूत की तरह सवार था, बंगाल के अंग्रेजी शिक्षित तरुण नर-नारियों को लेकर वे जिस ईसाईपन का ढाँचा गढ़ना चाहते थे और जैसी कहावत है, वे

शिवमूर्ति बनाते बनाते दैव-दुर्विपाक से एक अजीब जानवर बना बैठे,—विवेकानन्द ने उसी का प्रतिवाद किया था। उन्होंने ईसाईपन के मोह तथा पाश्चात्य भोगवादी सभ्यता के मोह से जाति को सचेत कर देने की आवश्यकता का अनुभव किया था। इस पाश्चात्य भोगवाद के विरुद्ध प्रतिवाद करने में ही उन्हें त्याग के कठिन मार्ग पर आचार्य शंकर के बाद निखिल विश्व में संन्यास का झण्डा फहराना पड़ा था, परन्तु पाश्चात्य देशों के जो शिव व शक्ति हैं उन दोनों का ही उन्होंने खुले हाथों स्वागत कर लिया था। अपने आदर्श पर दृढ़ पद से स्थिर रहते हुए विश्व को व विश्वजनीन को हृदय में, बाहु में व मस्तिष्क में धारण कर लिया था।

राममोहन का कर्मक्षेत्र अधिकतर विस्तृत था। उनके विलायत जाने के करीब चालीस वर्ष पश्चात् केशवचन्द्र विलायत गए थे और केशवचन्द्र के विलायत जाने के करीब २२ वर्ष बाद पाश्चात्य देशों में विवेकानन्द का वेदान्त-प्रचार प्रारम्भ हुआ। १८३०, १८७१, १८९३ ई०—इन सब विभिन्न स्मरणीय वर्षों के बीच में से यदि केवल इतिहासकार की दृष्टि से भी देखा जाय तो ज्ञात होगा कि बंगाल में १८३० ई० से १८९३ ई० के बीच आधुनिक धर्मचिन्ता के इतिहास में क्या परिवर्तन तथा क्या प्रतिक्रिया हुई है। इनमें से एक पर दूसरे का प्रभाव रहना अनिवार्य है, परन्तु इनमें जो स्वातंत्र्य है, वैशिष्ट्य है, उसे भला अन्धे के अतिरिक्त कौन अस्वीकृत करेगा? परन्तु खेद की बात है, सभी समाजों में अन्ध व्यक्ति हैं और रहते हैं।

न्यूयार्क के प्रश्नोत्तर क्लास में स्वामीजी धारा-प्रवाह रूप से ज्ञानयोग व राजयोग पर भाषण देने लगे। कमरा बहुत बड़ा न था, उत्सुक छात्र व छात्राओं के लिए स्थान का अभाव था। परन्तु फिर भी वे कष्ट सहते हुए भारतीय प्रथा के अनुसार पैर समेटकर अपने प्रिय आचार्य को

घेरकर बैठते थे। राजयोग के विषय पर उनके भाषणों को सुनकर कई लोगों का आग्रह इतना बढ़ गया कि उन्होंने स्वामीजी से योग की शिक्षा ग्रहण करना प्रारम्भ किया और इस विषय में सफल होने के लिए योगशास्त्र के निर्देशानुसार ब्रह्मचर्य, सात्विक आहार इत्यादि नियमों का भी श्रद्धा के साथ पालन करने लगे। इस समय स्वामीजी ने भी योगी की तरह शारीरिक कठोरता का अवलम्बन किया, क्योंकि वे सदैव ही शिष्यों के सामने एक जीते जागते आदर्श के रूप में विराजमान रहते थे। इस प्रकार उनका न्यूयार्क का छोटा सा निवासगृह संन्यासी व संयमियों की नवीन आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्ति की लगातार चेष्टा से मानो एक छोटा सा मठ ही बन गया।

स्वामीजी द्वारा राजयोग पर दिये गये भाषणों की ख्याति इतनी व्यापक बन गई कि जिस दिन राजयोग के सम्बन्ध में भाषण होने का कार्यक्रम रहता था उस दिन नगर के दार्शनिक, वैज्ञानिक व अध्यापकों के आगमन से उनका छोटा सा कमरा भर जाता था और वे लोग बड़ी लगन के साथ उनकी योगशास्त्र की युक्तिपूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या सुनते थे। इस प्रकार जून मास के अन्दर उनके भाषणों का संग्रह स्वरूप 'राज-योग' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। स्वामीजी ने उसके परिशिष्ट में पातञ्जल-दर्शन का एक विस्तृत व युक्तिपूर्ण भाष्य भी जोड़ दिया। इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तक ने उच्चतम मनःस्तत्व के सूक्ष्म व युक्तिपूर्ण विश्लेषण की दृष्टि से मनीषी पाठकों के समाज में चिरकाल के लिए प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। इस पुस्तक का अध्ययन कर अमेरिका के विश्व-विख्यात मनःस्तत्वविद् प्रोफेसर जेम्स महोदय इतने मुग्ध हुए थे कि वे स्वयं स्वामीजी के निवासस्थान पर जाकर उनसे परिचित हुए और अन्त में उनके एक अकपट मित्र बन गए। इस पुस्तक के प्रकाशित होने के कुछ ही सप्ताहों के बीच में उसके तीन संस्करणों की आवश्यकता हुई

थी। इसी से समझा जाता है, अमेरिकानिवासी विद्वानों ने स्वामीजी की अलौकिक प्रतिभा से उत्पन्न इस प्रथम पुस्तक की सादर अभ्यर्थना करने में कोर-कसर नहीं रखी थी।

इस बीच में स्वामीजी ने अनेक प्रतिष्ठित शिष्य तथा प्रचार-कार्य के लिए सभी तरह के सहायक मित्र प्राप्त कर लिए थे। उनमें से मैडम मेरी लुई (स्वामी अभयानन्द), डा० सैन्ट्सबर्ग (स्वामी कृपानन्द), मिसेज़ ओली बुल, डा० एलेन डी, मिस वाल्डो, प्रोफेसर वेमैन ओ राइट, डा० स्ट्रीट तथा अनेक ईसाई मिशनरी व साधारण शिक्षित एवं मान्य व्यक्ति स्वामीजी की शिक्षा में विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। कुछ दिनों के बाद विख्यात गायिका मैडम कैल्वे ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। न्यूयार्क के धनी समाज के श्रीमान व श्रीमती फ्रान्सिस लीगेट और मिस जे. मैकलिओड भी स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर विविध प्रकार से उनके प्रचार-कार्य में सहायता करने लगे। 'डिक्सन सोसाइटी' के सदस्यों ने स्वामीजी का भाषण सुनकर गम्भीर श्रद्धा के साथ हिन्दू आदर्श पर जीवन को गठित करने के लिए उत्साह के साथ कार्यारम्भ कर दिया।

१८९५ ई० में स्वामीजी को जैसा कठोर परिश्रम करना पड़ता था, उसके अनुमान करने से ही बड़ा विस्मय होता है। अपरिचित विदेश में बिल्कुल नए प्रकार के सामाजिक रीति नीति व आचार-व्यवहार के बीच तथा अनेक प्रकार की प्रतिकूल स्थिति के विरुद्ध त्यागपूत हिन्दू धर्म का प्रचार करना कितना कठिन है यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है। अमेरिका के घोर विलास के बीच उनकी अन्तरात्मा समय समय पर विद्रोही बन बैठती थी। उनकी अथक कर्म-शक्ति, प्रबल उत्साह, समय समय पर मानो रुक से जाते थे। उस समय कभी कभी आजन्म त्यागी संन्यासी गहरे क्षोभ के साथ अपने जीवन के विगत दिनों की याद करते हुए कह उठते थे,—

"I long — oh long for my rags, my shaven head, my sleep under the trees and my food from begging."

— अर्थात् "अरे! मैं अपने चिथड़े, मुण्डित मस्तक, वृक्षों तले निद्रा और भिक्षान्न के भोजन के लिए लालायित हूँ।"

लगातार उच्चतम दार्शनिक तत्वों का विश्लेषण करते हुए भाषण देने तथा शिक्षा-दान के कार्य से थककर स्वामीजी ने कुछ दिन एकान्त में विश्रामलाभ की आवश्यकता का अनुभव किया। सेन्ट लौरेन्स नदी के बीच 'सहस्र द्वीपोद्यान' (Thousand Island Park) नामक द्वीप में उनकी एक शिष्या की एक बड़ी सुन्दर कुटिया थी। उन्होंने विशेष आग्रह के साथ स्वामीजी से प्रार्थना की कि वे कृपया उसका उपयोग कर उसे पवित्र करें। स्वामीजी ने इस प्रस्ताव से सहमत होकर अपने कुछ अन्तरंग शिष्य व शिष्याओं के साथ उक्त स्थान की ओर यात्रा की। इस स्थान में सौभाग्य से जिन्हें स्वामीजी के पवित्र संग में निवास करने का अधिकार प्राप्त हुआ था उनमें से अन्यतम मिस एस. ई. वाल्डो ने लिखा है,—

"इस गन्धर्व-राज्य में हमने आचार्य देव के साथ सात सप्ताह दिव्य आनन्द से उनके अतीन्द्रिय राज्य के सन्देशों से युक्त अपूर्व वचनों को सुनने में व्यतीत किए थे — उस समय हम भी जगत् को भूल गए थे और जगत् भी हमें भूल गया था। इस समय प्रति दिन सायंकाल का भोजन समाप्त करके हम सभी ऊपर के बरामदे में जाकर आचार्य देव के आने की प्रतीक्षा करते थे। बहुत देर तक प्रतीक्षा न करनी पड़ती थी, क्योंकि हमारे समवेत होने के साथ ही उनके कमरे का दरवाजा खुल जाता था और वे धीरे धीरे बाहर आकर अपने नियत आसन पर बैठ जाते थे। वे प्रति दिन हमारे साथ दो घण्टे और कभी कभी इससे भी अधिक समय बिताया करते थे। एक अपूर्व सुन्दर रात्रि में (उस दिन निशानाथ प्रायः पूर्णावयव थे) बात करते करते चन्द्रास्त हो गया। जिस

प्रकार हम समय बीत जाने के बारे में कुछ न जान सके, स्वामीजी भी उसी प्रकार न जान सके थे। उन सब वार्तालापों को लिख देना सम्भव नहीं हुआ,—पर हाँ, वे केवल श्रोताओं के हृदय में ही ग्रथित होकर रह गए हैं। इन सब दिव्य अवसरों में हम जिस गम्भीर धर्म की अनुभूतियाँ प्राप्त करते थे उन्हें हममें से कोई भूल न सकेगा। उन अवसरों पर स्वामीजी अपने हृदय का द्वार खोल दिया करते थे। धर्म प्राप्त करने के लिए उन्हें जिन विघ्न-बाधाओं को लँघना पड़ा था वे मानो फिर से हमारे नेत्रों के सामने प्रकट होते थे, मानो उनके गुरुदेव ही सूक्ष्म शरीर में उनके मुख के अवलम्बन से हमसे बात करते थे, हमारे सभी सन्देह मिटा देते थे, सभी प्रश्नों का उत्तर देते थे और सभी भय दूर कर देते थे। बहुधा मानो स्वामीजी हमारी उपस्थिति ही भूल जाते थे। कहीं हम उनके चिन्ता-प्रवाह में बाधा न डालें इस भय से कभी कभी हम साँस तक रोके रहते थे। वे आसन से उठकर बरामदे की संकीर्ण सीमा के बीच में टहलते हुए घूम घूम कर लगातार बोलते जाते थे। ऐसे अवसरों पर उनकी कोमल प्रकृति जैसी स्पष्ट होती थी, तथा जिस प्रकार वे सभी का प्रेम आकर्षित करते थे वैसा और कभी नहीं होता था। उनके गुरुदेव जिस प्रकार अपने शिष्यों को शिक्षा देते थे, सम्भव है यह बहुत कुछ उसी तरह का था—वे स्वयं ही अपनी आत्मा के साथ भाव विभोर होकर बात करते जाते थे और शिष्यगण सुनते जाते थे।

"स्वामी विवेकानन्द जैसे व्यक्ति के साथ निवास करना ही लगातार उच्च अनुभूतियों को प्राप्त करना है। प्रातःकाल से रात्रि तक वही एक भाव—हम एक घनीभूत धर्मभाव के राज्य में निवास करते थे।

"स्वामीजी यद्यपि क्रीड़ाशील व कौतुकप्रिय थे और उल्लास के साथ परिहास करने में व बात का तुरन्त जवाब देने में अभ्यस्त थे तो भी कभी एक मुहूर्त के लिए भी वे अपने जीवन में मूल मंत्र से लक्ष्यभ्रष्ट

न होते थे। प्रत्येक चीज़ से ही वे कुछ न कुछ बोलने का या उदाहरण देने का विषय पा लेते थे और एक क्षण में ही वे हमें आकर्षक हिन्दू पौराणिक कथाओं से एकदम गम्भीर दर्शन के बीच में ले जाते थे। स्वामीजी पौराणिक कथाओं का अशेष भण्डार थे और वास्तव में प्राचीन आर्यों से बढ़कर अन्य किसी भी जाति में इतनी अधिक पौराणिक कथाएँ नहीं हैं। वे हमें उन कहानियों को सुनाकर प्रसन्न होते थे और हम भी सुनना चाहते थे, क्योंकि वे कभी उन कहानियों की आड़ में जो सत्य निहित है उसे दिखा देना तथा उनमें से मूल्यवान धर्मविषयक उपदेशों का आविष्कार करना न भूलते थे। किसी भाग्यवान छात्र-मण्डली ने इस प्रकार प्रतिभाशाली आचार्य को प्राप्त कर अपने को धन्य मानने का ऐसा अवसर पाया था या नहीं इसमें सन्देह है।"*

मिस. एम. सी. फ्रान्की ने इस प्रसंग में लिखा है,—

"मन ही मन दृढ़ सकल्प था कि किसी समय कहीं भी उनके साथ साक्षात्कार अवश्य ही करूँगी, यदि हमें इसके लिए सारी पृथ्वी लाँघनी पड़े तो वह भी स्वीकार है। करीब दो वर्ष तक हमें उनका पता नहीं लगा और हमने सोचा कि शायद वे भारत लौट गए हों। परन्तु एक दिन तीसरे प्रहर एक मित्र ने हमें सूचित किया कि वे अभी इस देश में ही हैं और ग्रीष्म का अवकाश 'सहस्र द्वीपोद्यान' में बिता रहे हैं। उन्हें ढूँढ़ निकालकर उनसे शिक्षा प्राप्त करने के दृढ़ संकल्प को लेकर हमने दूसरे ही दिन प्रातःकाल यात्रा की।

"अन्त में बड़ी खोज के बाद हमारा उनसे साक्षात्कार हुआ। वे जनकोलाहल से दूर आकर निवास कर रहे थे, ऐसी स्थिति में उनकी शान्ति को भंग करने का हमने दुःसाहस किया है, यह सोचकर हम बड़ी ही भयभीत हुईं। परन्तु उन्होंने हमारे प्राणों में एक ऐसी आग

---

* देववाणी — स्वामी विवेकानन्द, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित

जला दी थी जो बुझने वाली न थी। इस अद्भुत व्यक्ति व उनके उपदेश के सम्बन्ध में हमें और भी जानना होगा। उस दिन अन्धकारमय रात्रि थी। मूसलाधार वर्षा हो रही थी। परन्तु फिर भी हम उस लम्बे पथ पर चले ही जा रहे थे, उनका साक्षात्कार हुए बिना हमारे मन में शान्ति कहाँ!

"क्या वे हमें शिष्य के रूप में ग्रहण कर लेंगे? और कहीं यदि न करें तो फिर हम क्या करेंगे? हमें एकाएक यह ध्यान आया कि एक व्यक्ति, जो हमारे अस्तित्व तक को नहीं जानता है, उसे देखने के लिए हमारा कई सौ कोस चलकर आना सम्भवतः मूर्खता का कार्य हुआ है। * * * बाद में इस घटना के प्रसंग में आचार्य देव हमारे बारे में कहा करते थे, "मेरे दो शिष्य सैकड़ों कोस लाँघकर मुझसे मिलने आए थे और इतना ही नहीं, रात की आँधी व वर्षा सिर पर उठाकर।' मैंने अपने मन में पहले से ही यह सोच रखा था कि मिलने पर उनसे क्या कहूँगी, परन्तु जब वास्तव में उनका साक्षात्कार हुआ तो उस समय हम अपने सप्रयत्न तैयार किए हुए उस भाषण को भूल गए और हममें से एक व्यक्ति किसी तरह बोल उठा, 'हम डिट्राइट से आ रहे हैं और मिसेज़ * * ने हमें आपके पास भेजा है।' एक अन्य व्यक्ति ने कहा, 'यदि इस समय भगवान इस पृथ्वी पर मौजूद होते तो हम उनके पास जिस रूप में जाते व उपदेश की भिक्षा माँगते उसी रूप में आपके पास आए हैं।' वे हमारी ओर अत्यन्त स्नेहभरी आँखों से देखते हुए मृदु स्वर से बोले, 'केवल यदि भगवान ईसा की तरह मुझमें तुम्हें इसी क्षण मुक्त कर देने की शक्ति होती!...' हम वहाँ पर बारह व्यक्ति थे और ऐसा लगता था, मानो उस ज्वालामयी शक्ति (Pentecostal Fire) ने उतरकर प्राचीन काल के ईसा के शिष्यों की तरह आचार्य देव को भी स्पर्श किया है। एक दिन तीसरे प्रहर त्याग की महिमा के प्रसंग में गैरिक वस्त्रधारी यतियों के आनन्द व स्वाधीनता का वर्णन करते हुए एकाएक वे उठ गए और थोड़े

ही समय के बाद त्याग व वैराग्य की चरम सीमा रूपी 'संन्यासी का गीत' (Song of the Sannyasin) शीर्षक कविता को उन्होंने लिख डाला। मैं समझती हूँ उनकी असीम धीरता व कोमलता ने ही मुझे उस समय सब से अधिक मुग्ध किया था। पिता अपनी सन्तान को जिस दृष्टि से देखते हैं वे भी हमें उसी दृष्टि से देखते थे — यद्यपि हममें से अनेक व्यक्ति उनसे उम्र में काफी बड़े थे। प्रातःकाल की क्लास के वार्तालाप को सुनकर समय समय पर हमें ऐसा लगता था, मानो उन्होंने हथेली पर रक्खे हुए आँवले की तरह ब्रह्म को प्रत्यक्ष कर लिया है। ऐसे समय पर वे बहुधा उस कमरे से बाहर निकल जाते थे और थोड़ी ही देर के बाद लौटकर कहते थे, — 'मैं अब आप लोगों के लिए रसोई बनाने जा रहा हूँ।' फिर कितनी धीरता के साथ वे चूल्हे के पास खड़े होकर हमारे लिए कुछ न कुछ भारतीय भोजन तैयार करते थे। डिट्राइट में अन्तिम बार भी उन्होंने हमारे लिए बड़ा ही स्वादिष्ट व्यंजन तैयार किया था। प्रतिभाशाली पण्डिताग्रगण्य विश्वविख्यात विवेकानन्द शिष्यों के छोटे छोटे अभावों की पूर्ति अपने हाथों से कर दिया करते थे — शिष्यों के लिए क्या ही अपूर्व उदाहरण है! वैसे समय पर वे कितने कोमल, कैसे करुणस्वभाव बन जाते थे! और आज वह कोमलतामय पुण्य-स्मृति ही तो हमें उत्तराधिकार के रूप में दे गए हैं!" *

* * * *

बहुत दिनों के बाद स्वामीजी नगरी के कोलाहल, प्रतिद्वन्द्वियों के संघर्ष, व्याख्यान आदि के पंजे से छुटकारा पाकर निश्चिन्त होकर विश्राम कर सके। 'सहस्र द्वीपोद्यान' में आने से पूर्व उन्हें 'ग्रीन एकर कान्फरन्स' में भाषण देने के लिए बुलाया गया था, परन्तु उसे अस्वीकृत करने के लिए वे बाध्य हुए थे। विद्वान दार्शनिकों के सम्मुख भाषण देने के अतिरिक्त भावी वेदान्तप्रचार-कार्य के सहयोगी के रूप में कुछ शिष्य गठित करना ही उन्होंने

---

* देववाणी (Inspired Talks)

अधिक आवश्यक समझा था। लगातार सात सप्ताहों तक उन्होंने जो अमूल्य उपदेश दिए थे, उसका कुछ अंश किसी एक शिष्या ने लिपिबद्ध कर लिया था। बाद में वह ('Inspired Talks') नाम से पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ। 'देववाणी' पुस्तक उसी का अनुवाद है। अस्तु, इसी स्थान में स्वामीजी ने पाँच व्यक्तियों को ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी और दो को संन्यास प्रदान किया। अन्त में फिर से नवीन उत्साह के साथ न्यूयार्क में लौटकर वे वेदान्त-प्रचार के कार्य में संलग्न हुए।

न्यूयार्क में लौटकर ही आचार्य देव इंग्लैण्ड जाने के लिए तैयार हुए। मई मास में स्वामीजी वेदान्त की अनुरागिणी मिस हेनरीएटा मुलर द्वारा इंग्लैण्ड बुलाए गए थे। अन्त में मि० इ. टी. स्टर्डी महोदय स्वामीजी को लन्दन आने के लिए बार बार पत्र लिखने लगे। इस बीच में स्वामीजी के एक मित्र ने जो न्यूयार्क के एक धनकुबेर थे जब स्वयं स्वामीजी को साथ लेकर फ्रान्स व इंग्लैण्ड जाने का प्रस्ताव उपस्थित किया तो स्वामीजी ने सहर्ष अपनी सम्मति दे दी। लगातार दो वर्षों के अविश्रान्त शारीरिक व मानसिक परिश्रम के बाद समुद्र-यात्रा से उनके स्वास्थ्य की उन्नति होगी, इस आशा से गुरुगतप्राण शिष्यों ने भी कोई आपत्ति न की। अन्त में प्रचार-कार्य का भार स्वामी अभयानन्द, कृपानन्द तथा भगिनी हरिदासी पर छोड़ स्वामीजी अगस्त मास के बीच में न्यूयार्क से चलकर फ्रान्स के पैरिस नगर में पधारे। आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की जन्मभूमि पैरिस नगर के ऐतिहासिक द्रष्टव्य स्थानों का दर्शन कर स्वामीजी इंग्लैण्ड की ओर रवाना हुए।

अमेरिका छोड़ने के पूर्व स्वामीजी को यह समाचार मिला कि भारतीय मिशनरियों द्वारा संचालित किसी समाचार-पत्र में उनकी निन्दा का प्रचार किया जा रहा है, उनके आहार आदि के सम्बन्ध में कुछ बातें सुनकर कई हिन्दू व्यक्ति भी उनके विरोधी बन गए हैं और उनके आचार-व्यवहार आदि का निन्दनीय विवरण देकर छोटी छोटी पुस्तकें तथा हैण्डबिल आदि बाँटने

लगे हैं। रक्षणशील हिन्दू सम्प्रदाय का मुखपत्र 'वंगवासी' समाचार-पत्र इसी समय से विवेकानन्द के निन्दा-प्रचार को अन्यतम व्रत के रूप में धारण कर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुआ था। ईसाई मिशनरियों को क्रोधित होना अवश्य स्वाभाविक था, क्योंकि स्वामीजी ईसाइयों को हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धावान — यहाँ तक कि कई ईसाइयों को हिन्दू भी बना रहे थे; — विशेषतः उनके स्वार्थ की दृष्टि से स्वामीजी यथेष्ट क्षति कर रहे थे। मिशनरी यूरोप व अमेरिका में जाकर नरमांसभोजी, असभ्य, जंगली, बर्बर 'हिदनों' के पैशाचिक आचार-व्यवहारों का वर्णन कर उन्हें 'अन्धकार से आलोक में लाने के लिए' धनी व महान् व्यक्तियों से खूब पैसा पैदा करते हैं! परन्तु विवेकानन्द के व्याख्यानों से अनेक लोगों के मन में मिशनरी द्वारा कथित कहानियों में अविश्वास उत्पन्न हो गया था। कहीं वे आगे हिदनों को प्रभु ईसा के स्वर्गराज्य में लाने के लिए अर्थ की सहायता न करें, इस भय से मिशनरीगण चंचल हो उठेंगे और विवेकानन्द की निन्दा का प्रचार करेंगे, यह स्वाभाविक ही था। यद्यपि वराहनगर के मठ में रहने वाले उनके गुरु-भाइयों ने इन सब कहानियों पर विश्वास नहीं किया, तथापि उनके मद्रासी तथा अन्य भारतीय शिष्यगण लगातार गुरुनिन्दा सुनकर विचलित हो उठे। दो वर्षों तक कापुरुष निन्दकों द्वारा नीचतापूर्वक आक्रान्त होकर भी स्वामीजी ने प्रकट रूप में कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। पर अब शिष्यों के मनोभाव को जानकर पैरिस से इंग्लैण्ड-यात्रा के पूर्व उन्होंने उनके पास एक पत्र लिखने की आवश्यकता समझी, क्योंकि कोई कोई मिशनरी उन्हें राजनीतिक व्याख्याता मात्र कहकर प्रचार कर रहे थे।

त्याग व वैराग्य की महिमा का वर्णन करते हुए स्वामीजी कभी कभी भाव के आवेग में आकर पाश्चात्य सभ्यता की विलासतृष्णा, परधनलोलुपता तथा स्वार्थपर आन्तर-राष्ट्रीय कानूनों पर तीव्र भाव से आक्रमण किया करते थे; इन्हीं सब व्याख्यानों के अंशविशेषों का उद्धरण देकर मिशनरी लोग उन्हें

केवल राजनीतिक वक्ता प्रमाणित करने की चेष्टा करने लगे। कलकत्ते की एक जनसभा में रे० कालीमोहन बैनर्जी ने उन्हें राजनीतिक वक्ता कहा था, जिसका प्रतिवाद करने के लिए स्वामीजी ने अपने शिष्यों को आदेश दिया था और उक्त महोदय को समाचार-पत्र में अपना मत समर्थन करने के लिए आह्वान देने को कहा था। कई कारणों से स्वामीजी ने शिष्यवृन्द को सान्त्वना देने के लिए लिखा,—

"मुझे आश्चर्य हो रहा है कि तुम लोग मिशनरियों द्वारा प्रचारित बेवकूफियों को सुनकर विचलित हुए हो। यदि कोई हिन्दू मुझे कट्टर हिन्दू की तरह खाद्यप्रणाली अवलम्बन करने के लिए अयाचित परामर्श देते हों तो उन्हें कहो कि वे एक ब्राह्मण रसोइया और उसके साथ कुछ धन भेज दें! एक पैसे की सहायता करने की शक्ति नहीं—परन्तु विज्ञ व्यक्ति की तरह उपदेश देने की खूब योग्यता है, यह देखकर मैं हँसी रोक नहीं सकता। दूसरी ओर, यदि मिशनरीगण ऐसा कहते हैं कि मैंने 'काम-कांचन' के त्याग रूपी संन्यास-जीवन के महान् व्रत का भंग किया है तो उनसे कह दो कि वे घोर मिथ्यावादी हैं। * * * * स्मरण रखो, मैं किसी के निर्देश पर चलने को तैयार नहीं हूँ। मेरे जीवन का उद्देश्य मैं भलीभाँति जानता हूँ। किसी प्रकार का हल्ला गुल्ला तथा निन्दा आदि की मैं परवाह नहीं करता। क्या मैं किसी व्यक्तिविशेष या जातिविशेष का क्रीत दास हूँ? * * * * क्या तुम कहना चाहते हो कि मैंने कुसंस्काराच्छन्न, निष्ठुरप्रकृति, दुर्बलचित्त, नास्तिकभावापन्न तथाकथित शिक्षित व्यक्तियों के बीच में निवास करने के लिए जन्म ग्रहण किया है? मैं सभी प्रकार की कापुरुषता से घृणा करता हूँ। उन सब कापुरुषों व राजनीतिक मूर्खता के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर और सत्य ही मेरी एक मात्र राजनीति है।—बाकी जो कुछ है, केवल कूड़ाकर्कट है।"

युग-प्रयोजन से अवतीर्ण महापुरुषगण सत्य व लोकाचार के साथ मेल

रखकर शान्त, सभ्य व सदाचारी सजकर समाज में चलने, फिरने के लिए पैदा नहीं होते। उन्हें साधारणों के साथ समान स्तर में घसीटकर उतार लाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के लिए जो महाशक्ति विवेकानन्द में घनीभूत हुई थी, पृथ्वी को प्लावित कर देने वाले उसके प्रवाह को रोकने के लिए कुछ मेरुदण्डविहीन ब्राह्म प्रचारकों के, जो प्रतिद्वन्द्वी के रूप में रास्ता रोकने के लिए अग्रसर हुए थे, नगण्य प्रयास का उल्लेख न करना ही अच्छा है !

भारतवर्ष इंग्लैण्ड के आधीन है। प्रभुत्व के अहंकार में फूले हुए साम्राज्यगर्वी अंग्रेज अर्ध-बर्बर पराधीन जाति के एक धर्म-प्रचारक, संन्यासी को किस भाव से ग्रहण करेंगे, यही सोचते सोचते स्वामीजी दुविधा सहित लन्दन पहुँचे। स्वदेशाभिमानी विवेकानन्द के चित्त में अंग्रेज जाति के प्रति प्रतिकूल धारणा रहना स्वाभाविक है। भारत में अंग्रेज शासक व वणिकगण भारतवासीयों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया करते हैं, उससे उक्त प्रकार की धारणा उत्पन्न होना स्वाभाविक है, परन्तु थोड़े ही दिनों में वह धारणा दूर हुई। इंग्लैण्ड के शिक्षित व उच्चवंशी मध्यश्रेणी व साधारण श्रेणी के अंग्रेजों के साथ घनिष्ठ भाव से परिचित होकर उन्होंने अंग्रेज चरित्र के महत्व का आविष्कार किया। "अंग्रेज जाति के प्रति मुझसे अधिक घृणा के भाव लेकर और किसी व्यक्ति ने ब्रिटिश भूमि पर पदार्पण नहीं किया है, * * * पर आज यहाँ पर ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो अंग्रेज जाति को मुझसे अधिक चाहता हो।" अंग्रेज-चरित्र की क्षात्रियोचित शूरता तथा आत्म-संयम, उसका निर्भीक उद्यम, अध्यवसाय, लघुभावावेगहीन गाम्भीर्य की स्वामीजी ने बहुत ही प्रशंसा की है। व्यक्तिस्वाधीनता को अक्षुण्ण रखते हुए भी इंग्लैण्ड की नियमानुवर्तिता, तीव्र आत्मसम्मान ज्ञान के साथ ही विनीत आनुगत्य को देख वे मुग्ध हुए थे। अंग्रेज सहज में किसी भाव में विगलित नहीं हो पड़ते, परन्तु जिसे वे एक बार सत्य जान लेते हैं, उस पर फिर प्राण-

पण से डटे भी रहते हैं। इंग्लैण्ड ने स्वामीजी को अमेरिका से भी अधिक आकृष्ट किया।

"Cyclonic Hindoo" ने (आचार्य देव जहाँ भी जाते थे वहीं जनसाधारण के बीच तुमुल आन्दोलन उपस्थित हो जाता था, इसलिए पाश्चात्य-निवासियों ने उन्हें 'आँधी पैदा करने वाला हिन्दू' नाम दिया था) लन्दन को भी विक्षुब्ध कर दिया। प्रतिदिन प्रातःकाल प्रश्नोत्तर तथा तीसरे प्रहर भाषणों द्वारा स्वामीजी का प्रचारकार्य चलने लगा। न्यूयार्क की तरह लन्दन में भी स्वामीजी को घेरकर जनता की भीड़ उमड़ने लगी। स्वामीजी उत्साह के साथ ब्रिटिश साम्राज्य की केन्द्रभूमि में भारत के सन्देश का प्रचार करने लगे। उनका विश्वास था, "अनेक दोष-त्रुटियों के होने के बावजूद भी ब्रिटिश साम्राज्य की तरह भाव-प्रचार का यंत्र इससे पूर्व और कोई नहीं हुआ। इस यंत्र के केन्द्र में मैं अपनी भावधारा को डाल देना चाहता हूँ, तभी वह सारे संसार में फैल जाएगी। * * * * आध्यात्मिक आदर्श निपीड़ित जातियों (यहूदी व ग्रीक) से ही आया है।"

एक दिन स्वामीजी ने 'पिकैडली प्रिन्सेस हॉल' में हजार से अधिक श्रोताओं के सम्मुख आत्मज्ञान के विषय पर गम्भीर दार्शनिक तत्वों से पूर्ण एक भाषण दिया। पाश्चात्यों के बहिर्मुख दर्शन, विज्ञान तथा समाज-जीवन की युक्तिपूर्ण समालोचना की ओर समाचार-पत्रों तथा विद्वद्वृन्द की दृष्टि आकृष्ट हुई। उनकी भाषणपटुता तथा पाण्डित्य से मुग्ध होकर अनेक शिक्षित स्त्री तथा पुरुषों के दल के दल उनका उपदेश सुनने के लिए आने लगे। उनका पूर्वोक्त भाषण इतना उच्च कोटि का था कि दूसरे दिन प्रमुख समाचार-पत्रों में उसका विस्तारित विवरण व समालोचना प्रकाशित हुई थी। 'दि स्टैण्डर्ड' पत्रिका ने लिखा था,—

"राममोहन के बाद एक मात्र केशवचन्द्र को छोड़कर प्रिन्सेस हॉल में इस हिन्दू वक्ता की तरह और कोई भी शक्तिशाली भारतीय व्यक्ति इंग्लैण्ड

के व्याख्यान-मञ्च पर अवतीर्ण नहीं हुआ। * * * व्याख्यान के सिलसिले में उन्होंने हमारे कारखाने, इंजिन, वैज्ञानिक आविष्कार तथा पुस्तकों द्वारा मनुष्य जाति का सचमुच कितना कल्याण हुआ है, इसकी बुद्ध व ईसा मसीह की कुछ वाणियों के साथ तुलना करते हुए अत्यन्त निर्भीक भाव से तीव्र व उपेक्षापूर्ण आलोचना की। व्याख्यान देते समय उन्होंने कागज पर लिखे हुए किसी प्रकार के स्मरण-संकेत की सहायता नहीं ली, उनका सुन्दर कण्ठ-स्वर स्पष्ट तथा द्विधाहीन था।"

'दि लण्डन डेली क्रानिकल' ने लिखा है,—"लोकप्रिय हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द के अंग-प्रत्यंगों में बुद्ध देव के चिरपरिचित मुख (The classic face of Buddha) का सादृश्य अत्यन्त स्पष्ट है। वाणिज्य द्वारा प्राप्त हमारी समृद्धि, हमारे रक्तपिपासापूर्ण युद्ध तथा धर्ममत आदि के विषय में हमारी असहिष्णुता की तीव्र समालोचना कर उन्होंने कहा, 'इस मूल्य में बेचारे हिन्दूगण तुम्हारी खोखली, आडम्बरपूर्ण सभ्यता के अनुरागी न बनेंगे।"

इसके अतिरिक्त 'वेस्ट मिन्स्टर गजट' नामक विख्यात पत्रिका के एक प्रतिनिधि ने स्वामीजी के साथ साक्षात्कार करके इस पत्रिका में 'लन्दन में भारतीय योगी' शीर्षक स्वामीजी के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों से पूर्ण एक लेख लिखा था। उक्त प्रतिनिधि के साथ वार्तालाप के सिलसिले में स्वामीजी ने कहा था कि उनके गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस देव से उन्हें जो सन्देश प्राप्त हुआ है, जगत् में उसका प्रचार करना ही उनका उद्देश्य है—किसी नवीन सम्प्रदाय की स्थापना करना उनका अभिप्राय नहीं है, किसी विशेष धर्ममत के भी वे प्रचारक नहीं हैं। उनका विश्वास है कि वेदान्त के उदार ज्ञान को सभी धर्मसम्प्रदाय अपनी अपनी धर्मसम्बन्धी स्वतंत्रता को कायम रखते हुए भी ग्रहण कर सकते हैं।

उन्होंने बार बार कहा है, यदि द्रुत उन्नतिशील तथा आपातमनो-

रम पाश्चात्य सभ्यता को वेदान्त के त्याग, विवेक व वैराग्य की नींव पर प्रतिष्ठित न किया जाएगा तो उसका नाश अवश्यम्भावी है। सम्भव है, अपनी गम्भीर दूर दृष्टि के बल से भावी शताब्दी के भयावह ध्वंस का विकराल दृश्य देखते हुए ही आचार्य देव ने दृढ़ता के साथ कहा था, "सावधान! मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ, सारा पाश्चात्य जगत् एक ज्वालामुखी पर स्थापित है। वह किसी भी समय पर आग उगल-कर पाश्चात्य जगत् का ध्वंस कर सकता है। अभी भी यदि तुम सावधान न हो जाओगे, तो आगामी पचास वर्षों में तुम्हारा नाश अवश्यम्भावी है।"

लगभग एक महीने के अवसर में ही स्वामीजी ने लन्दन में यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर ली थी। इस समय एक भाषण-सभा में मिस मार्गारेट इ. नोबल (सिस्टर निवेदिता) का स्वामीजी के साथ परिचय हुआ। यह असाधारण विदुषी महिला एक स्कूल की अध्यापिका थीं और आस-पास के विद्वत्समाज में उनकी यथेष्ट ख्याति व प्रतिष्ठा थी। मिस नोबल ने स्वामीजी के प्रति यथेष्ट श्रद्धा रखते हुए भी सहसा उन्हें आचार्य कहकर सम्बोधित नहीं किया था। प्रतिदिन वह स्वामीजी के भाषण व प्रश्नोत्तर कक्षाओं में नियमित रूप से आती थीं। स्वामीजी के पवित्र निःस्वार्थ चरित्र की मधुरता से मुग्ध होकर अन्त में मिस नोबल ने उनका शिष्यत्व ग्रहण करने का संकल्प किया; परन्तु अपने मनोभाव को प्रकट न करती हुई वह चुपचाप इस अद्भुतकर्मा संन्यासी का विविध प्रकार से पर्य-वेक्षण करने लगीं।

स्वामीजी ने अमेरिका की तरह इंग्लैण्ड में भी प्रचारकार्य में यथेष्ट सफलता प्राप्त की थी। इंग्लैण्ड छोड़कर अमेरिका जाने से पूर्व उन्होंने अपने एक शिष्य को लिखा था, इंग्लैण्ड में मेरे प्रचारकार्य को आशातीत प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। और यह सुनकर कि अगले सप्ताह में मैं फिर अमेरिका

जाऊँगा, कई व्यक्ति बड़े दुःखी हुए हैं। कई लोग तो इस प्रकार की आशंका प्रकट कर रहे हैं कि मेरे चले जाते ही जो कार्य हुआ है उसका परिणाम अनेकांश में नष्ट हो जाएगा, परन्तु मैं ऐसा नहीं समझता। मैं मनुष्य या किसी चीज़ पर निर्भर नहीं रहता,—प्रभु ही मेरी एकमात्र शरण हैं। वे ही मुझे यंत्र बनाकर कर्म करा रहे हैं।"

१८ जनवरी सन् १८९६ को 'इण्डिअन मिरर' नामक पत्रिका ने स्वामीजी के प्रचार-कार्य के सम्बन्ध में लिखा था,—"हमें यह लिखते हुए बड़ा आनन्द होता है कि स्वामी विवेकानन्द ने लन्दन के अनेक विशिष्ट भद्रपुरुष व महिलाओं की दृष्टि आकर्षित की है। उनकी हिन्दू दर्शन व योग सम्बन्धी कक्षाओं में अनेक उत्साही व श्रद्धायुक्त श्रोतागण उपस्थित होते हैं। लन्दन के किसी संवाददाता ने लिखा है,—'लन्दन नगर की कुछ ऐश्वर्यशालिनी, विलासिनी, उच्च घरानों की महिलाएँ, कुर्सियों के अभाव में फर्श पर पैर मोड़कर बैठ, गुरुभक्त भारतीय शिष्यों की तरह भक्ति के साथ स्वामीजी का उपदेश सुन रही हैं—यह वास्तव में ही विरले दृश्य हैं।' हमने सुना है, कैनन्‌स, विल्वर फोर्स, हेज़ आदि विशिष्ट धर्मप्रचारकों ने भी उन्हें बड़े सम्मान के साथ ग्रहण किया है। प्रथमोक्त महोदय के निवास-स्थान पर स्वामीजी के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए एक पारिवारिक सभा बुलाई गई थी, जिसमें लन्दन के अनेक प्रतिष्ठित भद्रमहोदय व महिलाएँ उपस्थित थीं। * * * लन्दन के इन्हीं संवाददाता ने और भी सूचित किया है कि 'स्वामीजी ने अंग्रेजी भाषी जनता के हृदय में भारतवर्ष के प्रति जिस प्रेम व सहानुभूति को जाग्रत किया है वह अवश्य ही भारतवर्ष की उन्नति की सहायक शक्तियों में शीर्षस्थान प्राप्त करेगी।"

जब स्वामीजी इंग्लैण्ड में अपने प्रचार-कार्य में व्यस्त थे तभी उनके पास अमेरिका से बार बार शिष्यों तथा भक्तों के, लौटने के लिए अनु-

रोध-पत्र आने लगे। अमेरिका में प्रचार-कार्य के विस्तार के कारण सभी उनकी शीघ्र उपस्थिति की कामना करने लगे। इधर उनके मित्र तथा शिष्यगण लन्दन में ही रह जाने के लिए उनसे अनुरोध करने लगे। अतएव ग्रीष्म काल में फिर लन्दन लौट आने का आश्वासन देकर उन्होंने अमेरिका जाना ही उचित समझा। इस बीच में बोस्टन की एक धनी महिला ने स्वामीजी के प्रचार-कार्य का सारा व्यय स्वयं उठाने का वचन देकर उन्हें एक पत्र लिखा जिसे प्रभु की ही लीला मानकर स्वामीजी अमेरिका जाने के लिए तैयार हुए। इंग्लैण्ड की शिष्य-मण्डली को एक समिति का रूप देकर उन्हें श्री भगवद्गीता तथा दूसरे हिन्दू शास्त्रों की नियमित चर्चा करने का उपदेश उन्होंने दे दिया।

लगभग तीन महीने के अवसर में ही स्वामीजी ने लन्दन में जो प्रतिष्ठा प्राप्त की थी वह केवल उनकी अपूर्व भाषणशक्ति के बल पर ही न थी, वरन् वह इसीलिए सम्भव हो सकी थी कि उनका असाधारण कर्म-जीवन, वाणी व कर्म में सामञ्जस्य, चरित्रगत निर्मल संमोहिनी शक्ति सभी व्यक्तियों को आकृष्ट कर लेती थी। चिन्ताशील जिस किसी व्यक्ति ने थोड़े से भी समय के लिए उनके साथ वार्तालाप किया है, उसे चिन्तन करने योग्य कितने ही नवीन तत्व, नवीन नीति तथा नवीन आदर्श प्राप्त हुए, इसकी सीमा संख्या नहीं है। प्रत्येक जिज्ञासु ने श्रद्धामुग्ध हृदय से यही अनुभव किया है कि ईश्वर के दूत के रूप में यह महापुरुष दुर्बल व संकीर्ण चित वाले मानव की कल्याण-कामना से एक उदार धर्म का सन्देश लाए हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध वक्ता मि० राबर्ट इंगरसोल जैसे स्वातंत्र्य-परायण व्यक्ति भी स्वामीजी के विश्वस्त मित्र बन गए थे—इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि उनके व्यक्तिगत चरित्र का कैसा असाधारण प्रभाव था।

दर्शन व साहित्य में प्रवीण होते हुए भी मि० इंगरसोल सन्देहवादी

व भोगवादी थे। धर्म, ईश्वर, उपासना आदि विषयों की वे सदैव ही उपहास के साथ उपेक्षा करते थे—परन्तु वे इतने लोकप्रिय वक्ता थे कि एक मात्र भाषण देकर ही लाखों रुपये कमा लेते थे। उधर दूसरी ओर स्वामी विवेकानन्द कठोर संयमी संन्यासी, प्रत्येक धर्म के समर्थक, वेदान्त-दर्शन के प्रचारक थे। इन दोनों में मेल-मिलाप वास्तव में आश्चर्यजनक था। एक दिन किसी दार्शनिक तत्व की चर्चा करते करते इंगरसोल बोल उठे, "यह जगत् एक सन्तरे की तरह है, जितना हो सके इसे निचोड़कर इसका रस पीना चाहिए! जब इस बात का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हो रहा है कि परलोक नाम का कुछ है भी, तो इस जीवन को भी एक झूठी आशा के आधार पर सांसारिक सुख से वंचित रखने में क्या लाभ है! कौन जाने कब मौत होगी,—अतः जहाँ तक सम्भव हो तत्परता के साथ इस जगत् का उपभोग करना चाहिए!"

स्वामीजी ने मृदु हास्य के साथ उसी समय उत्तर दिया, "परन्तु जगत्रूपी सन्तरे का रस निकालने का उपाय मैं तुमसे अधिक अच्छी तरह जानता हूँ और इसलिए तुमसे अधिक रस पाता हूँ! मैं जानता हूँ मेरी मृत्यु नहीं है। अतः तुम्हारी तरह मेरी जल्दबाजी नहीं है। मुझे जगत् से किसी प्रकार के भय का कोई कारण नहीं है, स्त्री-पुत्र, परिवार, सम्पत्ति आदि का कोई बन्धन नहीं है,—मेरी दृष्टि में जगत् के सभी स्त्री-पुरुष समान रूप से प्रेम के पात्र हैं,—सभी मेरी दृष्टि में ईश्वरस्वरूप हैं। सोचो तो, मनुष्य को भगवान-रूप देखकर मुझे कितना आनन्द होता है! मैं निश्चिन्त होकर रस पान कर रहा हूँ। तुम भी मेरी प्रणाली के अनुसार इस जगत्रूपी सन्तरे को निचोड़ना प्रारम्भ कर दो—तब देखोगे हजार गुना अधिक रस मिलेगा। एक बूँद भी बाकी न रहेगा।" स्वामीजी के इस प्रकार के स्पष्ट, सरल परन्तु स्नेहपूर्ण उत्तरों ने ही इंगरसोल के दृढ़ हृदय पर विजय प्राप्त कर ली थी। मतों की विभिन्नता के बावजूद भी उस समय

के अमेरिका के दो प्रसिद्ध वक्ताओं की मित्रता का यह दृश्य वास्तव में बड़ा मधुर था!

कभी कभी ऐसा भी हुआ है कि कई लोग स्वामीजी के निर्भीक स्पष्ट उत्तर से आहत होकर सभास्थल छोड़कर चले गए। स्वजाति या स्वदेश की निन्दा वे कभी भी सहन नहीं कर सकते थे। स्वधर्म या स्वजाति का पक्ष समर्थन कर दृप्त सिंह की तरह जब वे ग्रीवा उठाकर खड़े होते थे तो उन्हें देखकर ऐसा लगता था, मानो वे अभिमानशून्य उदासीन संन्यासी नहीं बल्कि मध्ययुग के कोई गर्वित जात्यभिमानी उद्धत अहंकारी राजपूत वीर हैं!

लन्दन में इस प्रकार की घटनाएँ अक्सर होती थीं, क्योंकि अनेक अंग्रेज विद्वान भारतवर्ष के सम्बन्ध में मिशनरीयों का अद्‌भुत विवरण पढ़कर, अज्ञ होकर भी विज्ञ समालोचक का आसन ग्रहण करने में संकुचित न होते थे। एक दिन सभा के बीच में स्वामीजी भारत के गौरव का वर्णन कर रहे थे, ऐसे समय पूर्वोक्त प्रकार के एक समालोचक ने प्रश्न किया, "भारत के हिन्दुओं ने क्या किया है?—वे आज तक किसी जाति पर विजय प्राप्त नहीं कर सके।"

"नहीं कर सके नहीं—कहिए कि उन्होंने की नहीं! और यही हिन्दू जाति का गौरव है कि उसने कभी दूसरी जाति के रक्त से पृथ्वी को रञ्जित नहीं किया। वे दूसरों के देश पर अधिकार क्यों करेंगे? तुच्छ धन की लालसा से? भगवान ने हमेशा से भारत को दाता के महिममय आसन पर प्रतिष्ठित किया है। भारतवासी जगत् के धर्मगुरु रहे हैं! दूसरों के धन को लूटने वाले रक्तपिपासु दस्यु न थे! और इसीलिए मैं अपने पूर्वजों के गौरव से गर्व का अनुभव करता हूँ।"

फिर किसी दूसरे व्यक्ति ने यह प्रश्न किया, "आपके पूर्वज यदि मानव-समाज को धर्मदान देने के लिए इतने व्यग्र थे तो वे इस देश में

धर्मप्रचार करने के लिए क्यों न आए?" मृदु हास्य के साथ स्वामीजी ने उत्तर दिया, "उस समय तुम्हारे पूर्वज तो जंगली बर्बर थे, पत्तों के हरे रंग से अपने उलंग देहों को रञ्जित करके पर्वतों की गुफाओं में निवास करते थे — क्या वे अरण्य में धर्म-प्रचार करने आते?"

इसी प्रकार कोई कोई ईसा मसीह या ईसाई धर्म के सम्बन्ध में स्वामीजी का मन्तव्य सुनकर मन ही मन बहुत असन्तुष्ट होते थे और इसे उनकी अनधिकार चर्चा मानकर पूछा करते थे, "स्वामीजी, आप जब ईसाई नहीं हैं, तो ईसाई धर्म के आदर्श को कैसे समझेंगे?"

उसी समय जवाब आता था, "वे प्राच्य देशीय तथा सर्वत्यागी संन्यासी थे, मैं भी प्राच्य देशीय संन्यासी हूँ। मैं समझता हूँ, पाश्चात्य जगत् अभी उन्हें पहचान नहीं सका है, उनके प्रचारित धर्म को भलीभाँति समझ नहीं सका है। क्या उन्होंने यह नहीं किया था, 'जाओ, तुम अपना सब कुछ बाँट दो और उसके बाद आओ मेरा अनुसरण करो।' तुम्हारे देश के कितने विलासी धनीरूपी ऊँट, स्वर्ग में प्रवेश करने के दरवाजे को सुई के समान मानकर सर्वत्यागी हुए हैं?" प्रश्न पूछने वाले लोग नीरव होकर स्वामीजी के कठोर सत्य के मर्म का चिन्तन करते हुए घर लौट जाते थे।

इस प्रकार छोटी-बड़ी सैकड़ों घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है जिनकी आलोचना करने पर यह स्पष्ट ही समझ में आ जाता है कि केन्द्रीभूत गुरुशक्ति स्वरूप इस महापुरुष ने पाश्चात्य देश में अपने सन्देश का किस निर्भीकता एवं दृढ़ता के साथ् प्रचार किया।

स्वामीजी की अनुपस्थिति के समय में स्वामी कृपानन्द, अभयानन्द तथा भगिनी हरिदासी (मिस वाल्डो) ने उत्साह के साथ प्रचारकार्य को चलाया था। वे लोग जिस नगर में जाते थे वहीं सैकड़ों उत्सुक श्रोता श्रद्धा के साथ हिन्दू धर्म की व्याख्या सुनने के लिए आया करते थे। न्यूयार्क

के अतिरिक्त स्वामीजी के शिष्यों ने बाफोला व डिट्राइट नगर में दो प्रचार-केन्द्रों की स्थापना की थी। ६ दिसम्बर को स्वामीजी ने न्यूयार्क में पदार्पण कर फिर से प्रचारकार्य का प्रारम्भ किया। बोस्टन-निवासिनी पूर्वोक्त महिला की सहायता से २९ नं० स्ट्रीट में दो बड़े बड़े कमरे किराये पर लिए गए। आचार्य देव अपने शिष्य स्वामी कृपानन्द के साथ वहाँ पर निवास करने लगे। दोनों कमरों में १५० से अधिक छात्रों का स्थान होता था। इस स्थान में स्वामीजी कर्मयोग के सम्बन्ध में धारावाही रूप में व्याख्यान देने लगे। इन व्याख्यानों को एकत्रित करके ही स्वामीजी की 'कर्मयोग' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। 'कर्मयोग' के अतिरिक्त स्वामीजी ने और भी कई भाषण दिए। 'सार्वभौमिक धर्म का आदर्श' नामक प्रसिद्ध भाषण भी इसी समय दिया गया था!

स्वामीजी के शिष्यगण उनके भाषणों को लिपिबद्ध करने के लिए बहुत दिनों से ही व्यग्र हो उठे थे, परन्तु योग्य व्यक्ति के अभाव से इतने दिनों तक उसकी कोई व्यवस्था नहीं हो सकी। इससे पूर्व कुछ संकेत-लेखक अवश्य नियुक्त हुए थे, परन्तु वे अनेक स्थानों में स्वामीजी का अनुसरण नहीं कर सकते थे। भगवान की इच्छा से इस समय इंग्लैण्ड से मि० जे. जे. गुडविन नामक एक जानकार सांकेतिक लिपिविद् न्यूयार्क में आए। स्वामीजी के शिष्यों ने उन्हें इस कार्य में नियुक्त कर आशातीत सुफल प्राप्त किया। मि० गुडविन को प्रायः अपना अधिकांश समय स्वामीजी के साथ ही बिताना पड़ता था और इसके परिणाम में थोड़े ही दिनों में उनके स्वयं के भाव पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गए और उन्होंने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। साधुहृदय गुडविन की अथक गुरुसेवा को देखकर सचमुच विस्मित हो जाना पड़ता था। स्वामीजी उन्हें 'विश्वस्त गुडविन' कहकर पुकारते थे। स्वामीजी के जो अमूल्य व्याख्यान हमें पुस्तकों के रूप में प्राप्त हुए हैं उनमें से प्रायः सभी मि० गुडविन की

अथक चेष्टा का फल है। केवल 'राजयोग' पुस्तक को ही स्वामीजी ने विशेष रूप से सोच विचार कर अपने एक शिष्य के द्वारा लिखवाया था। और कुछ छोटे प्रबन्धों के अतिरिक्त बाकी सभी उनके भाषण हैं। इस लेखन कार्य को मि० गुडविन जैसे विश्वस्त व दक्ष लेखक ने अपने ऊपर लिया था। उसी के फल स्वरूप आज हमें स्वामीजी के अधिकांश भाषण ही वर्तमान रूप में प्राप्त हुए हैं।

बड़े दिनों के पर्व (एक्समस) के उपलक्ष्य में मिसेज़ ओली बुल द्वारा आमंत्रित होकर स्वामीजी बोस्टन गए। केम्ब्रिज की महिलाओं द्वारा आमंत्रित होकर स्वामीजी ने 'भारतीय नारी जाति का आदर्श' के सम्बन्ध में एक सुन्दर तथ्यपूर्ण भाषण दिया। उसे सुनकर वहाँ का विदुषी नारी-समाज ऐसा मुग्ध हुआ कि स्वामीजी के बिना जाने ही उन्होंने उनकी माता को धन्यवाद देकर एक पत्र लिखने का संकल्प किया। व्हर्जिन मेरी की गोद में स्थित बालक ईसा के एक मनोरम चित्र के साथ पत्र में उन्होंने लिखा था—

"जगत् के कल्याण की जननी, मेरी के दानस्वरूप ईसा मसीह के आविर्भाव का दिन हम आज उत्सव के आनन्द में बिता रही हैं। साथ ही साथ स्मृति जाग उठती है। अपने बीच में आपके पुत्र को पाकर आज हम आपको श्रद्धा के साथ अभिवादन कर रही हैं। आपके श्रीचरणों के आशीर्वाद से उस दिन 'भारत में मातृत्व के आदर्श' के सम्बन्ध में भाषण देकर उन्होंने हमारे नर-नारी व बच्चों का महान् उपकार किया है। उनकी मातृपूजा श्रोताओं के हृदय में शक्ति-समुन्नति की उच्चाकांक्षा जगा देगी।

"आपकी इस सन्तान में आपके जीवन व कार्य का जो प्रभाव प्रकट हुआ है, उसकी सम्यक् रूप से उपलब्धि करती हुई हम आपकी सेवा में अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट कर रही हैं। भ्रातृत्व व एकता के जो नियन्ता हैं, उस ईश्वर का मंगल आशीर्वाद समग्र पृथ्वी भर फैल जाए,— हृदय में इस वास्तव आकांक्षा को लेकर आपका जीता जागता आदर्श उन्हें

कार्य-क्षेत्र में सदा अनुप्राणित करे, इस बात के स्मरण के साथ ही हमारी कृतज्ञता के इस साधारण निदर्शन को आप स्वीकार करें।"

बोस्टन से लौटकर स्वामीजी न्यूयार्क के 'हर्डीमैन होम' में प्रति रविवार निःशुल्क व्याख्यान देने लगे। 'ब्रुकलिन मेटैफिजिकल सोसाइटी' व 'न्यूयार्क पीपल्स चर्च' में दिए हुए उनके भाषणों को सुनने के लिए प्रतिदिन दल के दल स्त्री-पुरुष आने लगे। व्याख्यान देने के अतिरिक्त भी वे प्रतिदिन दो बार प्रश्नोत्तर-कक्षा में उपस्थित रहकर सभी जिज्ञासुओं की धार्मिक समस्याओं का बड़े स्नेह के साथ समाधान कर दिया करते थे तथा राजयोग या किसी विशेष साधन-प्रणाली की शिक्षा भी व्यक्तिविशेषों को यत्नपूर्वक देते थे।

फरवरी मास में उन्होंने 'मैडिसन स्क्वेअर गार्डन' नामक विशाल हॉल में 'भक्तियोग' पर भाषण देना प्रारम्भ किया। वे भाषण इतने सुन्दर व आकर्षक होते थे कि प्रतिदिन लगभग दो हजार श्रोता लगातार दो घण्टे तक कष्ट सहकर भी खड़े खड़े मंत्रमुग्ध हो उन्हें सुना करते थे। इसी मास में 'हार्टफोर्ड मेटैफिजिकल सोसाइटी' में आमंत्रित होकर 'आत्मा व ईश्वर' के विषय पर उन्होंने एक भाषण दिया। 'ब्रुकलिन नैतिक सभा' में भी उन्होंने कई उच्च कोटि के दार्शनिक भाषण दिए। इस सम्बन्ध में हेलेन हण्टिंग्टन नामक ब्रुकलिन के किसी विद्वान व प्रतिष्ठित व्यक्ति ने 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में लिखा था,—

"ईश्वर की यह महान् कृपा है कि उसने हमारे बीच में एक ऐसे धर्मगुरु अथवा शिक्षक को भेजा है, जिसका उन्नततर दार्शनिक मतवाद धीरे धीरे परन्तु निश्चित रूप से इस देश के नैतिक जीवन में प्रविष्ट होता जा रहा है। इस असाधारण शक्तिसम्पन्न व पवित्रचरित्र पुरुष ने एक समुन्नत आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रणाली, एवं सार्वभौमिक धर्म, अयाचित दया, आत्मत्याग तथा मानव बुद्धि द्वारा समझने योग्य पवित्र भावों

की व्याख्या की है। स्वामी विवेकानन्द ने हमारे बीच में एक ऐसे धर्म का प्रचार किया है जो सम्प्रदाय व मतवाद के बन्धनों से सम्पूर्ण रूप से मुक्त है, उन्नति, पवित्रता व स्वर्गीय आनन्द को देनेवाला है तथा सभी तरह से निष्कलंक है,—जो ईश्वर व मानव के प्रति प्रेम व अनन्त दया पर स्थापित है। * * * *

"स्वामी विवेकानन्द ने अपने शिष्य व अनुचरों के अतिरिक्त अनेक मित्र प्राप्त किए हैं। मित्रता व भ्रातृभाव की समता की सहायता से उन्होंने समाज के सभी स्तरों में भ्रमण किया है। उनके वार्तालाप व भाषण सुनने के लिए हमारे नगर के श्रेष्ठ प्रतिभाशाली एवं विद्वान व्यक्तिगण सम्मिलित होते हैं और इसी बीच में उनका प्रभाव गम्भीर भाव से फैल गया है तथा एक आध्यात्मिक जागृति का प्रबल स्रोत अप्रत्यक्ष रूप से बह रहा है। कोई भी प्रशंसा व निंदा उन्हें किसी बात का अनुमोदन या प्रतिवाद करने के लिए उत्तेजित नहीं कर सकी, धन तथा सम्मान भी उन पर प्रभाव न डाल सका और न उन्हें किसी भी विषय में पक्षपाती बना सका। अनुचित अनुग्रह की प्रत्याशा का निश्चित प्रमाण पाने पर वे उस प्रकार के अज्ञान की प्रेरणा से आगे बढ़ने वाले व्यक्तियों को अपने अप्रतिहत व्यक्तित्व के प्रभाव द्वारा रोककर सदा ही धर्म-प्रचारक के योग्य अनासक्ति के भाव को अक्षुण्ण रखते थे। कुकर्मी व असद् चिन्ताकारी व्यक्तियों को छोड़कर वे अन्य किसी के भी दोषों का प्रदर्शन न करते थे, परन्तु दूसरी ओर पवित्रता तथा उन्नत जीवन व्यतीत करने के नियमों का अवलम्बन करने के लिए उत्साह देते रहते थे। तात्पर्य यह है कि वे एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने में राजा लोग भी अपने को कृतार्थ समझेंगे!"

स्वामीजी की धर्मव्याख्या से आकृष्ट होकर अनेक स्त्री-पुरुष उनका शिष्यत्व ग्रहण करने लगे। डा० स्ट्रीट नामक एक भक्तिमान शिष्य के संसार

छोड़ने का संकल्प करने पर स्वामीजी ने उन्हें संन्यास देकर स्वामी योगानन्द नाम दिया। इस प्रकार एक वर्ष के अन्दर तीन उच्चवंशीय विद्वान शिष्यों को संन्यास के व्रत में दीक्षा देकर स्वामीजी उनकी सहायता से वेदान्त व योग की क्लासों को चलाने लगे। धीरे धीरे सैकड़ों स्त्री-पुरुष स्वामीजी के शिष्य बनकर अपने को वैदान्तिक कह कर प्रचारित करने लगे। स्वामीजी की अन्यतम शिष्या अमेरिका की श्रेष्ठ कवयित्री व लेखिका श्रीमती मिसेज़ एग्ना व्हीलर विलकक्स ने २९ मई सन् १९०७ को 'न्यूयार्क अमेरिकन' नामक एक प्रमुख पत्रिका में स्वामीजी की चर्चा करते हुए जो एक सुदीर्घ प्रबन्ध लिखा था उसे पढ़कर निःसन्देह समझा जाता है कि जो भी चिन्ताशील व्यक्ति उनकी व्याख्यान-कक्षाओं में आया है उसी ने मुग्ध होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया — अथवा उन्नततर शान्तिप्रद जीवन गठित करने के लिए प्रचुर उपादान प्राप्त कर लिया है। मिसेज़ विलकक्स ने लिखा है,—

"आज से बारह वर्ष पूर्व संयोगवश एक दिन शाम को मैंने सुना कि भारतवर्ष से विवेकानन्द नामक कोई दर्शनशास्त्र के अध्यापक न्यूयार्क में आए हैं और मेरे मकान से कुछ ही मकानों की दूरी पर एक स्थान में नियमित रूप से भाषण दे रहे हैं। हम (मैं और मेरे पति) कौतूहलवश उनका भाषण सुनने गए और दस मिनट बीतने के पहले ही अनुभव करने लगे कि हम एक सूक्ष्म जीवनदायक रहस्यपूर्ण भाव-राज्य में ले जाए जा रहे हैं। हमने मंत्रमुग्ध की तरह साँस रोककर अन्त तक पूरा भाषण सुना।

"भाषण का अन्त होने पर हम नवीन साहस, नवीन आशा, नवीन शक्ति व नवीन विश्वास लेकर जीवन के दैनंदिन विचित्रताओं के बीच आ पड़े। मेरे पति ने कहा, 'यही दर्शनशास्त्र है, यही ईश्वर की धारणा है, मैं अनेक दिनों से जिसका अन्वेषण कर रहा हूँ यह वही धर्म है।' इसके बाद कुछ महीनों तक वे मुझे साथ लेकर स्वामी विवेकानन्द की प्राचीन

धर्म-व्याख्या सुनने के लिए और उनके असाधारण मन के सत्य-रत्नों का, शक्ति व सहायता सम्बन्धी चिन्ताओं का संग्रह करने के लिए जाया करते थे। कभी कभी कई रातें विरक्ति व उत्कण्ठा से अनिद्रा में बिताकर वे स्वामीजी का भाषण सुनने को जाते थे और भाषण के बाद बाहर आकर हिममलिन राज-पथ पर घूमते हुए हँसकर कहते थे, "अब मैं स्वस्थ हुआ हूँ। अब विरक्ति का कोई कारण नहीं रहा। मानवात्मा के सम्बन्ध में उदार व विस्तृत धारणा लेकर हम कर्तव्य-कर्म व आनन्द के बीच में सम्मिलित होंगे।"

दिसम्बर मास के प्रथम भाग में वे फिर न्यूयार्क लौट गए। वहाँ से संयुक्त राज्यों के विभिन्न स्थानों में भ्रमण कर डिट्राइट में जा पहुँचे। डिट्राइट में उनके प्रचार-कार्य का वर्णन कर उनकी अन्यतम शिष्या मिस एम. सी. फ्रान्की ने लिखा है,—

"१८९६ ई० के प्रथम भाग में दो सप्ताहों के लिए डिट्राइट में आए थे। साथ थे उनके संकेत-लेखक विश्वस्त गुडविन। उन्होंने 'रिशलु' में कुछ कमरे किराये पर लिए थे। रिशलु एक छोटा सा पारिवारिक होटल है — वहाँ पर कई लोग सपरिवार निवास करते थे। वहाँ के बृहत् बैठक-घर का वे क्लास की बैठक व भाषण के लिए व्यवहार कर सकते थे। परन्तु वह इतना बड़ा न था कि उसमें बहुत से लोग आ सकते और खेद की बात यह है कि अनेक लोगों को निराश होकर लौट जाना पड़ता था। बैठकघर, बरामदा, सीढ़ी व लाइब्रेरी सब इतने भर जाते थे कि वहाँ एक आदमी के लिए भी बैठने को गुंजाइश नहीं रह जाती थी। उस समय वे भक्ति से ओतप्रोत रहते थे। भगवत्प्रेम ही उनकी भूख-प्यास थी, मानो वे एक प्रकार से ऐश्वरिक उन्माद-ग्रस्त हो गए थे, प्रेममयी जगज्जननी के लिए, तीव्र आकांक्षा से मानो उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था। डिट्राइट में जनसाधारण के समक्ष उनकी अन्तिम उपस्थिति 'बेथेल' मन्दिर में हुई।

राबी लुइस ग्रोसमैन नामक एक अनुरागी भक्त वहाँ पर याजक के पद पर अधिष्ठित थे। उस दिन रविवार था। सायंकाल को जनता की इतनी अधिक भीड़ थी कि हमें भय हो रहा था कि लोग बेचैन होकर कुछ कर न बैठें। रास्ते पर भी काफी दूर तक भारी भीड़ थी और सैकड़ों व्यक्ति लौट गए थे। स्वामीजी ने उस बृहत् श्रोतृसंघ को मंत्रमुग्ध कर दिया। उनके भाषण का विषय था—'पाश्चात्य जगत् में भारत का सन्देश,' और 'सार्वजनीन धर्म का आदर्श'। उनका भाषण बहुत ही उत्तम व विद्वत्तापूर्ण हुआ था। उस रात्रि में आचार्य देव को जिस प्रकार देखा है वैसा और कभी नहीं देखा था। उनके सौन्दर्य में ऐसा कुछ था जो इस पृथ्वी का नहीं था। ऐसा लगता था मानो आत्मारूपी पक्षी देहरूपी पिंजरे को तोड़ने का यत्न कर रहा है, और उसी समय पहले पहल मुझे उनके आसन्न देहावसान का पूर्वाभास प्राप्त हुआ था। अनेक वर्षों के अधिक परिश्रम के कारण वे बहुत ही श्रान्त हो गए थे और उसी समय ऐसा ख्याल हो गया था कि शायद वे अधिक दिन इस पृथ्वी पर नहीं रहेंगे। इस भय को मिथ्या प्रमाणित करने के लिए मैंने अपने मन को समझाने की चेष्टा तो की, परन्तु अन्तरात्मा ने इस आशंका की सत्यता की उपलब्धि की। उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी, परन्तु वे भीतर से समझ रहे थे, कि उन्हें कार्य करते ही रहना होगा।"

कट्टर ईसाई मिशनरी स्वामीजी पर आक्रमण करते हुए अनेक प्रकार से उनकी निन्दा का प्रचार करने लगे, जनसाधारण को उनका भाषण सुनने की मनाही करने लगे। धर्मयाजक राबी लुइस ग्रोसमैन स्वामीजी के सम्बन्ध में मिथ्या धारणाओं का प्रतिवाद करते हुए संकीर्णहृदय मिशनरियों की करतूतों की निन्दा करने लगे। अस्तु, यथेष्ट बाधाओं के बावजूद भी प्रतिदिन स्वामीजी का भाषण प्रारम्भ होने से पहले ही निर्दिष्ट स्थान श्रोताओं से भर जाता था और सैकड़ों व्यक्ति स्थानाभाव के कारण निराश होकर लौट

को स्वामीजी ने शक्ति व आशीर्वाद देकर योग की शिक्षिका नियुक्त किया। स्वामी कृपानन्द, अभयानन्द, योगानन्द तथा कुछ ब्रह्मचारी वेदान्त के प्रचारक नियुक्त हुए। असाधारण दानशील मिस मेरी फिलिप, मिसेज़ आर्थर स्मिथ, मिस्टर व मिसेज़ वाल्टर गुडइअर तथा प्रसिद्ध गायिका मिस एमा थर्सबी आदि न्यूयार्क के नामी शिष्य व शिष्या उत्साह के साथ समिति का कार्य चलाने लगे। शिष्य-वर्ग की सम्मति व अनुरोध से स्वामीजी ने अपने गुरुभाई स्वामी शारदानन्दजी को शीघ्र इंग्लैण्ड की ओर यात्रा करने के लिए पत्र लिखा। इंग्लैण्ड से उक्त स्वामीजी को न्यूयार्क में भेजने का वचन देकर आचार्य देव ने १५ अप्रैल सन् १८९६ ई० को फिर से लन्दन की ओर प्रस्थान किया।

लगभग तीन वर्ष तक अमेरिका में उनके प्रचारकार्य के गौरवमय इतिहास का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने पर किसी अविश्वासी का भी भक्ति, विस्मय व सम्मान से मस्तक अवनत हो जाता है। स्वजाति, स्वदेश व स्वधर्म की महिमा को बचाए रखते हुए उन्होंने जिस प्रकार से भारतीय धर्ममत का प्रचार किया है, वह चिरकाल तक संसार के इतिहास में एक श्रद्धा के साथ आलोचना करने योग्य अध्याय के रूप में विराजमान रहेगा। शिकागो-विदुषीसमाज की अन्यतम नेत्री मिसेज़ लिगेट ने सत्य ही कहा है, "He (Vivekananda) was a Grand Seignior. There were but two celebrated personages whom I have met, that could make one feel perfectly at ease without themselves for an instant losing their own dignity,—one was the German Emperor, the other, Swami Vivekananda." अर्थात् "वे (विवेकानन्द) वास्तव में महानुभाव थे। अपने जीवन में मुझे ऐसे दो ही विख्यात व्यक्तियों का साक्षात्कार हुआ है, जो व्यक्तिगत स्वातंत्र्य को किसी भी स्थिति में चोट न पहुँचाते हुए बिना किसी आडम्बर के प्रत्येक को उसका अनुभव करा सकते हैं — एक हैं जर्मन सम्राट और दूसरे स्वामी विवेकानन्द।"

अमेरिका से आचार्य देव का पत्र पाकर स्वामी शारदानन्द बिना विलम्ब इंग्लैण्ड में उपस्थित हुए थे और अप्रैल मास के प्रारम्भ से मि० स्टर्डी साहब के अतिथि के रूप में निवास करते हुए पूर्व स्थापित आलोचना-समिति में धर्म का उपदेश दे रहे थे। आचार्य देव अप्रत्याशित रूप में उन्हें स्टर्डी साहब के मकान पर देख आनन्दविभोर हो उठे। कहना न होगा कि शारदानन्दजी भी बहुत समय से 'लापता नेता' नरेन्द्रनाथ को देखकर बहुत ही आनन्दित हुए। आचार्य देव आग्रह के साथ उनसे आलम बाजार मठ व दूसरे श्रीरामकृष्ण-भक्तों का कुशल समाचार जान कर निश्चिन्त हुए।

शारदानन्द और स्वामीजी ने लन्दन के सेन्ट जार्जेस लेन में मिस मुलर व मि० स्टर्डी के अतिथि के रूप में रहते हुए पूर्ण उद्यम व उत्साह के साथ प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। इंग्लैण्ड में स्वामी विवेकानन्द के फिर वापस आ जाने का शुभ समाचार सुनते ही सैकड़ों स्त्री-पुरुष उनके दर्शन करने तथा उनके उपदेश सुनने के लिए आने लगे। समाचार-पत्रों में उनके कार्य-प्रणाली की विस्तृत समालोचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। मई मास के प्रारम्भ से स्वामीजी नियमित रूप से शिक्षादान व प्रश्नोत्तरकक्षाओं को चलाने लगे और 'ज्ञानयोग' पर भाषण देने लगे। मई मास के अन्त में उन्होंने भक्ति, कर्म और योग के सम्बन्ध में कुछ उत्कृष्ट भाषण दिए। क्लब, सभा-समिति, ड्राइंग रूम इत्यादि में भाषण देने के लिए वे प्रतिदिन बुलाए जाने लगे। मिसेज़ एनी बेसेन्ट द्वारा आमंत्रित होकर स्वामीजी ने उनके 'अविनु रोड' स्थित भवन में 'भक्ति' पर भाषण दिया। उस दिन वहाँ पर कर्नल अल्कट भी उपस्थित थे।

स्वामी शारदानन्द ने ६ जून को 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में लिखा था, "स्वामी विवेकानन्द का प्रचार-कार्य यहाँ पर सुन्दर रूप से प्रारम्भ हुआ है। प्रतिदिन सैकड़ों स्त्री-पुरुष उनके भाषण-कक्षा में नियमित रूप से उपस्थित हो

रहे हैं, उनके भाषण भी वास्तव में कौतूहल-उत्पादक हैं। उस दिन 'ऐंग्लिकन चर्च' के विद्वान नेता मि० कैनन हाइविस (Haweis) उनका भाषण सुनकर बड़े मुग्ध हुए। आप शिकागो महामेला में ही स्वामीजी से परिचित हुए थे और उस समय से ही उनका स्वामीजी से स्नेह था। मंगलवार को स्वामीजी ने सीसेम क्लब (Sesame Club) में 'शिक्षा' पर एक भाषण दिया। स्त्री-शिक्षा के विस्तार के लिए महिलाओं ने इस अत्यावश्यक समिति की स्थापना की है। इस भाषण में उन्होंने भारतीय प्राचीन शिक्षा-पद्धति के साथ आधुनिक प्रथा की तुलना करते हुए प्रदर्शित किया है कि मनुष्य गढ़ना ही शिक्षा का उद्देश्य है,—अनेक प्रकार के तथ्यों से मस्तिष्क को पूर्ण करना नहीं। उन्होंने युक्तियों द्वारा समझा दिया, कि मनुष्य का मन ही अनन्त ज्ञान की खान है। भूत, भविष्य, वर्तमान के सभी ज्ञान उसमें व्यक्त या अव्यक्त रूप में मौजूद हैं। मानव के अन्तर्निहित उस ज्ञान को प्रकट करने में सहायता करना ही प्रत्येक प्रकार की शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य होना चाहिए। उन्होंने उदाहरण दिया कि गुरुत्वाकर्षण शक्ति सम्बन्धी ज्ञान असल में पहले से ही मनुष्य के मन में विद्यमान था। सेव का गिरना न्यूटन के लिए उक्त ज्ञान के विकास में सहायक मात्र हुआ।"

मिसेज़ मार्टिन नामक एक धनी विदुषी ने एक दिन अपने घर पर स्वामीजी को भाषण देने के लिए बुलाया। उन्होंने 'आत्मा के सम्बन्ध में हिन्दू की धारणा' विषय पर एक भाषण दिया। १४ जून के 'दि लण्डन अमेरिकन' नामक पत्रिका ने इस भाषण का विस्तृत वर्णन कर जो एक सुदीर्घ प्रबन्ध लिखा था, उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है,—

"स्वामीजी ने हिन्दू धर्म को केवल जड़ व अन्ध पौत्तलिकता के अपवाद से ही मुक्त नहीं किया, बल्कि उसे ऐसे एक समुन्नत व समुज्ज्वल भाव पर प्रतिष्ठित कर दिया है कि उसके प्रति मानव जाति की श्रद्धा हुए बिना नहीं रह सकती। * * * बुधवार के दिन वर्षा आदि के बावजूद भी

काफी संख्या में भद्र पुरुष व महिलाएँ मिसेज़ मार्टिन का आतिथ्य ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुए थे; यहाँ तक कि राजपरिवार के भी कुछ व्यक्ति गुप्त रूप से उक्त सभा में उपस्थित थे।"

विशेष रूप से आमंत्रित होकर स्वामीजी ने आक्सफोर्ड में जाकर २८ मई को विश्वविख्यात प्रोफेसर मैक्स मूलर के साथ साक्षात्कार किया। प्रो० मैक्स मूलर ने इससे पहले 'नाइन्टिन्थ सेंचुरी' नामक पत्रिका में श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में 'प्रकृत महात्मा' शीर्षक जो निबन्ध लिखा था उसे पढ़कर विवेकानन्द ने पहले से ही इनसे साक्षात्कार करने का निश्चय किया था। वार्तालाप के सिलसिले में मैक्स मूलर साहब ने कहा, "श्रीरामकृष्ण के संपर्क में आकर केशवचन्द्र के धर्ममत के एकाएक परिवर्तन से ही पहले पहल उनकी ओर मेरी दृष्टि आकृष्ट हुई। उस समय से ही उस महात्मा की जीवनी व उपदेश के सम्बन्ध में जहाँ पर जो कुछ मिला, उसका मैं श्रद्धा तथा भक्ति के साथ पाठ करता आ रहा हूँ।" स्वामीजी से श्रीरामकृष्ण के पवित्र चरित्र व उपदेशों का श्रवण कर प्रोफेसर महोदय ने कहा, "यदि आप मुझे आवश्यक साधनों का संग्रह कर दे सकें तो मैं श्रीरामकृष्ण की एक जीवनी लिखने के लिए तैयार हूँ।" कहना न होगा कि स्वामीजी बड़े हर्षपूर्वक सहमत हो गए। कुछ दिनों के बाद प्रो० मैक्स मूलर द्वारा रचित 'श्रीरामकृष्ण की जीवनी व उपदेश' नामक विख्यात ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उसके द्वारा विवेकानन्द के पाश्चात्य देशों में प्रचार-कार्य की यथेष्ट सहायता हुई थी।

श्रीरामकृष्ण के प्रसंग में अन्त में स्वामीजी ने जब कहा, "श्रीरामकृष्ण इस समय हजारों, लाखों व्यक्तियों द्वारा पूजित हो रहे हैं,"—तो प्रो० मैक्स मूलर ने उसी समय उत्तर दिया, "यदि इस प्रकार के महापुरुष की पूजा न हो तो फिर किसकी पूजा होगी?" स्वामीजी के मुँह से श्रीरामकृष्ण की बात सुनकर प्रोफेसर महोदय उत्साह के साथ बोल उठे, "जगत् को उनका परिचय प्राप्त कराने के लिए आप लोग क्या कर रहे हैं?" बात

बात में स्वामीजी के प्रचार-कार्य की बात उठी। प्रोफेसर महोदय ने स्वामीजी के वेदान्तप्रचार-कार्य के साथ सम्पूर्ण सहानुभूति प्रकट की। भोजन के बाद प्रोफेसर महोदय, स्वामीजी व उनके शिष्य स्टर्डी साहब को लेकर नगर-भ्रमण के लिए चले गए। उन्होंने उन्हें आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय तथा Bodleian लायब्ररी को दिखलाया। भारतवर्ष के सम्बन्ध में प्रो० मैक्स मूलर के असीम ज्ञान का परिचय पाकर स्वामीजी बड़े विस्मित हुए। भारतवर्ष के प्रति प्रोफेसर महोदय के इस असीम प्रेम ने स्वदेश-प्रेमी संन्यासी को मुग्ध कर दिया। विवेकानन्द ने उल्लसित होकर पूछा, "आप कब भारत जाएँगे? जिन्होंने हमारे पूर्व-पुरुषों के चिन्तासमूह की श्रद्धा के साथ चर्चा की है उनकी अभ्यर्थना करने के लिए सभी लोग आनन्द के साथ तैयार होंगे, इसमें सन्देह नहीं है।" प्रोफेसर महोदय का प्रशान्त मुखमण्डल समधिक उज्ज्वल हो उठा, और आँखों में आँसू लिए वे एक प्रकार अनजान में ही बोल उठे, "तो फिर सम्भव है मैं वहाँ जाकर फिर और नहीं लौटूँगा। मेरे शरीर का अन्तिम संस्कार आप लोगों को वहीं पर करना पड़ेगा। * * * *" रात को जिस समय स्वामीजी स्टेशन पर गाड़ी के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे, उस समय आँधी व वर्षा के होते हुए भी वृद्ध प्रोफेसर स्वामीजी को विदाई का अभिनन्दन देने के लिए स्टेशन पर आ उपस्थित हुए। स्वामीजी लज्जित होकर ससम्भ्रम बोल उठे, "मुझे विदा देने के लिए इतना कष्ट स्वीकार कर आपके आने की क्या आवश्यकता थी?" प्रेम से उज्ज्वल आँखों के साथ प्रोफेसर महोदय ने उत्तर दिया, "श्रीरामकृष्ण के योग्यतम शिष्य के दर्शन का सौभाग्य प्रतिदिन प्राप्त नहीं होता।" इस दर्शन से ही इन प्रोफेसर महोदय के साथ स्वामीजी की प्रगाढ़ मित्रता का सूत्रपात हुआ। स्वामीजी आजीवन प्रो० मैक्स मूलर के प्रति श्रद्धा प्रकट करते थे। यद्यपि इसके बाद कभी दोनों के साक्षात्कार का अवसर नहीं आया तो भी वे नियमित रूप से पत्रों द्वारा एक दूसरे का कुशल समाचार जान लिया करते थे।

जिन अंग्रेज शिष्य व शिष्याओं ने स्वामीजी के कार्य में आत्मजीवन उत्सर्गित किया था उनमें से कुमारी मुलर, कुमारी नोबल (निवेदिता), मि० गुडविन, मि० स्टर्डी आदि का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। दूसरी बार इंग्लैण्ड में आकर स्वामीजी ने कॅप्टन सेविअर तथा श्रीमती सेविअर को शिष्य रूप में प्राप्त किया। यह धर्मप्राण सेविअर-दम्पति उनके भारतीय कार्य के लिए आत्मोत्सर्ग करने के लिए तैयार हो गए। श्रीमती सेविअर शिष्या बनकर भी स्वामीजी की मातृस्थानीया थी। स्वामीजी उन्हें 'माँ' कहकर पुकारते थे।

इस बीच में सेविअर-दम्पति व कुमारी मुलर ने स्वामीजी को लेकर स्विट्जरलैण्ड का भ्रमण करने का निश्चय किया। वे आनन्द के साथ उनके प्रस्ताव से सहमत हुए। कई महीनों के कठिन परिश्रम के बाद उन्हें विश्राम करने की बहुत आवश्यकता प्रतीत हुई।

जुलाई मास के अन्तिम भाग में शिष्य व मित्रों के साथ लन्दन से यात्रा कर स्वामीजी जेनेवा शहर पहुँचे। उस समय जेनेवा में एक शिल्प-प्रद-र्शिनी हो रही थी। स्वामीजी स्विट्जरलैण्ड के शिल्प-जात द्रव्य-समूह का दर्शन कर विशेष सन्तुष्ट हुए और उत्साह के साथ दिन भर प्रदर्शित चीज़ों का पर्य-वेक्षण करते हुए घूमते रहे। अन्त में एक बेलून देखकर वे बेलून में उड़ने के लिए अधीर भाव से आग्रह प्रकट करने लगे। पर यह जानकर कि सूर्यास्त से पूर्व बेलून आकाश में नहीं उड़ेगा स्वामीजी बालक की तरह अधीर होकर साथियों से पूछने लगे, "क्या अभी समय नहीं हुआ ?" श्रीमती सेविअर आकाश-भ्रमण को निरापद न मानकर आपत्ति प्रकट करने लगीं। स्वामीजी ने उनकी किसी भी आपत्ति को नहीं माना, बल्कि उन्हें भी बेलून में उठने के लिए बाध्य किया। उस दिन आकाश साफ सुथरा था। ऊपर से सूर्यास्त की मनोहर शोभा को देख स्वामीजी बहुत ही प्रसन्न हुए। बेलून से उतरकर एक ग्रूप फोटो लिया गया और वे प्रफुल्ल चित्त से होटल में लौट आए।

जेनेवा से स्वामीजी ने अपने साथियों को साथ लेकर कैसल आफ चिलो

(Castle of Chillo) देखने के लिए यात्रा की। वहाँ पर तीन दिन रह-कर माउण्ट ब्लैन्क (Mount Blank) की ओर प्रस्थान किया। स्विट्जरलैण्ड के ह्रदसमूहों द्वारा सुशोभित मनोरम पार्वत्य अंचलों में भ्रमण करते हुए स्वामीजी के मन में परिव्राजक-जीवन की मधुर स्मृतियाँ जाग उठीं। हिमालय की शान्ति-शीतल गोद में आश्रम बनाकर अवशिष्ट जीवन बिताने का एक प्रबल आग्रह उनमें बहुत दिनों से था। साथियों के पास हिमालय की सुन्द-रता का वर्णन करते हुए स्वामीजी बोले, "मैं चाहता हूँ, हिमालय में एक मठ स्थापित कर बाकी जीवन ध्यान व तपस्या में बिता दूँ। उक्त मठ में मेरे भारतीय व पाश्चात्य शिष्यगण रहेंगे, मैं उन्हें 'कर्मी' के रूप में तैयार कर दूँगा। पहले दल के शिष्यगण पाश्चात्य देशों में वेदान्त के प्रचार-कार्य में संलग्न होंगे और दूसरा दल भारत की उन्नति के लिए आत्मोत्सर्ग करेगा।" स्वामीजी के शिष्यगण उनका संकल्प जानकर उत्साह के साथ बोले, "अवश्य स्वामीजी! भविष्य कार्य के लिए हमें इस प्रकार का एक मठ अवश्य चाहिए" आल्प्स पर्वत के शिखर पर बैठे स्वामीजी ने शिष्यों के साथ जो चर्चा की थी वह बाद में ईश्वर की कृपा से कार्यरूप में परिणत हुई।

इसके बाद कुछ स्थानों का दर्शन कर वे दो सप्ताह के लिए एक पहाड़ी गाँव में निवास करने लगे। चारों ओर तुषारावृत आल्प्स पर्वत की शृंगमाला द्वारा वेष्टित सुनसान गाँव में जाकर स्वामीजी मानो जगत् का कर्म, कोलाहल, अपना प्रचार-कार्य, दार्शनिक विचार आदि सम्पूर्ण रूप से भूल बैठे, उनकी सभी चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुख हो उठीं! स्वामीजी का अभिप्राय समझ-कर कोई उनका शान्तिभंग न करता था, वे अधिकांश समय चुपचाप ध्यान-मग्न रहा करते थे। दो सप्ताह के पूर्ण विश्राम से ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो स्वामीजी की गत तीन वर्षों की सारी क्लान्ति दूर हो गई।

इस बीच में जर्मनी की कील नगरी के विश्वविद्यालय के विख्यात संस्कृतज्ञ विद्वान प्रोफेसर पॉल ड्यूसन ने स्वामीजी को आमंत्रित कर एक पत्र

लिखा। वह पत्र लन्दन से स्वामीजी के पते पर भेजा गया था। पत्र पाकर स्वामीजी जर्मनी जाने के लिए तैयार हुए। रास्ते में जर्मनी के कुछ इतिहास-विख्यात नगर व राजधानियों का दर्शन कर वे कील नगरी में पहुँचे। स्वामीजी के आने का समाचार पाते ही प्रो० डयूसन ने उन्हें प्रातर्भोजन के लिए निमंत्रण भेजा। साथ ही वे सेविअर दम्पति को भी निमंत्रित करना न भूले थे। दूसरे दिन प्रातःकाल दस बजे उनके पधारते ही प्रोफेसर तथा उनकी पत्नी ने आदर के साथ उनकी अभ्यर्थना की। स्वामीजी के प्रचार-कार्य व उद्देश्य के सम्बन्ध में दो चार प्रश्न पूछने के बाद ही प्रोफेसर वेद व उपनिषद के सम्बन्ध में स्वरचित एक ग्रंथ से कुछ अंश पढ़कर स्वामीजी को सुनाने लगे। प्रोफेसर ने कहा, "वेद-वेदान्त की मधुर मोहिनी शक्ति क्षण काल में ही बाह्य जगत को भुला देती है, उसका अध्ययन प्रारम्भ करते ही मन एक उन्नत आध्यात्मिक भाव-राज्य में चला जाता है।" अध्यापक की राय में मनुष्य के मस्तिष्क ने सत्य की खोज में रत होकर जिन सब विषयों का आविष्कार किया है, उनमें उपनिषद, वेदान्त-दर्शन व शांकर भाष्य सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। वेदान्त की चर्चा ही इन प्रोफेसर के जीवन का एक मात्र व्रत था। इनके साथ वेदान्त व उपनिषद की चर्चा कर स्वामीजी प्रसन्न हुए। प्रो० डयूसन ने वेदान्त या उपनिषद को केवल सूक्ष्म दर्शन-शास्त्र न कहकर उच्चतम व पवित्रतम नैतिक जीवन व्यतीत करने का एक मात्र अवलम्बन बताया। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा में १८८३ ई० में उन्होंने वेदान्त के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था उसके उपसंहार का निम्नोद्धृत अंश स्वामीजी को पढ़कर सुनाया — "And so the Vedanta in its unfalsified form is the strongest support of pure morality, is the greatest consolation in the sufferings of life and death. Indians! Keep to it."

अर्थात् "अविकृत वेदान्त-दर्शन पवित्र नीतियों की सुदृढ़ नींव है

और जीवन व मृत्यु के दुःखसमूह के लिए परम सान्त्वना का स्थल है। हे भारतवासी! इसे कभी न छोड़ना।"

स्वामीजी ने उन्हें अपनी उपलब्धि से उपनिषद के कुछ कठिन व दुर्बोध मंत्रों की व्याख्या करके सुनाई। प्रातर्भोजन के बाद भी प्रोफेसर ने उन्हें न छोड़ा, यहाँ तक कि मध्याह्न भोजन के लिए भी वे अनुरोध करने लगे। उस दिन प्रोफेसर की एक कन्या का जन्मदिन था। अतः वे अपने श्रद्धेय अतिथि को विदा न दे सके। प्रोफेसर व उनकी धर्म-पत्नी अपने भारत-भ्रमण की कहानी सुनाने लगे। कुछ घण्टों में ही स्वामीजी ने अपने मधुर व्यवहार द्वारा अध्यापक के हृदय पर विजय प्राप्त कर ली।

भिन्न भिन्न विषयों पर चर्चा चल रही थी, कि इस बीच में प्रोफेसर महोदय किसी दूसरे काम से उठकर चले गए; थोड़ी देर बाद उन्होंने लौट-कर देखा कि स्वामीजी कविता की एक पुस्तक के पन्ने उलट रहे हैं। इस कार्य में वे इतने तन्मय थे कि प्रोफेसर के आने की आवाज तक उनके कान में न पहुँची। पुस्तक समाप्त कर स्वामीजी अध्यापक की ओर ताकते ही समझ गए कि वे काफी देर से प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्होने क्षमा प्रार्थना करते हुए कहा, "पुस्तक पढ़ रहा था। सम्भव है कि बहुत देर से आए हो। क्षमा कीजिएगा।" उत्तर सुनकर प्रोफेसर ने उनकी बात पर विश्वास नहीं किया इस बात की झलक उनके चेहरे से ही स्पष्ट प्रतीत होती थी। स्वामीजी यह जानकर वार्तालाप के सिलसिले में उक्त पुस्तक से पढ़ी हुई कुछ कवि-ताएँ ज्यों की त्यों सुनाने लगे। विस्मय के साथ प्रोफेसर बोल उठे, "इससे पहले आपने अवश्य ही इस पुस्तक का अवलोकन किया होगा, नहीं तो केवल एक सरसरी निगाह से ही चार सौ पृष्ठ की किसी पुस्तक को आध घण्टे में याद कर लेना केवल दुःसाध्य क्या, असम्भव है!"

स्वामीजी ने हँसते हुए उत्तर दिया, "संयतमना योगी के लिए यह असम्भव नहीं है। मेरा विश्वास है, यह शक्ति सभी प्राप्त कर सकते हैं। आप

जानते हैं, मैं काम-कांचन-त्यागी संन्यासी हूँ। आजन्म अखण्ड ब्रह्मचर्य के परिणाम में यह शक्ति स्वयं ही मुझमें आ गई है। पाश्चात्य देश में अनेक लोग इस पर विश्वास नहीं भी कर सकते हैं, परन्तु भारत में ब्रह्मचर्य के बल पर इस प्रकार की स्मृति-शक्ति के अधिकारी आज कम होने पर भी अदृश्य नहीं हुए हैं।"

प्रोफेसर महोदय स्वामीजी की युक्ति सुनकर सन्तुष्ट हुए। श्री शंकर व श्री चैतन्य की अद्‌भुत स्मृति-शक्ति की बात हम जानते हैं। बाल्य काल में स्वामीजी की प्रखर प्रतिभा व अपरिमित स्मृति शक्ति का परिचय अवश्य प्राप्त हुआ है, परन्तु वह इस प्रकार की अलौकिक या अद्‌भुत स्मृति-शक्ति न थी। खेतरी में व्याकरण पढ़ते समय उन्होंने जिस प्रतिभा व स्मृति-शक्ति का परिचय दिया था वह दैवी शक्ति नहीं थी। अनेक वर्षों के अटूट संयम व कठोर साधना द्वारा उनका ब्रह्मचर्य सुप्रतिष्ठित हुआ था। ब्रह्मचर्य के प्रत्येक व्रत को वे श्रद्धा के साथ देखते थे। विवाद या उससे सम्बन्धित किसी प्रकार की घटना की स्मृति तक जिससे उनके मन में न आ सके, यही उनका आदर्श था। शिष्य वर्ग को, यहाँ तक कि अपने तक को, उस प्रकार की आशंका से दूर रखने की वे सदैव ही चेष्टा किया करते थे। ब्रह्मचर्यरूपी महान् व्रत की वर्तमान शोचनीय दुरवस्था देख वे उक्त आदर्श को फिर से प्रतिष्ठित करने के लिए प्राणपण से चेष्टा कर गए हैं। उन्होंने समझा था और वे कहते थे कि शरीर व मन की उच्चतम शक्तियों के विकास के लिए ब्रह्मचर्य ज्वलन्त अग्नि की तरह नस नस में प्रवाहित होना चाहिए। निर्जनवास, संयम तथा चित्त की गम्भीर एकाग्रता,—इन तीनों के सम्मेलन से गठित छात्र-जीवन ही ब्रह्मचर्य का आदर्श है। स्वामीजी अक्सर बालक व युवक-वृन्द को ब्रह्मचर्य के पालन में प्रोत्साहित करते हुए भाव के आवेग में दृढ़ता के साथ कहा करते थे, "यदि तुम काम-क्रोध आदि के सैकड़ों प्रलोभन में भी अविचल रहकर चौदह वर्षों तक सत्य की सेवा कर

सको, तो ऐसे एक स्वर्गीय तेज द्वारा तुम्हारा हृदय परिपूर्ण हो जायगा कि तुम जिसे झूठ समझोगे, उस बात को कोई साधारण व्यक्ति तुम्हारे पास प्रकट करने का साहस न करेगा। इस प्रकार तुम स्वदेश व समाज के उपकार के साथ ही साथ अपनी भी उन्नति कर सकोगे।' यहाँ तक कि केवल अविवाहित रहना भी उनकी दृष्टि में एक आध्यात्मिक नीति माना जाता था।

धर्म के लिए अथवा अन्य किसी महान् आदर्श में अनुप्राणित होकर अविवाहित जीवन बिताने को कई व्यक्ति विज्ञ की तरह प्राकृतिक नियम का व्यभिचार बताते हैं तथा उनका मत है कि विवाह करना व सन्तान उत्पन्न करना ही भगवान का एकमात्र अभिप्रेत कार्य है,—और वे इस बात को 'Common Sense' (साधारण बुद्धि) की सहायता से तर्क व युक्ति द्वारा प्रमाणित करने के लिए अग्रसर होते हैं। विवाहित जीवन के उच्च आदर्श के प्रति अवश्य ही स्वामीजी की कभी अश्रद्धा नहीं थी। वे गार्हस्थ्य व संन्यास दोनों ही आश्रमों को समान दृष्टि से देखा करते थे। भगवान श्रीरामकृष्ण विवाहित जीवन के एक महान् आदर्श का प्रदर्शन कर गए हैं, यह सत्य है, परन्तु फिर भी वे संन्यासी थे। आजन्म संन्यासी होकर भी विवाह करके उन्होंने गार्हस्थ्य व संन्यास के बीच में अपूर्व समन्वय प्रस्थापित किया था। मानव समाज में आदर्श गृही व आदर्श संन्यासी दोनों की ही आवश्यकता है। भगवान श्रीरामकृष्ण के जीवन में ये दोनों ही आदर्श पूर्ण मात्रा में प्रकट हुए थे। स्थूलदृष्टि मानव के लिए उन्हें एक ही साथ गृही व संन्यासी के रूप में देखना असम्भव व दुःसाध्य है,—इसीलिए उनकी सर्वश्रेष्ठ देन है स्वामी विवेकानन्द व नाग महाशय। एक आदर्श संन्यासी तो दूसरा आदर्श गृही!

क्या विवाह कर लेने पर धर्म का आचरण या अन्य कोई महान् कार्य नहीं किया जा सकता? क्यों नहीं—मोक्ष पर केवल संन्यासियों का ही एकाधिकार नहीं है। परन्तु, जनक ऋषि ने गृही होकर भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया था, यह उदाहरण देकर जो लोग जनक ऋषि बनने की चेष्टा करते हैं,

उनमें से अधिकांश ही कुछ अभागे बच्चों के जनक मात्र हैं—ऋषि जनक नहीं! कहते हैं घर में रहकर धर्म का आचरण करना, योग व भोग दोनों को ही कायम रखते हुए मोक्ष प्राप्त करना ही विशेष बहादुरी है! परन्तु साथ ही साथ अनेक व्यक्ति यह भूल बैठते हैं कि बहादुरी कर दिखाना ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। और यह भी ठीक है कि यदि सभी व्यक्ति बहादुरी दिखाने में व्यस्त रहें तो फिर मानव जीवन के उच्चतम सभी व्रत निःसन्देह लुप्त हो जाएँगे।

अविवाहित जीवन व्यतीत करने की सामयिक आवश्यकता की उपलब्धि कर स्वामीजी ने बड़े ही दुःख व अभिमान के साथ लन्दन से लिखा था, "* * * लन्दन का कार्य दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। जितने दिन बीत रहे हैं, क्लास में लोगों का समागम भी उतना ही अधिक हो रहा है। मुझे इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं है कि श्रोताओं की संख्या धीरे धीरे बढ़ती रहेगी। अंग्रेज बड़े ही दृढ़ प्रकृति वाले तथा निष्ठावान होते हैं। अवश्य मेरे चले जाते ही जितना कार्य हुआ है उसका अधिकांश नष्ट हो जायगा। परन्तु सम्भव है, उसके बाद कोई असम्भव घटना हो जाय, सम्भव है कोई दृढ़चित्त व्यक्ति आकर इस कार्य का भार ग्रहण कर ले; प्रभु ही जानते हैं, किससे भला होगा। अमेरिका में वेदान्त व योग की शिक्षा देने के लिए बीस प्रचारकों का स्थान हो सकता है, परन्तु कहाँ से ये प्रचारक मिलेंगे, उन्हें वहाँ पर भेजने के लिए धन कहाँ से प्राप्त होगा? यदि कुछ दृढ़ चित्तवाले सच्चे मनुष्य मिलें तो दस वर्षों में संयुक्त राज्य का अर्ध भाग जीत लिया जा सकता है। पर कहाँ हैं ऐसे व्यक्ति?

"हम लोग तो मूर्खों का एक दल जैसे हैं—स्वार्थपर, कापुरुष! बस सिर्फ जबान से स्वदेश के कल्याण की कुछ व्यर्थ की बातें रट रहे हैं, और अपने महा धार्मिकपन के अभिमान में हम फूले नहीं समाते। मद्रासी लोग दूसरों की तुलना में अधिक तेज हैं तथा दृढ़ता के साथ वे किसी काम में

डटे भी रह सकते हैं, परन्तु सभी अभागे विवाहित हैं! विवाह! विवाह!! विवाह!!! मानो पाखण्डियों ने उस एक ही कर्मेन्द्रिय को लेकर जन्म ग्रहण किया है — योनिकीट — इधर फिर अपने को धार्मिक व सनातन धर्मावलम्बी कहते हैं। अनासक्त गृहस्थ होना बहुत ही अच्छी बात है, परन्तु इस समय उसकी इतनी आवश्यकता नहीं है। अब चाहिए अविवाहित जीवन! खैर, वेश्यालय में जाने पर लोगों के मन में इन्द्रियों की आसक्ति का जितना बन्धन उपस्थित होता है, आजकल विवाह-प्रथा द्वारा लड़कों का उस विषय में प्रायः उसी प्रकार का बन्धन उपस्थित होता है। मैंने यह बहुत ही कड़ी बात कही है, परन्तु वत्स, मुझे ऐसे कर्मी चाहिये — जिनकी पेशियाँ लोहे की तरह दृढ़ हों और स्नायु मानो इस्पात के बने हों; और उनके शरीर के भीतर एक ऐसा मन रहे जो वज्र के उपादान से गठित हो। वीर्य, मनुष्यत्व — क्षात्र वीर्य, ब्राह्म तेज! हमारे सुन्दर लड़के — जिन पर सब कुछ आशा की जा सकती है, उनमें सभी गुण, सभी शक्तियाँ हैं — केवल यदि इन लाखों लड़कों की विवाह नामक पशुत्व की बलि-वेदी पर हत्या न की जाती। हे प्रभो, मेरे कातर क्रन्दन को सुन लो! मद्रास तभी जागेगा जब उसके हृदय के रक्त-स्वरूप कम से कम सौ शिक्षित युवक संसार से सम्पूर्ण रूप से स्वतंत्र होकर कमर कस लेंगे और देश-देश में सत्य के लिए युद्ध करने को तैयार हो जायँगे। भारत के बाहर एक आघात किया जाय तो वह उसके भीतर के हजारों आघात के समान है। अस्तु, यदि प्रभु की इच्छा होगी तो सब होगा।"

वर्षों से भारतीय युवक विवेकानन्द की यह प्राणमय पुकार सुनते आ रहे हैं। विवेकानन्द जितना बनाकर आये थे वह बिगड़ गया है या नहीं, 'दृढ़ चित्तवाले सच्चे मनुष्य' के अभाव में भारतीय संन्यासी की आशा व आकांक्षाएँ अपूर्ण ही रहीं या नहीं — इस पर क्या भारतीय युवक एक बार सोच-विचार न करेंगे?

यह सुनकर कि स्वामीजी शीघ्र ही लन्दन की ओर प्रस्थान करेंगे

प्रोफेसर महोदय उन्हें और कुछ दिन वहाँ रहने के लिए अनुरोध करने लगे। स्वामीजी बोले कि वे शीघ्र ही भारत लौटेंगे, अतः यात्रा से पूर्व इंग्लैण्ड के प्रचार-कार्य की व्यवस्था कर देना विशेष आवश्यक है। स्वामीजी का उद्देश्य समझकर प्रोफेसर भी उनके साथ इंग्लैण्ड जाने के लिए तैयार हुए। वे स्वामीजी के साथ वेदान्त की चर्चा कर इतने मुग्ध हुए थे कि केवल इसी उद्देश्य से कि स्वामीजी के साथ कुछ दिन और बिता सकेंगे, वे उनके साथ लन्दन चले आए।

जून मास के अन्त में स्वामीजी ने शारदानन्दजी को अमेरिका भेज दिया। इधर भारत से अभेदानन्दजी आकर लन्दन के कार्य में स्वामीजी की सहायता करने लगे। स्वामीजी की अनुपस्थिति में अभेदानन्दजी को ही प्रचार-कार्य की सारी जिम्मेदारी लेनी होगी, इसलिए स्वामीजी उन्हें आवश्यकता के अनुसार शिक्षा व उपदेश देने लगे।

अक्टूबर-नवम्बर मास में स्वामीजी ने अद्वैतवाद के श्रेष्ठतम सिद्धान्तों का विश्लेषण कर कुछ वक्तृताएँ दीं। 'ज्ञानयोग' का मनोनिवेशपूर्वक अध्ययन करने से भलीभाँति समझा जा सकता है कि इस कठिन कार्य में वे आशातीत रूप में सफलकाम हुए थे। उनके 'ज्ञानयोग' के भाषणों का पाठ करने पर स्वतः ही प्रश्न उपस्थित होता है—क्या यह केवल पाण्डित्य है अथवा और कुछ? 'कर्म-जीवन में वेदान्त का प्रयोग' शीर्षक व्याख्यानों में उन्होंने भावी प्राच्य व पाश्चात्य को एक महान् आदर्श के अनुगामी होने का इशारा किया है। राजनीतिक व सामाजिक स्थिति के अनेक परिवर्तनों में से यूरोप जिस आदर्श पर पहुँचने की चेष्टा कर रहा है, उसे कार्यरूप में परिणत करना हो तो हिन्दू के अद्वैतवाद व वेदान्त को ग्रहण करना होगा। अन्ध की तरह जड़ विज्ञान का अनुसरण कर वर्तमान यूरोप जो विक्षुब्ध हो उठा है, एक मात्र प्राच्य की प्राचीन सभ्यता, धर्म तथा अखण्ड अपूर्व अद्वैत तत्व ही उसकी उस ज्वालामयी विश्वशोषी तृष्णा को शान्त कर सकता है। इसी-

लिए स्वामीजी ने यूरोपनिवासियों के सम्मुख खड़े होकर उच्च स्वर से घोषित किया था कि उन्होंने आकांक्षा व अतृप्ति के ज्वालामुखी के ऊपर जिस चमकीली, दिखावटी बाह्य संपदशाली सभ्यता की सुवर्ण-नगरी का निर्माण किया है वह किसी भी समय धातुओं के प्रवाह द्वारा सम्पूर्ण विनष्ट हो सकती है। उन्होंने और भी भविष्यवाणी की थी, "यदि तुम इस अभिनव सन्देश को अस्वीकृत करोगे तो अगले पचास वर्षों में तुम्हारा ध्वंस अवश्यम्भावी है!"

अक्टूबर मास के मध्य से ही स्वामीजी भारत में लौटने की इच्छा प्रकट करने लगे। अमेरिका में स्वामी शारदानन्द को तथा इंग्लैण्ड में स्वामी अभेदानन्द को वेदान्त क्लास के छात्रों द्वारा सादर गृहीत होते देख स्वामीजी प्रचार-कार्य के सम्बन्ध में निश्चिन्त हुए। स्वामीजी के भारत लौटने का समाचार पाकर श्रीमती ओली बुल ने उन्हें सूचित किया कि वे भारतीय कार्य के लिए आवश्यकतानुसार धन देने को तैयार हैं। विशेष रूप से स्वामीजी ने रामकृष्ण संन्यासी संघ के लिए जो एक स्थायी मठ की स्थापना करने का संकल्प किया है, इसमें उनकी सम्पूर्ण सहानुभूति है — स्वामीजी जब चाहें, आवश्यकतानुसार उससे धन ले सकते हैं। स्वामीजी श्रीमती बुल का पत्र पाकर प्रसन्न हुए। आडम्बर के साथ किसी भी कार्य का प्रारम्भ करना उन्हें पसन्द न था। मद्रास, कलकत्ता व हिमालय में तीन केन्द्रों की स्थापना कर धीर भाव से कार्य का प्रारम्भ करना ही उन्होंने उचित समझा। श्रीमती बुल के पत्र के उत्तर में अपनी राय सूचित कर उन्होंने लिखा कि वे भारत में जाकर उन्हें विस्तारपूर्वक लिखेंगे — अभी वे किसी प्रकार धन लेना नहीं चाहते हैं।

यह जानकर कि आचार्य देव दिसम्बर मास के मध्य भाग में भारत की ओर यात्रा करेंगे, उनके इंग्लैण्ड के मित्र व शिष्यों ने उन्हें विदाई का अभिनन्दन देने के लिए १३ दिसम्बर रविवार को 'Royal Society of Painters' (रॉयल सोसाइटी आफ पेन्टर्स) समिति की पिकाडिली के बृहत् हॉल में एक सभा बुलाई। विराट जनसमूह ने नीरव रहकर विषादगम्भीर

भाव से आचार्य देव को विदाई का अभिनन्दन दिया। कई व्यक्ति भाव की अधिकता के कारण बातचीत न कर सके, शत शत आँखें आँसू से भर उठीं। इस दृश्य को देखते हुए आचार्य देव का कोमल हृदय विचलित हो उठा; आत्मविस्मृत ऋषि — करुणाकातर संन्यासी ने सहसा कह डाला, —

"सम्भव है कि मैं कल्याण समझकर इस देह-बन्धन को छिन्न कर दूँ — इसे फटे वस्त्र की तरह त्याग दूँ — परन्तु जब तक जगत् का प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम सत्य की उपलब्धि न कर सकेगा तब तक मैं मानव जाति के कल्याण की कामना से धर्म का प्रचार बन्द न करूँगा।"

इसके कुछ दिन बाद एक व्यक्ति ने उनसे पूछा था कि अवतार व मुक्त पुरुष में क्या अन्तर है। स्वामीजी ने प्रत्यक्ष रूप से इसका कोई उत्तर न देते हुए कहा था, "मुझे लगता है, 'विदेह मुक्ति' ही सर्वोच्च स्थिति है। मेरी साधनावस्था में जब मैं भारत का भ्रमण कर रहा था उस समय मैंने दिन पर दिन निर्जन पर्वत-कन्दराओं में ध्यान करते हुए बिताये हैं, समय समय पर मुक्ति प्राप्त करने के सम्बन्ध में निराश होकर मैंने अनशन से शरीर त्यागने का संकल्प भी किया है; परन्तु अब मुझे मुक्ति प्राप्त करने की लेश मात्र भी इच्छा नहीं है। जब तक एक भी व्यक्ति माया से आबद्ध रहेगा तब तक मैं मुक्ति नहीं चाहता।"

प्रसिद्ध वक्ता व जन-नायक श्री० बिपिनचन्द्र पाल ने १५ फरवरी सन् १८९६ ई० को लन्दन से लिखा था, —

"भारत में कुछ लोगों की धारणा है कि इंग्लैण्ड में विवेकानन्द के भाषणों का कोई विशेष फल नहीं हुआ, और उनके मित्र व समर्थकों ने एक मामूली से कार्य को ही अतिरंजित करके व्यक्त किया है; परन्तु मैं यहाँ आकर सभी जगह उनका असाधारण प्रभाव देख रहा हूँ! इंग्लैण्ड के अनेकानेक स्थानों में मैंने कितने ही व्यक्तियों के साथ वार्तालाप किया है जो वास्तव में विवेकानन्द के प्रति गम्भीर श्रद्धा व भक्ति रखते हैं। यद्यपि मैं उनके समाज

का नहीं हूँ और यह भी सत्य है कि उनके साथ मेरा मतभेद भी है, फिर भी मैं यह कहने के लिए बाध्य हूँ कि उन्होंने सचमुच ही अनेक लोगों की आँखें खोल दी हैं और उनके हृदय को उदार तथा प्रशस्त कर दिया है। उनके प्रचार-कार्य के परिणाम में आजकल अधिकांश लोगों का यह विश्वास हो गया है कि प्राचीन हिन्दू शास्त्रों में अनेक आध्यात्मिक सत्य छिपे हुए हैं। उन्होंने स्थानीय जनसाधारण के मन में केवल इन भावों का ही संचार नहीं किया, परन्तु वे भारत व इंग्लैण्ड को एक सुवर्णमय संयोग-सूत्र द्वारा दृढ़ रूप से बाँधने में सफल हुए हैं। इससे पूर्व मैंने श्री० हाउइस (Howeis) द्वारा लिखित 'The Dead Pulpit' नामक लेख से विवेकानन्दवाद (Vivekanandism) के सम्बन्ध में जिस अंश का उद्धरण किया है, उसी से आप जान गए हैं कि विवेकानन्द द्वारा प्रचारित मतवाद के विस्तार के कारण शत शत व्यक्तियों ने प्रकट रूप से ईसाई चर्चों के बन्धनों को तोड़ डाला है। * * * * इसके अतिरिक्त मैंने ऐसे अनेक शिक्षित अंग्रेज भद्र सज्जनों को देखा है, जिन्होंने भारत को श्रद्धा की दृष्टि से देखना सीखा है और जो भारतीय धर्म-मत व आध्यात्मिक तत्वों को सुनने के लिए सदा ही आग्रह प्रकट किया करते हैं।"

स्वामीजी अपने पाश्चात्य देशों में जाने तथा प्रचार-कार्य की सफलता के बारे में स्वयं सम्यक् रूप से सचेत न थे। उन्हें प्रति सप्ताह बारह, चौदह और कभी कभी इससे भी अधिक भाषण देने पड़ते थे। कभी कभी वे यह सोच-कर कि अब मैं अपने भाषणों में नई चीज़ क्या कहूँगा, चिन्तित हो जाते थे। परन्तु जो उन्हें पाश्चात्य देशों में ले गए थे मानो वे ही सब कुछ उनके लिए जुटा देते थे। वे अनुभव करते थे कि श्रीरामकृष्ण उनके संचालक के रूप में उनमें शक्ति का संचार करते थे। उन्होंने स्वयं कहा है, कि गम्भीर रात्रि में उन्होंने कई बार सुना है कि दूसरे दिन जो भाषण होगा, न जाने कौन बेरोक टोक वही कहता जा रहा है! नवीन तत्व व नवीन भाव से पूर्ण यह

वाणी जो श्रीरामकृष्ण की थी इसमें उनका ज़रा भी संदेह न था। वार्तावाही यंत्र की तरह वे केवल उन्हीं की वाणी का प्रचार करते थे। इस समय उनमें ईश्वरी शक्ति का अद्‌भुत विकास हुआ था। देखते ही वे लोगों के मन की सारी गुप्त बातें जान सकते थे। स्पर्श-मात्र से वे दूसरों के भीतर शक्ति-संचार कर सकते थे। परन्तु योग द्वारा प्राप्त इन शक्तियों का प्रयोग स्वामीजी क्वचित् ही करते थे।

पाश्चात्य देश के सहस्र सहस्र स्त्री-पुरुष केवल उनके चित्त को उन्मत्त बनाने वाले भाषणों की मोहिनी-शक्ति द्वारा ही आकर्षित नहीं हुए थे, वरन् सत्य व प्रेम की निष्कपट व अमोघ शक्ति ने ही उन्हें जनप्रिय बनाया था।

भगिनी निवेदिता ने लिखा है, "परम पूजनीय आचार्य देव अपने अन्तरंग भक्तों के हृदय में अमूल्य स्मृतियों का जो भण्डार छोड़ गए हैं, मैं निःसंकोच कह सकती हूँ कि उसमें मनुष्य-जाति के प्रति उनका प्रेम ही उज्ज्वलतम रत्न है।" कैसी गम्भीर अनुकम्पा व प्रेम से परिपूर्ण है वह हृदय —जो सदा सभी स्थितियों में सभी व्यक्तियों को आशा की वाणी सुनाने के लिए उदार आग्रह के साथ सदैव तत्पर रहा। उत्पीड़ित व अपमानित होकर भी उनकी जिह्वा ने कभी आशीर्वाद को छोड़ अभिशाप का उच्चारण नहीं किया। वे कभी छोटे से छोटे साधारण व्यक्ति के पक्ष का भी समर्थन करने से विरत नहीं होते थे। दुर्बल, पतित जातियों के गुणों का शतमुख से वर्णन करते थे,—दोषों को प्रकट कर उन्हें और भी दुर्बल बना देना उनका काम न था। जिनका पक्ष समर्थन करने वाला कोई नहीं होता था, उनका पक्ष स्वामीजी स्वयं लेते थे और जो कुछ कहना होता था कह डालते थे। नाट्य-सम्राट गिरीशचन्द्र घोष महाशय ने सत्य ही कहा है, "तुम्हारे स्वामीजी को अद्‌भुत प्रतिभाशाली वेदान्त के पण्डित जानकर मैं उनसे स्नेह नहीं करता, वरन् करुणा से सदा पिघलने वाले उनके हृदय के लिए ही मैं उन्हें प्यार करता हूँ।"

१८९६ ई० के ६ जुलाई को उन्होंने लन्दन से किसी शिष्य को लिखा था, "* * * तुम यह सुनकर प्रसन्न होगे, कि सहानुभूति व धैर्य के साथ मैं प्रतिदिन नयी नयी शिक्षा प्राप्त कर रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि उद्धतप्रकृति 'ऐङ्गलो इण्डियनों' में भी मैं देवत्व की उपलब्धि करने लगा हूँ। ऐसा समझ रहा हूँ कि मैं धीरे धीरे एक ऐसी स्थिति में पहुँच रहा हूँ कि जहाँ 'शैतान' नाम का यदि कोई हो भी, तो उसे भी मैं प्यार कर सकूँगा।

"बीस वर्ष की उम्र में मैं इतना हठी व कट्टर था कि किसी के साथ सहानुभूति प्रकट नहीं कर सकता था। कलकत्ते के जिन सब रास्तों पर थिएटर थे, उन थिएटरों के सामने वाले फुटपाथ पर से चलता न था, और अब तैंतीस वर्ष की उम्र में मैं वेश्याओं के साथ एक ही मकान में रह सकता हूँ, एक मुहूर्त के लिए भी उनकी निन्दा करने की बात मेरे मन में न आएगी। क्या मैं दिन पर दिन खराब होता जा रहा हूँ? अथवा मैं धीरे धीरे विश्व-प्रेम की ओर अग्रसर हो रहा हूँ—जो स्वयं प्रभु का स्वरूप है? मैंने सुना था, जो अपने चारों ओर की बुराइयों को नहीं देख सकता, वह कभी अच्छा काम नहीं कर सकता! पर मैं तो ऐसा नहीं समझ रहा हूँ, बल्कि मैं तो देख रहा हूँ कि मेरी कार्य करने की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। किसी किसी दिन जब मेरी भाव-समाधि हो जाती है, उस समय मैं चाहता हूँ कि सभी वस्तुओं को आशीर्वाद दूँ, प्रेम करूँ, उनका आलिंगन करूँ। मैं वास्तव में देख रहा हूँ, बुराई के नाम से हम जो समझते हैं, वह भ्रान्ति मात्र है।"

बाल्य काल से बने हुए संस्कार से मुक्त होना सरल नहीं है। पतित नारियों के प्रति उनके मन का विरुद्ध भाव किस प्रकार दूर हुआ था, इसकी एक कहानी स्वामीजी प्रायः कहा करते थे। अमेरिका की यात्रा से पूर्व स्वामीजी खेतरी से जयपुर आए थे। गुरुदेव को विदा करने के लिए

खेतरी के महाराजा स्वयं जयपुर तक आए थे। एक दिन संध्या समय बैठक के अवसर पर महाराजा ने एक नर्तकी को बुलाया। बैठकघर में नृत्य-गीत का आयोजन हुआ। महाराजा ने स्वामीजी के पास एक आदमी को भेजकर अनुरोध किया कि कृपया वे भी गाना सुनने के लिए उनके साथ सम्मिलित हों। स्वामीजी ने उत्तर दिया,—"संन्यासी के लिए नर्तकी के नृत्य-गीत की सभा में सम्मिलित होना अनुचित है।" इस बात को सुनकर नर्तकी बहुत ही दुःखी हुई और सोचने लगी कि महाराजा के गुरुजी ने उससे घृणा की है, क्या वह इतनी घृणा के योग्य है? नारीसुलभ अभिमान में उसकी अन्तरात्मा रो उठी। समस्त मन प्राण लगाकर क्रंदन-कम्पित कण्ठ से उसने गाया,—

"प्रभु, मेरो अवगुन चित न धरो,
समदरशी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो।"

यह अकृत्रिम हृदयस्पर्शी आर्त बिनती पास वाले कमरे में बैठे हुए संन्यासी के कानों में प्रवेश करने लगी—

"एक लोहा पूजा में राखत
एक रहत व्याध घर परो,
परश के मन द्विधा नहीं है,
दुहूँ एक कांचन करो।
इक नदिया इक नार कहावत मैली नीर भरो
जब मिली दोनों एक वरण भयो, सुरसरि नाम परो;
इक माया इक ब्रह्म कहावत, सूरदास झगेरो।
अज्ञान से भेद होवे, ज्ञानी काहे भेद करो॥

गणिका के कण्ठ से उच्चारित श्रेष्ठ साधक सूरदास की वाणी ने संन्यासी के चित्त को व्याकुल बना दिया,—"ज्ञानी काहे भेद करो। हाय! मैं अद्वैत वेदान्तवादी संन्यासी हूँ, फिर भी मेरी भेद-बुद्धि ऐसी है कि मैंने उसे

वेश्या कहकर देखा तक नहीं! मेरी आँखों के सामने से मानो पर्दा हट गया। अनुतप्त चित्त से उस नर्तकी के पास जाकर दुर्व्यवहार के लिए लज्जा प्रकट की।"

अज्ञ, उत्पीड़ित, दरिद्र पतितों की बात ही नहीं — समाज में चिरकाल से घृणित वेश्या तक को वे करुणा के साथ आशीर्वाद दे गए हैं। एक दिन अमेरिका की एक प्रश्नोत्तर-सभा में एक व्यक्ति ने सहसा प्रश्न किया था, "स्वामीजी, अपवित्रता की घनीभूत मूर्तिरूपी वेश्याओं के द्वारा समाज के अमंगल के अतिरिक्त क्या और भी कुछ हो सकता है?" स्वामीजी ने उसी समय उनकी ओर देखकर करुणार्द्र कण्ठ से कहा, "पथ पर उन्हें देखकर घृणा से नाक भौं न सिकोड़ो। वे ही ढाल की तरह खड़ी रहकर शत शत सतियों की लम्पटों के अन्याय-अत्याचार से रक्षा कर रही हैं; इसलिए उन्हें धन्यवाद दो! उनसे घृणा न करो।"

इस प्रसंग में एक बात का स्मरण हुआ। जब आचार्य मैक्स मूलर ने श्रीरामकृष्ण की जीवनी प्रकाशित की उस समय रेवरण्ड मजुमदार ने अनेक प्रकार के विरोध प्रकट कर जो पत्र लिखा था उसमें यह भी उल्लेख किया था, "श्रीरामकृष्ण का नैतिक चरित्र उतना उन्नत न था, क्योंकि वे वेश्याओं से घृणा न करते थे।" अवश्य, इस पण्डितम्मन्य के अद्भुत नीति-तत्व को समझने में असमर्थ होकर मैक्स मूलर ने उत्तर में नरम गरम दो चार बातें सुना दी थीं।

इस प्रकार के कुछ आदर्श नीतिवादियों की ओर से किसी भद्र महोदय ने स्वामीजी के पास एक पत्र लिखा था। उसके उत्तर में स्वामीजी ने अपने एक गुरुभाई को लिखा था, "आज रा—बाबू का पत्र मिला। उसमें उन्होंने लिखा है कि दक्षिणेश्वर के महोत्सव में अनेक वेश्याएँ जाती हैं, इसलिए अनेक भद्र लोगों की वहाँ पर जाने की इच्छा कम हो रही है। * * * इस विषय में मेरा विचार यह है:—

(४) "वेश्याएँ यदि दक्षिणेश्वर के महातीर्थ में न जा सकें तो कहाँ जाएँगी? पापियों के लिए प्रभु का विशेष प्रकाश है, पुण्यात्माओं के लिए उतना नहीं!

* * * *

(५) "जो लोग ठाकुर-घर में जाकर भी वह वेश्या है, वह नीच जाति है, वह गरीब है, वह छोटा है इस प्रकार सोचते हैं उनकी (जिन्हें तुम लोग भद्र पुरुष कहते हो) संख्या जितनी कम हो उतना ही कल्याण है। जो लोग भक्त की जाति या योनि या व्यवसाय देखते हैं वे हमारे श्रीरामकृष्ण को क्या समझेंगे? मैं तो प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि शत शत वेश्याएँ आएँ उनके पैरों तले सिर झुकाने के लिए, बल्कि एक भी भद्र पुरुष यदि न आए तो न आएँ। वेश्याएँ आएँ—शराबी आएँ, चोर-डाकू आएँ, उनका द्वार खुला है।"

१६ दिसम्बर को स्वामीजी शिष्य व शिष्याओं से विदा लेकर सेविअर दम्पति के साथ लन्दन से चल दिए। श्री० गुडविन ने नेपल्स में स्वामीजी से सम्मिलित होने के लिए सौदम्पटन से इटैली की ओर यात्रा की विश्वविजयी आचार्य देव के कर्ममय जीवन के एक और गौरवमय अंक का अभिनय समाप्त हुआ। वे भारत लौटने के लिए बालक की तरह अधीर हो उठे। लन्दन छोड़ने से ठीक पहले एक अंग्रेज मित्र ने उनसे पूछा था, "स्वामीजी, चार वर्ष तक विलास की लीलाभूमि, गौरव की सिरताज, महाशक्तिशाली पाश्चात्य-भूमि में भ्रमण करने के बाद आपकी मातृभूमि आपको कैसी लगेगी?" स्वदेशप्रेमी संन्यासी ने उत्तर दिया, "पाश्चात्य-भूमि में आने से पूर्व मैं भारत से प्यार करता था; इस समय भारत का धूलिकण तक मेरे लिए पवित्र है, भारत की वायु अब मेरी दृष्टि में पवित्रता की प्रतिमूर्ति है—भारत इस समय मेरे लिए तीर्थ जैसा है!"

फ्रांस के बीच से होकर,--आल्प्स पर्वत-श्रेणी को लाँघकर, मीलन व

पीसा नगरी का दर्शन करते हुए स्वामीजी सेविअर दम्पति के साथ फ़्लोरेन्स नगरी में उपस्थित हुए। इटैली की चारु कला-विद्या के केन्द्ररूपी फ़्लोरेन्स नगरी की चित्रशाला व दर्शनीय ऐतिहासिक स्थानों को देखकर स्वामीजी एक पार्क में टहल रहे थे। इसी समय दैवयोग से शिकागो के श्रीमान व श्रीमती हेइल से उनकी भेंट हुई। अप्रत्याशित रूप से स्वामीजी का दर्शन पाकर वे विशेष आनन्दित हुए। पाठकों को स्मरण होगा, शिकागो महामेला के ठीक पहले श्रीमती हेइल ने ही उन्हें आश्रय देकर अनेक प्रकार से उनकी सहायता की थी। यह दम्पति स्वामीजी पर पुत्रवत् स्नेह करते थे। स्वामीजी प्रचारकार्य के उपलक्ष्य में जितनी बार शिकागो गए, इस दम्पति ने उन्हें कभी होटल में ठहरने नहीं दिया।

फ़्लोरेन्स से उन्होंने इतिहास-प्रसिद्ध प्राचीन रोमन जाति की कीर्ति द्वारा गौरवमण्डित श्मशानभूमि महानगरी रोम में प्रवेश किया। श्रीमती सेविअर ने पहले से ही स्वामीजी का अमेरिकन शिष्या कु० मैक्लिऔड द्वारा रोम नगरी के अंग्रेज समाज में विख्यात कु० एडवर्ड्स का पता जान लिया था। कु० मैक्लिऔड की भतीजी कु० एल्बर्टा स्टार्गिस भी उनके साथ रोम में निवास कर रही थीं। ये दोनों थोड़े ही समय में स्वामीजी की भक्त बन गईं। जो एक सप्ताह वे रोम में रहे, वे प्रतिदिन उन्हें साथ लेकर इतिहास-प्रसिद्ध स्थानों का दर्शन करने जाती थीं। रोम से स्वामीजी नेपल्स आए। बन्दरगाह में जहाज़ के आने में विलम्ब जानकर इस बीच में उन्होंने वेसुविअस ज्वालामुखी पर्वत तथा पम्पाई नगरी का दर्शन किया। तब तक सौदम्प्टन से भारत जानेवाला जहाज़ आ पहुँचा। उसमें श्री० गुडविन को देख स्वामीजी आनन्दित हुए। अन्त में ३० दिसम्बर को उन्होंने अपने संगीसाथियों के साथ भारत की ओर यात्रा की।

षष्ठ अध्याय

युगप्रवर्तक विवेकानन्द

(१८९७–१८९९)

" अब भारत ही केन्द्र है।"— विवेकानन्द

चार बर्षों का अविराम भ्रमण समाप्त हुआ। विवेकानन्द जहाज में बैठे हिसाब करने लगे, क्या दिया और क्या ले चला! प्राच्य और पाश्चात्यों की श्रेष्ठ विचार-धारा तथा आध्यात्मिक भावों के आदान-प्रदान द्वारा आपस में दोनों का समन्वय व सामञ्जस्य करना एक जीवन का कार्य नहीं है। पाश्चात्य की शक्ति, साहस, प्रतिभा व वैज्ञानिक आविष्कारों को देख स्वामीजी जिस प्रकार मुग्ध हुए थे, उसी प्रकार राजनीति के नाम पर अपरिमित घूस देकर वोट लेना तथा बैलट की सहायता से आधिपत्य प्राप्त करना, बनियों का धन-लोभ तथा साम्राज्यवादियों की साम्राज्य की आकांक्षा आदि को देख वे क्षुब्ध भी हुये थे। विशेष रूप से भारतविजयी इंग्लैण्ड को उन्होंने उसके अपने स्वरूप में देखा था!—" संसार-समुद्र के सर्वविजयी वैश्य शक्ति के अभ्युत्थानरूपी महातरंग के शीर्ष पर शुभ्र फेन-राशि के बीच इंग्लैण्ड का सिंहासन स्थापित है। * * * * ईसामसीह, बाइबिल, राजप्रासाद, सैनिक शक्ति का भूकम्पकारी पदविक्षेप, तूर्य-भेरी का निनाद, राजसिंहासन का विशाल आडम्बर,— इन सभी के पीछे वास्तव इंग्लैण्ड बसा हुआ है, जिस इंग्लैण्ड की ध्वजा है कारखानों की चिमनियाँ, सेना है पण्यवाही जहाज़, युद्ध-क्षेत्र है जगत् का बाजार और सम्राज्ञी है स्वयं सुवर्णांगिनी लक्ष्मी!"

सुदूर सम्प्रसारित दूर दृष्टि के साथ स्वामीजी ने देखा था, वणिक या

वैश्यों द्वारा शासित इस यूरोप की छाती पर शूद्रों के विद्रोह का पूर्वाभास। "समष्टि के जीवन में व्यष्टि का जीवन है, समष्टि के जीवन में व्यष्टि का सुख है। समष्टि को छोड़ व्यष्टि का अस्तित्व ही असम्भव है, यह अनन्त सत्य है, जगत् की मूल नींव है। * * * प्रकृति की आँखों में धूल झोंकने की शक्ति किसमें है? समाज की आँखों में अनेक दिनों तक धूल झोंकी नहीं जा सकती! * * * सब कुछ सहने वाली धरती की तरह समाज बहुत कुछ सह लेता है, परन्तु एक न एक दिन वह जाग उठता है और उस जागरण की प्रचण्डता से युगयुगान्तरों की संचित मलीनता व स्वार्थपरता धुल जाती है।" परन्तु वह स्वर्ण दिवस अभी दूर है। अद्वैत वेदान्तवाद के प्रचार के अतिरिक्त भी उनका जो उद्देश्य था वह सिद्ध न हुआ। उन्होंने अनुभव किया, क्षुधित, भोगलोलुप स्वार्थी पाश्चात्यों से दीन दरिद्र भारतीयों के लिए जिस सहायता की उन्होंने आशा की थी वह उन्हें प्राप्त नहीं हुई। अमित ऐश्वर्यवान पाश्चात्य देशों में भीख माँगकर उन्हें जो कुछ प्राप्त हुआ वह मुष्टि-भिक्षा मात्र था। परन्तु दारिद्र्य से पीड़ित एवं कुसंस्कार से आच्छन्न भारतवर्ष के भ्रष्ट जीवन के प्रनष्ट गौरव के उद्धार का व्रत ही उन्होंने ग्रहण किया है। यूरोप भूल गया है कि भारत की चिन्तारूपी सम्पत्ति से उसका दर्शन व साहित्य परिपुष्ट हुआ है, भारत के ऐश्वर्य से वह ऐश्वर्यशाली बना है, पर इस सब के लिए कृतज्ञ होना उनके लिए बड़ी दूर की बात है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्वामीजी के पाश्चात्य देशों में जाने का प्रधान उद्देश्य विशेष सफल नहीं हुआ। परन्तु वे क्षुब्ध होने पर भी निराश नहीं हुये। भारत में नये सिरे से कार्य करना होगा,—भारत के जातीय जीवन में पुनर्गठन की आवश्यकता है। धर्म को जीता जागता और समाज को गतिशील बनाकर सत्साहसी व वीर्यवान मनुष्यों को पैदा करना होगा। "मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ जिससे मनुष्य तैयार होता है।"—स्वदेशप्रेमी संन्यासी ने इसीलिए स्थिर किया—"अब भारत ही केन्द्र है।"

१५ जनवरी को सूर्योदय के साथ ही साथ सीलोन की श्यामल तट-भूमि दृष्टिगोचर हुई। पीली बालू से पूर्ण समुद्रतट की सुवर्णोज्ज्वल प्रभा,—वायु के झकोरों से हिलने वाले नारिकेल वृक्षों के शीर्षों का गहरा हरा रंग देख स्वामी विवेकानन्द आनन्द से प्रफुल्लित हो उठे। जहाज़ धीरे धीरे कोलम्बो बन्दरगाह में प्रविष्ट होकर खड़ा हुआ। तरंगों की उच्च कल्लोल ध्वनि के साथ जहाज़ की गम्भीर वंशी-ध्वनि ने सम्मिलित होकर विवेकानन्द की आगमन-वार्ता घोषित की!

स्वामीजी स्वदेश लौट रहे हैं, इस समाचार का प्रचार होते ही भारत-वर्ष की जनता उनकी सादर अभ्यर्थना के लिए प्रस्तुत हो गई। सीलोन व मद्रास प्रेसीडेन्सी के प्रधान प्रधान नगरों की प्रमुख जनता ने अपने यहाँ स्वागत-समितियाँ तैयार कीं। यह समाचार पाकर कि स्वामीजी कोलम्बो नगर में उतरेंगे उनके दो गुरुभाई तथा कुछ मद्रासी शिष्य पहले से ही वहाँ पर पहुँच गये। कोलम्बो का हिन्दू समाज स्वामीजी की प्रथम अभ्यर्थना करने का गौरव-मय अधिकार पाकर उत्साह के साथ तैयारी करने लगा। परन्तु जिनके लिए यह सब था उन स्वामीजी को इस बात का अनुमान ही न था कि किस उत्सुकता से देश उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। जिस समय उनकी मातृभूमि नवीन उत्साह के उच्छ्वास से मुखरित हो उठी थी — उस समय वे जहाज़ के छोटे से कमरे में चुपचाप बैठे भारत की वर्तमान व भविष्य की समस्याओं के समाधान में लगे हुये थे। नवीन भारत के पुनरुत्थान के लिए वे जिस सन्देश का प्रचार करने के लिए स्थिर संकल्प किये बैठे हैं, जिस शिक्षा-दीक्षा के द्वारा राष्ट्रीय जीवन को फिर से रसमय, जाग्रत व महिमामय बना देने का उन्होंने संकल्प किया है, उसे जन-साधारण स्वीकार करेगा अथवा 'नहीं — यही सारी चिन्ता करते हुये वे सन्दिग्ध चित्त से कोलम्बो बंदरगाह में उतरे।

उनके गैरिक पगड़ी द्वारा मण्डित मस्तक को देखते ही समुद्र-तट

पर एकत्रित विराट जनसमूह आनन्द से जयध्वनि कर उठा। उस समय संध्या नहीं हुई थी — अस्ताचलगामी सूर्य की पीताभ रक्तिम रश्मियों से दीप्त संन्यासी विस्मयविमूढ़ की तरह खड़े रहे। जिस समय कोलम्बो के हिन्दू समाज के प्रतिनिधि के रूप में माननीय कुमारस्वामी महोदय ने कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ अग्रसर होकर उन्हें मनोहर पुष्पमाल्य से विभूषित किया — तब उन्होंने समझा कि उस विराट अभ्यर्थना का आयोजन उन्हीं के लिए है। स्वामीजी ने दो घोड़ों की गाड़ी पर बैठ नगर में प्रवेश किया। फूल, पत्ते व पल्लवों द्वारा सुशोभित फाटकों को लाँघकर जुलूस धीरे धीरे सजे हुए राजपथ पर से होता हुआ 'दारुचीनी उद्यान' के सामने एक विराट मण्डप के नीचे आ पहुँचा। स्वामीजी के गाड़ी से उतरने के साथ ही सैकड़ों व्यक्ति उनकी पद-धूलि लेने लगे। माननीय कुमारस्वामी ने उनके सामने प्रणत होकर अभिनंदन-पत्र समर्पण किया।

उपस्थित जनता के उत्साहपूर्ण आनन्द व कोलाहल के बीच स्वामीजी अभिनंदन-पत्र का उत्तर देने के लिए खड़े हुये। प्रसंगवश उन्होंने कहा, "मैं कोई महाराजा अथवा धनकुबेर या प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ नहीं हूँ — निर्धन भिक्षाजीवी संन्यासी मात्र हूँ। आप लोगों ने मेरी जो सादर अभ्यर्थना की है, इससे मैं समझ रहा हूँ कि हिन्दू जाति अभी तक अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति को खो नहीं चुकी है, नहीं तो एक संन्यासी के प्रति वह इतनी श्रद्धा-भक्ति का प्रदर्शन क्यों करती? अतः हे हिन्दुओ, अपनी जातीय जीवन की इस विशेषता को न खोओ। नाना प्रकार की विरुद्ध स्थिति के बीच में भी धर्म के आदर्श पर दृढ़ता के साथ डटे रहो।"

इसके बाद स्वामीजी को विश्रामगृह में ले जाया गया। थोड़ी देर बाद उन्होंने देखा, कि जो लोग स्थानाभाव के कारण मण्डप में उनका दर्शन नहीं कर सके थे वे गृह-द्वार पर आकर एकत्रित हुये हैं। स्वामीजी ने बरामदे में उनके सम्मुख खड़े होकर मृदु हास्य से नमस्कार किया। सभी लोग

आग्रह और भक्ति के साथ उनकी पद धूलि लेने लगे। स्वामीजी ने ' नारायण ' कहकर सबको आशीर्वाद किया।

१६ जनवरी को तीसरे प्रहर उन्होंने फ्लोरल हॉल में एक भाषण दिया। पाश्चात्य देश से लौटने के बाद यही उनका सर्वप्रथम भाषण हुआ। भाषण का विषय था — " पुण्यभूमि भारतवर्ष "।

स्वामीजी के प्रियतम शिष्य मि० गुडविन के, जो संकेत-लिपि लिखने में प्रवीण थे, अथक परिश्रम से ही हमने आचार्य देव के व्याख्यानों को पुस्तक के रूप में प्राप्त किया है। मि० गुडविन सदैव छाया की तरह श्री गुरुदेव के साथ रहा करते थे — स्वामीजी के भाषणों को पढ़ते समय उनकी पुण्य-स्मृति से हृदय स्वतः ही कृतज्ञता से परिपूर्ण हो उठता है। श्रीरामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित ' भारत में विवेकानन्द '* नामक पुस्तक में स्वामीजी के इस देश में दिये हुये भाषणों को लोगों ने पढ़ा ही है। अतः हम केवल आवश्यकतानुसार स्थान स्थान पर उसका उल्लेख मात्र ही करेंगे।

दूसरे दिन का अधिकांश समय आचार्य गुरुदेव ने दर्शकों के साथ धर्मचर्चा में बिता दिया। तीसरे प्रहर में वे स्थानीय शिवमन्दिर का दर्शन करने गये। रास्ते में अगणित व्यक्ति उन्हें फूल, फल, माला आदि का उपहार देने लगे। ऊँचे मकानों की अट्टालिकाओं से नारीवृन्द पुष्प व गुलाबजल की वर्षा करने लगे। मन्दिर के दरवाजे पर उपस्थित होने के साथ ही ' जय महादेव ' की ध्वनि के साथ एकत्रित जनता ने उनकी अभ्यर्थना की। श्रीमन्दिर के दर्शन व प्रदक्षिणा के पश्चात् पुरोहितों के साथ थोड़ी देर वार्तालाप करके वे अपने निवासस्थान पर लौट आये। कुछ शास्त्रज्ञ ब्राह्मण पण्डित उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। रात्रि के करीब ढाई बजे तक स्वामीजी ने उनके साथ शास्त्रचर्चा की और दूसरे दिन प्रातःकाल कोलम्बो के पब्लिक हॉल में वेदान्त-दर्शन पर उन्होंने एक विस्तृत भाषण दिया। इस सभा में कुछ

---

* यह पुस्तक श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित हुई है।

भारतवासी यूरोपीय पोशाक पहनकर आये थे। चाल-चलन व भावभंगी में भी उन्हें अंग्रेजों का अनुकरण करते देख स्वामीजी ने दुखी होकर उन्हें मूढ़ की तरह दूसरों के अनुकरण की प्रवृत्ति को छोड़ अपनी जातीयता को अपनाने तथा बनाये रखने का उपदेश दिया।

१९ जनवरी को उन्होंने कोलम्बो से स्पेशल ट्रेन द्वारा काण्डी की ओर यात्रा की। इससे पूर्व स्वामीजी का विचार कोलम्बो से जहाज़ द्वारा मंद्रास पहुँचने का था, परन्तु सीलोन व दक्षिण के अनेक स्थानों से लगातार इतने आग्रहपूर्ण तार आने लगे कि उन्होंने उक्त संकल्प छोड़ दिया और अन्त में रेल द्वारा ही उन्होंने मद्रास जाने का निश्चय किया।

काण्डी में हिन्दू समाज की ओर से दिये गये अभिनन्दन-पत्र का संक्षेप में उत्तर देकर स्वामीजी जाफना की ओर अग्रसर हुये। बौद्ध युग की प्राचीन कीर्ति के लिए विख्यात नगरी अनुराधापुरम् में स्वामीजी ने वहाँ के निवासियों के अनुरोध से ‘ उपासना ’ के सम्बन्ध में एक भाषण दिया। बुद्ध गया के बोधि-द्रुम की शाखा से उत्पन्न महान् प्राचीन वट वृक्ष के नीचे सभा का आयोजन हुआ था। अनुराधापुरम् से जाफना १२० मील दूर है। स्वामीजी अपने साथियों के साथ बैलगाड़ी पर सवार होकर धीरे धीरे जाने लगे। प्रतिदिन रास्ते में गाँवों के सैकड़ों हिन्दू व बौद्ध उनके दर्शन के लिए खड़े रहते थे। स्वामीजी को आश्चर्य हुआ कि उनके शिकागो-भाषण की सफलता का समाचार सीलोन के गाँवों में रहने वाले किसानों तक को ज्ञात है।

संध्या के समय स्वामीजी जाफना पहुँचे। खूब सजे सजाये राजपथ के बीच में से धीरे धीरे जुलूस आगे बढ़ा। वहाँ के हिन्दू कालेज के प्रांगण में एक सुंदर मण्डप तैयार किया गया था। स्वामीजी को वहाँ पर ले जाया गया। करीब पन्द्रह हजार व्यक्ति जुलूस में सम्मिलित हुये थे। नागरिकों का आनन्द व उत्साह अपार था। जाफना में अभिनन्दन पत्र का संक्षिप्त उत्तर देकर दूसरे दिन आचार्य देव ने वेदान्त के सम्बन्ध में भाषण दिया। सीलोन का

भ्रमण समाप्त हुआ। जाफना से एक स्टीमर किराये पर लेकर स्वामीजी ने अपने शिष्यगण व गुरुभाई स्वामी निरंजनानंदजी के साथ भारतवर्ष की ओर यात्रा की। पहले से ही समाचार पाकर रामनद के राजा भास्करवर्मा बहादुर समस्त जनता के साथ पाम्बान में उपस्थित हुये। विराट जनसमूह समुद्र-तट पर अधीर होकर स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगा। स्टीमर पर से किनारे पर उतरकर स्वामीजी राजा बहादुर की सुसज्जित 'बोट' पर चढ़े।

'प्रचारशील हिन्दू' धर्म के सर्वप्रथम प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द के भारतीय भूमि पर शुभ पदार्पण करने के साथ ही सम्मिलित समस्त जन-समूह एक ध्वनि से उनकी जय-जयकार कर उठा। रामनद के नरेश भूमि पर लोटकर स्वामीजी के श्रीचरणों में नतमस्तक हुये और उनके साथ ही अन्य सहस्र सहस्र मस्तक भूमि को स्पर्श करने लगे। संध्या के लाल व धूसर आकाश के नीचे सहस्र सहस्र व्यक्तियों की इस स्वाभाविक उत्कट भक्ति से पूर्ण यह महिमामय दृश्य भारत के इतिहास में अपना अपूर्व स्थान रखता है। आचार्य देव ने राजाजी तथा आस पास के अन्य सज्जनों को भूमि पर से उठाकर आशीर्वाद दिया। समुद्र-तट पर सुंदर शामियाने के नीचे नागलिंगम् पिल्ले महोदय ने पाम्बान के अधिवासियों की ओर से स्वामीजी को एक अभिनन्दन-पत्र दिया। रामनद नरेश व एम० के० नायर महोदय के भावपूर्ण भाषणों के बाद स्वामीजी ने पाम्बाननिवासियों को धन्यवाद देकर मर्मस्पर्शी भाषा में एक छोटा सा भाषण दिया। अन्त में उन्होंने कहा, "रामनद नरेश ने मुझ से जो स्नेह दिखाया है इसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता भाषा द्वारा प्रकट करने में मैं असमर्थ हूँ। और यदि मेरे द्वारा थोड़ा भी सत्कार्य हुआ है तो इसके लिए भारतवर्ष इस महापुरुष का ऋणी है, क्योंकि मुझे शिकागो भेजने की कल्पना इन्हीं के मन में पहले पहल उठी थी। उन्होंने ही मेरे मस्तिष्क में यह भावना प्रविष्ट की थी और उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए मुझे बारम्बार उत्तेजित भी किया था। इस समय वे मेरे

पास खड़े होकर अपने स्वाभाविक उत्साह के साथ और भी अधिक कार्य की आशा कर रहे हैं। यदि इनकी तरह और कुछ नरेश हमारी प्यारी मातृभूमि के कल्याण के लिए आगे बढ़कर राष्ट्रीय उन्नति की चेष्टा करें तो बहुत ही अच्छा है।

सभा समाप्त होने पर स्वामीजी को उनके लिए निश्चित निवासस्थान पर ले जाया गया। राजाजी के आदेशानुसार गाड़ी से घोड़ों को खोल दिया गया और उपस्थित व्यक्तिगण, यहाँ तक कि स्वयं राजा बहादुर भी उस गाड़ी को खींचकर ले जाने लगे। दूसरे दिन स्वामीजी प्रसिद्ध श्री रामेश्वर मन्दिर का दर्शन करने गए। कोई पाँच वर्ष पूर्व इसी स्थान पर स्वामीजी ने अपने परिव्राजक-व्रत का उद्यापन किया था, उस समय वे एक अपरिचित संन्यासी मात्र थे। गाड़ी जब मन्दिर के सामने पहुँची तो हाथी, ऊँट, घोड़े तथा मन्दिरों के चिन्ह से युक्त झण्डों व संगीत-मण्डली के साथ एक विराट जुलूस ने स्वामीजी की अभ्यर्थना की। उन्होंने मन्दिर में प्रवेश कर सहस्र स्तम्भों से सुशोभित विराट भवन व विशाल मन्दिर के अपूर्व कारु कार्य-समूह का दर्शन किया। देवदर्शन समाप्त होने पर स्वामीजी को मन्दिर के बहुमूल्य मणि, मुक्ता, हीरक आदि दिखाये गए। अन्त में उनसे भाषण देने के लिए प्रार्थना की गई। स्वामीजी ने अंग्रेजी भाषा में भाषण दिया। उसके बाद श्री नागलिंगम् ने तामिल भाषा में उसका अनुवाद करके उसे जनसाधारण को समझा दिया। स्वामीजी ने भारत के अन्यतम पवित्र धाम के मन्दिर के प्रांगण में खड़े होकर घोषित किया—"यत्र जीव तत्र शिव।" इस महामंत्र में अनुप्राणित होकर प्रत्येक नर-नारी की सेवा में अग्रसर होना ही वास्तव में शिव-भक्ति है। जो व्यक्ति केवल बैठे बैठे उनके अंग प्रत्यंग, आँख, कान, नाक आदि की अपूर्व सुंदरता की प्रशंसा करते हुए स्तोत्रों का पाठ करके केवल प्रतिमा की ही सेवा में लगे रहते हैं, वे प्रवर्तक मात्र हैं, उनकी भक्ति परिपक्व नहीं हुई है।

उस दिन स्वामीजी के शुभागमन के उपलक्ष्य में हजारों दरिद्र-नारायणों को बड़े आनन्द से भोजन कराया गया। वस्त्र व धन बाँटे गए। भारतीय भूमि के जिस स्थान पर स्वामीजी ने पहले पहल पैर रखा था, उस पुण्य भूमि पर भक्तिमान रामनद-नरेश ने चालीस फीट ऊँचा एक स्मृति-स्तम्भ बनवा दिया। उस स्तम्भ पर लिखा है —

"Satyameva Jayate — This monument erected by Vaskara Sethupathi, Raja of Ramnad, marks the sacred spot, where His Most Holiness Swami Vivekananda's blessed feet first trod on Indian soil together with the Swamiji's English disciples on His Holiness' return from the Western hemisphere where glorious and unprecedented success attended His Holiness' philanthropic labours to spread the religion of Vedanta, on the 26th January 1897."

"सत्यमेव जयते — जिस स्थान पर महात्मा स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य जगत् में वैदान्तिक धर्म की विजय-वैजयन्ती को प्रोत्थित कर अद्वितीय दिग्विजय के बाद अपने अंग्रेज शिष्यों के साथ भारतीय भूमि पर अपने पवित्र पदपंकजों को पहले पहल रखा था उस पुण्य स्थान को चिन्हित करने के उद्देश्य से यह स्मृतिस्तम्भ रामनद नरेश राजा भास्कर सेतुपति द्वारा २६ जनवरी सन् १८९७ ई० को निर्मित किया गया।"

वहाँ से स्वामीजी ने रामनद की ओर यात्रा की। राजा बहादुर की व्यवस्था के अनुसार रामनद के निवासियों ने पहले से ही यथायोग्य अभ्यर्थना के लिए तैयारी की थी। स्वामीजी के बोट से ह्रद के तट पर उतरते ही उनके सम्मान के लिए राजभवन से तोपों की ध्वनि होने लगी। नगर के सुसज्जित राजपथ पर से होकर राजा बहादुर की गाड़ी पर चढ़े हुए स्वामीजी धीरे धीरे जाने लगे। राजा बहादुर, राजभ्राता तथा अन्य विशिष्ट कर्मचारीगण उनके पीछे पीछे पैदल चलने लगे। अंग्रेजी व देशी बाजे एक तान से बजने लगे। उनके पहुँचने के पहले से ही अभ्यर्थना-मण्डप भक्तों

तथा दर्शकों से भर चुका था! भक्तों के साथ स्वामीजी को आते देख दर्शकगण ने जय-ध्वनि के साथ उनका स्वागत किया। यथोचित भाषण देकर राजा बहादुर ने सभा का उद्घाटन किया। उसके बाद राजा बहादुर के आदेशानुसार उनके भाई राजा दिनकर वर्मा सेतुपति ने अभिनन्दन-पत्र पढ़कर सुनाया। अभिनन्दन-पत्र के उत्तर में स्वामीजी ने एक विस्तृत भाषण दिया। राजा बहादुर ने प्रस्ताव किया कि स्वामीजी के शुभागमन के उपलक्ष्य में मद्रास दुर्भिक्ष-भंडार के लिए जनसाधारण से चंदा इकट्ठा कर भेजा जाय। उक्त प्रस्ताव बड़े हर्ष के साथ सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ और उसके बाद सभा विसर्जित हुई।

परमकुड़ी, मनमदुरा, मदुरा, त्रिचनापल्ली व तंजोर आदि नगरों में अनेक प्रकार से अभिनंदित होकर स्वामीजी ने कुम्भकोणम् में पदार्पण किया। कुम्भकोणम्‌निवासी हिन्दुओं ने भी स्वामीजी को दो अभिनन्दन-पत्र दिये। अभिनंदन के उत्तर में स्वामीजी ने वेदान्त पर एक विवेचनापूर्ण भाषण दिया। इस विचार से कि मद्रास में जाकर उन्हें बहुत ही अधिक परिश्रम करना पड़ेगा, उन्होंने कुम्भकोणम् में तीन दिन विश्राम किया और उसके बाद वे मद्रास की ओर रवाना हुए।

विवेकानन्द मद्रास आ रहे हैं, यह समाचार पाकर मद्रास के निवासी उनकी सादर अभ्यर्थना के लिए पहले से ही तैयार हो गए। माननीय न्यायमूर्ति सुब्रह्मण्य अय्यर महोदय के नेतृत्व में अभ्यर्थना-समिति संगठित हुई। प्रत्येक भवन के शिखर पर रंग बिरंगे झंडे फहरने लगे, राजपथों को बड़े बड़े तोरणों से सुसज्जित किया गया तथा सारी मद्रास नगरी अपूर्व रूप से सुशोभित होकर स्वामीजी की सादर अभ्यर्थना के लिए उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगी। छः फरवरी को प्रातःकाल होते ही नगरनिवासी दल के दल रेलवे स्टेशन की ओर चल पड़े। प्लेटफार्म पर ट्रेन के आते ही सहस्र सहस्र कण्ठों से निकली हुई जय-ध्वनि ने आकाश को विदीर्ण कर दिया।

पुण्यमूर्ति विवेकानन्द के गाड़ी से उतरते ही अभ्यर्थना-समिति के सदस्यों ने आगे बढ़कर उन्हें पुष्पमालाओं से विभूषित किया। स्वामीजी कुछ मिनिट उपस्थित मान्य व्यक्तियों के साथ वार्तालाप करने के बाद गाड़ी पर चढ़े। न्यायमूर्ति सुब्रह्मण्य अय्यर, स्वामी निरंजनानन्द व स्वामी शिवानन्द उसी गाड़ी में स्वामीजी के साथ बैठे और गाड़ी धीरे धीरे अटर्नी बिलीग्रामी अय्यंगर महोदय के 'कैसल कर्नान' नामक प्रासादोपम भवन की ओर बढ़ी। थोड़ी दूर बढ़ने पर अनेक उत्साही युवकों ने गाड़ी से घोड़ों को अलग कर दिया और उसे स्वयं खींचकर ले जाने लगे। रास्ते में स्वामीजी के ऊपर लगातार फूलों की वर्षा होती रही। सैकड़ों स्त्री-पुरुष बड़ी श्रद्धा के साथ उन्हें नारियल तथा अन्य फलों का उपहार देने लगे। कोई कोई भद्र महिलाएँ राजपथ पर खड़ी होकर पंचप्रदीपों से उनकी आरती उतारने लगीं तथा श्रद्धा व भक्ति के साथ पुष्प व चन्दन द्वारा उन्हें अर्घ्यदान देने लगीं। इस अपूर्व अभ्यर्थना के बीच एक बड़ा मधुर दृश्य हुआ — एक उच्च वंश की वृद्ध महिला कम्पित पद से जनता को चिरती हुई गाड़ी के पास आ पहुँची। स्वामीजी का दर्शन करते ही वह भाव से गद्गद हो गई, उसकी दोनों आँखों से आनन्द के आँसू निकल पड़े, क्योंकि उसका स्थिर विश्वास था कि स्वामीजी साक्षात् शिवजी के अवतार हैं, अतः उनके दर्शन करने के साथ ही उसके सभी पाप व मलिनताएँ लुप्त हो गईं — अब इसमें सन्देह नहीं कि अन्त में वह शिवलोक को प्राप्त होगी। इस पवित्र दृश्य को देखकर सभी उपस्थित व्यक्ति विस्मित हो गए।

स्वामीजी के मद्रास में शुभागमन के उपलक्ष्य में हिन्दुओं में जो उत्साह व उमंग देखा गया था उसके सम्बन्ध में विख्यात 'हिन्दू' पत्र ने लिखा था,—

"आज रेलवे स्टेशन पर स्वामी विवेकानन्द की अभ्यर्थना के लिए उपस्थित विराट जनसमूह के उत्साह व धर्मानुराग का उचित रूप से वर्णन

करना असम्भव है। मद्रास के प्रमुख व्यक्तियों ने उपस्थित होकर विश्व-विख्यात संन्यासी का जो गौरवपूर्ण स्वागत किया है, उससे इस महादेश की अन्तर्निहित धार्मिक शक्ति स्पष्ट रूप से प्रकट हो गई है। भारत में धर्म-संस्कारकों को चिरकाल से ही इसी प्रकार की अभ्यर्थनाएँ प्राप्त हुई हैं। कट्टरपन ही हिन्दू जाति के चरित्र की विशेषता नहीं है और यह भी नहीं है कि वर्तमान आचार-व्यवहारों का परिवर्तन अवांछनीय है — यदि किसी पुरानी प्रथा को दूर कर किसी नये नियम का प्रचार करना हो तो स्वामी विवेकानन्द जैसे व्यक्ति को ही अधिकारी बनकर उसे सम्पन्न करना चाहिये। जब कोई धीरहृदय पवित्र आत्मा तथा सच्चा संस्कारक निष्काम होकर व्यक्तिगत उद्देशसिद्धि की इच्छा को छोड़कर जन-कल्याण के उद्देश से दृढ़ता के साथ अग्रसर होता है, तो आचार-नियम शून्य में लुप्त हो जाते हैं, चिरकाल की धारणायें व आदर्श आवश्यकतानुसार दूर फेंक दिये जाते हैं तथा बद्धमूल रूढ़ियाँ, रीति-नीति व मतवाद विलुप्त हो जाते हैं। स्वामीजी के प्रचारकार्य की सफलता का यही एक रहस्य है। समुद्र लाँघकर वे विदेशों में वेदान्त का झण्डा उठाकर ले गये थे, इसलिए हम चिराचरित प्रथा के अनुसार उनकी सादर अभ्यर्थना कर रहे हैं। उनके प्रति हमारी सादर श्रद्धा के साथ हमारा विश्वास है, कि पाश्चात्य देशों में उनके द्वारा जिस प्रकार वहाँ की जनता का कल्याण हुआ है उसी प्रकार उनके द्वारा इस देश में भी जनसधारण का विशेष कल्याण होगा।"

दूसरे दिन रविवार को प्रथा के अनुसार अभ्यर्थना-समिति की ओर से स्वामीजी को अभिनन्दन-पत्र दिया गया। खेतरी के महाराजा द्वारा भेजा हुआ अभिनन्दन-पत्र समर्पित होने के बाद क्रम से विभिन्न सम्प्रदाय, सभा व समितियों की ओर से दिये हुये संस्कृत, अंग्रेजी, तामिल, तेलगु आदि भाषाओं में कोई बीस अभिनन्दन-पत्र पढ़े गये। सभा-स्थान में दस हजार से भी अधिक व्यक्ति एकत्रित हुये थे जिनमें से अधिकांश हॉल में स्थान

न पाकर बाहर ही प्रतीक्षा कर रहे थे। अतः जनता के अनुरोध से स्वामीजी बाहर आकर एक गाड़ी के कोच बाक्स पर खड़े हो गये। उस समय लोगों को भगवान श्रीकृष्ण के रथ पर आरूढ़ होकर गीता का उपदेश देने का दृश्य स्मरण आ रहा था। ईश्वर की इच्छा से स्वामीजी यद्यपि इस ढंग से भाषण देने का अवसर पाकर आनन्दित हुये, परन्तु श्रोताओं की जय-ध्वनि व आनन्द-पूर्ण कोलाहल के कारण उनके लिए भलीभाँति भाषण देना असम्भव हो गया। अन्त में लाचार होकर स्वामीजी ने भाषण देने की चेष्टा न करते हुये संक्षेप में यही कहा कि वे जनसमूह के इस अपूर्व उत्साह को देख बड़े आनन्दित हुये हैं, परन्तु इस उत्साह को मिटने न देना चाहिये। भविष्य में स्वदेश के लिए अनेक बड़े बड़े कार्यों में इसी प्रकार की प्रज्वलित उत्साहाग्नि की आवश्यकता होगी।

दूसरे दिन मद्रास के विक्टोरिया हॉल में पाँच हजार श्रोताओं के सम्मुख उन्होंने 'मेरी समर-नीति' शीर्षक प्रसिद्ध भाषण दिया। इसके बाद क्रम से 'भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रयोग,' 'भारतीय महापुरुषगण,' 'हमारा वर्तमान कर्तव्य' तथा 'भारत का भविष्य' शीर्षक चार भाषण दिये। स्वामीजी ने मद्रास में शिष्य व भक्त मण्डली के साथ नौ दिन आनन्द के साथ व्यतीत किये। इसी समय एक दिन एक बहुत बड़े विद्वान स्वामीजी के साथ वेदान्त के सम्बन्ध में चर्चा करने के लिए आये। स्वामीजी का कथन सुनकर उन्होंने कहा, "स्वामीजी, वेदान्त के अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि सभी प्रकार के मतवाद सत्य हैं, तथा ये चरम उपलब्धि के पथ में भिन्न भिन्न सीढ़ियाँ हैं — यह बात तो पूर्वाचार्यों में से किसी ने नहीं कही।" आचार्य देव ने मृदु हास्य के साथ उत्तर दिया, "यह कार्य मेरे ही लिए नियत था, इसीलिए मैंने जन्म ग्रहण किया है।"

आचार्य देव जिस समय पाश्चात्य देशों में धर्मप्रचार के कार्य में नियुक्त थे, उस समय वीरहृदय मद्रासी युवकों ने नाना प्रकार की निन्दा, व्यंग्य व

विरोधिता सुनकर भी अविचलित रहकर श्री गुरुदेव द्वारा प्रदर्शित पद्धति से वेदान्त के प्रचारकार्य में आत्मनियोग किया था। ये साहसी, लगनशील तथा पवित्रहृदय युवकगण धन्य हैं, जिन्होंने भस्माच्छादित अग्निस्वरूप स्वामीजी को सब से पहले जगद्गुरु के रूप में पहचान लिया था! आज चार वर्ष के बाद उनके आराध्य देव के स्वदेश लौटने के उपलक्ष्य में मद्रास नगरी नौ दिनों के विराट महोत्सव का आयोजन कर रही है, यह देख उनके आनंद की सीमा न रही। शिष्यगण मद्रास में स्थायी रूप से एक प्रचार-केन्द्र की स्थापना करने की बात सोचने लगे। मद्रास के प्रतिष्ठित व्यक्ति व जन-साधारण द्वारा आग्रह के साथ यह प्रस्ताव अनुमोदित होने पर उन्होंने स्वामीजी के पास अपनी प्रार्थना निवेदित की और उनसे अनुरोध किया कि उक्त प्रचार-केन्द्र की स्थापना के लिए वे मद्रास में कुछ दिन और ठहरें। प्रचार-केन्द्र की स्थापना के संकल्प का स्वामीजी ने बड़े आनन्द के साथ अनुमोदन किया और वचन दिया कि इस कार्य के लिए वे शीघ्र ही एक सुयोग्य गुरुभाई को मद्रास भेज देंगे। तदनुसार थोड़े ही दिनों के बाद स्वामी रामकृष्णानन्द ने आकर मद्रास का कार्यभार ग्रहण किया। इसी बीच में इधर कलकत्ते से आग्रह के साथ आमंत्रण आने लगे। विशेष रूप से श्रीरामकृष्ण देव का जन्मोत्सव भी निकट जानकर गुरु को प्राणस्वरूप जानने वाले शिष्यों तथा स्वामीजी के मित्रों ने दुःख के साथ उन्हें कलकत्ता जाने के लिए विदा दी।

बहुत दिनों तक भारत के गाँव-गाँव तथा नगर-नगर में भ्रमण कर स्वामीजी ने जनसाधारण की सामाजिक व अर्थनैतिक दुर्गति का गम्भीर सहानुभूति के साथ निरीक्षण किया था। और हम पहले ही कह चुके हैं कि स्वामीजी का इस बात में विश्वास नष्ट हो चुका था कि उन्नति के लिए राजा-महाराजा, धनी व उच्च वंशियों द्वारा किसी प्रकार से स्थायी रूप में कोई सहायता मिल सकेगी। स्वामीजी का विश्वास था कि दाता के आसन पर बैठकर केवल दूर से ही पाश्चात्य लोक-हितवाद के आदर्श पर स्कूल, कालेज

व अस्पतालों की स्थापना कर देने से ही जनसाधारण की उन्नति न होगी। और दाता या उद्धारकर्ता के रूप में नहीं बल्कि सेवक के रूप में अन्न-वस्त्र, विद्या व ज्ञान लेकर जनसाधारण के बीच में श्रद्धा के साथ कर्म करने के लिए दृढ़हृदय कर्मियों की आवश्यकता है — स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रचारित सेवाधर्म की उत्पत्ति इन्हीं तत्वों से हुई है। इसी चिन्ता से उन्होंने भारतवर्ष की सेवा के लिए चरित्रवान, हृदयवान व बुद्धिमान युवकों का आह्वान किया — "भारत के दरिद्र, भारत के पतित, भारत के पापियों की सहायता करने वाला कोई मित्र नहीं है। * * * * राक्षस की तरह निर्दयी समाज उन पर लगातार जो आघात करता आ रहा है उसकी वेदना का अनुभव वे भलीभाँति कर रहे हैं, परन्तु वे नहीं जानते कि कहाँ से वह आघात आ रहा है। वे यह भी भूल गये हैं कि वे मनुष्य हैं, और इसका परिणाम है — दासत्व व पशुत्व।"

समाज की इसी हीन अवस्था के प्रतीकार के लिए वे चाहते थे, — "लाखों नरनारी पवित्रता के अग्निमंत्र में दीक्षित होकर, भगवान में दृढ़ विश्वासरूपी कवच को धारण कर दरिद्र, पतित व पददलितों के प्रति सहानुभूति से उत्पन्न सिंहविक्रम के साथ कमर कसकर समस्त भारत का भ्रमण करें तथा मुक्ति, सेवा और समाज की उन्नति व समता के मंगलमय संदेश का घर-घर प्रचार करें।"

आचार्य देव ने इस महान् व्रत के लिए जिन्हें बुलाया उन्हें विशेष रूप से यह स्मरण रखने के लिए कहा, "प्रतिष्ठित उच्चपदस्थ अथवा धनियों पर कोई भरोसा न रखो। भरोसा तुम्हारे ही ऊपर है, — पदमर्यादाहीन, दरिद्र परन्तु विश्वासी तुम्हीं लोगों पर भरोसा है। * * * * मैं बारह वर्षों तक हृदय में इस भार को और मस्तिष्क में इस चिन्ता को लेकर घूमा हूँ। मैं तथाकथित अनेकों धनी व बड़े आदमियों के घर-घर गया हूँ। उन्होंने मुझे जुआचोर समझा है।"

पाश्चात्य देशों में उन्होंने विश्वमानव के कल्याण के लिए सार्वभौमिक धर्म के शाश्वत सत्य का प्रचार किया था और भारत में लौटकर उन्होंने हमारी जराजीर्ण सभ्यता, समाज व प्राणहीन धर्माचरण की गतानुगतिकता पर अति निर्मम आघात किया। उनके कोलंबो से लेकर मद्रास तक के भाषणों में नवीन तत्व, नवीन भाव तथा नवीन कर्मशैली का परिचय पाकर देश के चिन्ताशील व हृदयवान व्यक्तियों ने समझा, नवयुग का प्रारम्भ करने योग्य अनुपम प्रतिभा व असाधारण हृदय लेकर ही यह संन्यासी स्वदेश के कर्मक्षेत्र में लौट आये हैं। जो किसी जाति की गतानुगतिक विचार व कर्मप्रणाली को तोड़ सकते हैं, तथा तोड़कर उसका पुनर्निर्माण कर सकते हैं—उन युगप्रवर्तक आचार्य देव ने स्पष्ट भाषा में कहा—

"लगभग एक शताब्दी से हमारा देश, समाजसंस्कारकों तथा उनके तरह तरह के समाज-संस्कार सम्बन्धी प्रस्तावों द्वारा आच्छन्न होता रहा है। परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि इस सौ वर्ष के संस्कार-आन्दोलन द्वारा समग्र देश का कोई भी स्थायी कल्याण सिद्ध नहीं हुआ है। * * * * गत शताब्दी में जिन सब संस्कारों के लिए आन्दोलन हुआ है, उनमें से अधिकांश दिखावे के ही थे। संस्कार की वे चेष्टायें केवल प्रथम दो वर्णों से सम्बन्धित थीं, अन्य वर्णों से नहीं। संस्कार करना हो तो ऊपर ऊपर देखने से काम न बनेगा। भीतर प्रवेश करना होगा, जड़ तक जाना होगा। * * * * दस वर्षों से भारतवर्ष के अनेक स्थानों में घूम फिर कर मैंने देखा कि समाजसुधार के लिए सभाओं तथा समितियों से देश छा गया है, परन्तु असल में जिनका रक्त खींचकर 'भद्र' कहलाने वाले व्यक्तिगण 'भद्र' पुरुष बने बैठे हैं तथा बन रहे हैं, उन बेचारों के लिए एक भी सभा मैंने नहीं देखी।"

विवेकानन्द अपने पूर्ववर्ती संस्कारकों की दोष-त्रुटियाँ निर्भीकता के साथ दिखाते हुए इस सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए बाध्य हुए थे कि,

"संस्कारकों का उद्देश्य व्यर्थ हुआ है और इसका कारण यह है कि उनमें से बहुत कम व्यक्तियों ने अपने धर्म का भलीभाँति अध्ययन और चर्चा की है और उनमें से एक भी व्यक्ति उस साधना के पथ से नहीं गया है, जो 'सभी धर्मों की उत्पत्ति' को समझने के लिए आवश्यक है। ईश्वर की कृपा से मैं दावा करता हूँ कि मैंने इस समस्या की मीमांसा की है।"

पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता व संस्कृति के सम्पर्क में आकर भारत के नागरिक-जीवन में जो चंचलता उपस्थित हुई थी, उसके परिणाम में दो चार प्रतिभाशाली व उदारहृदय संस्कारकों ने प्राचीन समाज के प्रति विद्रोह की घोषणा की थी और इस विद्रोह से ही पाश्चात्य कार्यप्रणाली के निर्विचार अन्ध अनुकरण-मूलक संस्कार-युग का सूत्रपात हुआ। इस सारी चेष्टा में यूरोपीय भाव की दासता को देख गम्भीर क्षोभ के साथ स्वामीजी ने इसका प्रतिवाद किया था, क्योंकि इसके सम्बन्ध में स्वामीजी के विचार इस प्रकार के थे:—

(१) इस संस्कार-युग का कोई ऐतिहासिक बोध नहीं है। यह संस्कार-युग इस बात को बिल्कुल नहीं समझ रहा है कि हिन्दू राष्ट्र कितनी बड़ी प्राचीन सभ्यता का वंशधर है, यह राष्ट्र कितने ही संस्कारों के बीच में से होकर युग-युगान्तर में कितने ही महापुरुषों को वक्ष पर धारण करता हुआ आज यहाँ पर आकर उपस्थित हुआ है,—तथा इस राष्ट्र का वर्तमान व भविष्य इसके उसी प्राचीन इतिहास द्वारा विशेष रूप से नियंत्रित होगा।

(२) इस संस्कार-युग को जातीय विशेषत्व का कोई ज्ञान न था। संस्कार-युग ने इस बात को सोचने की चिन्ता भी नहीं की कि प्रत्येक जाति की एक विशेषता होती है, स्वतंत्रता होती है,—जिसके लिए वह जीवित रहने की माँग कर सकती है, जिसके अभाव में उसका विनाश या मृत्यु अनिवार्य है। हिन्दू की जातीय विशेषता क्या है, यह भी वे नहीं समझे और न इस विषय में आत्मरक्षा की किसी प्रकार चेष्टा ही उन्होंने की। अपने देश

या अपनी जाति के नाम पर कोई सार्थक अभिमान भी संस्कार-युग का न था और इसी कारण —

(३) संस्कार-सम्प्रदाय के अन्यतम नेता आम सभा में यह कहने में ज़रा भी लज्जित नहीं हुए थे कि, " मैं हिन्दू नहीं हूँ और इस बात को स्वीकार करने को मैं तैयार हूँ।" इस संस्कार-युग का मानो यही एक मात्र उद्देश्य था कि जो कुछ भी हिन्दुओं का है तथा हिन्दुत्व है, वही घृणापूर्ण तथा त्याज्य है।

संस्कारकों की कार्यप्रणाली को स्वामीजी श्रद्धा की दृष्टि से देखने में असमर्थ रहे। ऊँगली पर गिने जाने योग्य कुछ अंग्रेजी शिक्षित नागरिक व उच्च वर्णों के बीच जो आन्दोलन सीमित था वह समाज के सभी स्तरों में सम्प्रसारित नहीं हुआ। इसका कारण हमने पहले ही बताया है। जातीय जीवन से विच्छिन्न विजातीय तथा वैदेशिक भाव में अनुप्राणित संस्कारकों को लक्ष्य कर स्वामीजी ने अपने निजी आदर्श की इस प्रकार घोषणा की:—

" संस्कारकों ने समाज को तोड़ मरोड़ कर जिस रूप में समाज-संस्कार की प्रणाली प्रदर्शित की है उसमें वे सफल न हो सके। इन संस्कारकों से मैं कहना चाहता हूँ कि मैं उनसे बड़ा संस्कारक हूँ। वे थोड़ा थोड़ा संस्कार चाहते हैं — पर मैं चाहता हूँ जड़ से संस्कार। हमारा उनका भेद है केवल संस्कार की प्रणाली में। उनकी प्रणाली है तोड़ डालने की, और मेरी प्रणाली है संगठन की। मैं संस्कार में विश्वास नहीं करता, मैं स्वाभाविक उन्नति में विश्वासी हूँ।"

पाश्चात्य देश से लौटकर स्वामीजी ने केवल ध्वंसमूलक संस्कार-आन्दोलन से ही अपने को पृथक् नहीं कर लिया, वरन् दूसरी ओर यह भी कह दिया कि सब प्रकार की सामाजिक उन्नति के विरोधी रक्षणशील समाज के युक्तिहीन कुसंस्कारों के भी वे पक्षपाती नहीं हैं। उनकी गठनमूलक कार्य-पद्धति का प्रथम निर्देश है, समाज के सभी स्तरों में क्रमसंकोच के स्थान पर

सम्प्रसारण की शक्ति का संचार करना। केन्द्रीभूत सामूहिक शक्ति अपने बल से जातीय जीवन के विकास की बाधाओं को दूर कर उसे आगे बढ़ने में प्रोत्साहित करेगी और इसी कारण वे किसी सामयिक संस्कार पर विश्वास नहीं कर सके। वे इस प्रकार विश्वास नहीं रखते थे कि समाज के किसी विशेष स्तर से कुछ आचार-व्यवहारों को उटा देने से अथवा कुछ नवीन आचार-व्यवहारों को प्रचलित कर देने से ही जाति की उन्नति होगी।

समाज की दुर्गति व व्याधियों के प्रति वे कभी उदासीन नहीं रहे। वर्तमान समाज की उन्नति व स्वाभाविक स्वस्थता केवल कुछ प्रथाओं के परिवर्तन पर ही निर्भर नहीं है। इस शरीर में यदि कोई रोग प्रविष्ट हो जाता है, तो वह भिन्न भिन्न अंगों में, भिन्न भिन्न रूप में प्रकट होता है। रोग व रोग के लक्षण दो अलग अलग चीज़ें हैं। मूल व्याधि की चिकित्सा न कर केवल दृश्यमान लक्षणों को ही दूर करने की चेष्टा करने पर वे दूसरे रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए सामयिक प्रतीकार के उद्देश्य से लक्षणों को हटाने की चेष्टा न करते हुए मूल रोग को दूर करने की चेष्टा ही विवेकानन्द की संगठनमूलक कार्य-पद्धति है। समाज-शरीर के मूल रोग के प्रति इशारा करते हुए उन्होंने कहा है,—

"अपनी सब प्रकार की दुर्दशा, अवनति व दुःख के लिए हम ही जिम्मेदार हैं — और सिर्फ हम ही जिम्मेदार हैं। हमारे उच्चवंशीय पूर्वज भारतीय सर्वसाधारण जनता को पददलित करने लगे — क्रमशः वे असहाय हो गए। इस सतत अत्याचार से बेचारे दरिद्र लोग धीरे धीरे यह भी भूल गए कि वे मनुष्य हैं। शत शत सदियों से उन्होंने बाध्य होकर क्रीत दास की तरह केवल पानी भरा है और लकड़ी काटी है। उन्हें ऐसा विश्वास करने के लिए शिक्षा दी गई है कि गुलामी करने के लिए ही उनका जन्म है, पानी पिलाने तथा बोझा ढोने के लिए ही वे पैदा हुए हैं। और यदि कोई उनके प्रति दया प्रकट कर उनसे सहानुभूति की दो एक बातें कहने जाय तो— आधुनिक काल के

शिक्षाभिमानी हमारे स्वजातीयगण इस पददलित जाति की उन्नति कराने में संकुचित हो जाते हैं।"

वंशपरम्परा से अथवा जन्मगत कुल सम्बन्धी गुणों की दुहाई देकर जिस बर्बर व पाशविक मतवाद के द्वारा मनुष्य को हीन, अन्त्यज, पंचम आदि नाम दिये जाते हैं उस मूढ़ता पर स्वामीजी ने तीव्र भाषा में आक्रमण किया है, क्योंकि यह विश्वास (और वह भी पाश्चात्यों के आसुरी मदवाद द्वारा पुष्ट) भारत के तथाकथित उच्च वर्णों की नस नस में मौजूद है। थोड़ा सा विचार करने से स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि संस्कार की आवश्यकता यहीं पर है। बाहर से नहीं, भीतर से इस मानसिक श्रेष्ठत्व के अभिमानरूपी रोग को दूर करना होगा। इस भ्रान्त मतवाद पर आक्रमण करते हुए स्वामीजी ने कहा,—

"यदि वंश-परम्परा से भावसंक्रमण के नियमानुसार ब्राह्मण विद्या सीखने के लिए अधिकतर योग्य हैं तो ब्राह्मणों की शिक्षा के लिए धन व्यय न करके अस्पृश्य जाति की शिक्षा के लिए सारा धन लगा दो। दुर्बल की सहायता पहले करो। ब्राह्मण यदि बुद्धिमान होकर ही पैदा हुए हैं तो वह दूसरों की सहायता के बिना ही शिक्षा प्राप्त कर लेंगे। पर जो लोग बुद्धिमान होकर जन्म ग्रहण नहीं करते— शिक्षकों की आवश्यकता उन्हीं के लिए है। मुझे तो यही न्याय व युक्ति संगत प्रतीत होता है। अतः इन बेचारे दीन जनों को, भारत के इन पददलित मनुष्यों को उनका वास्तविक स्वरूप समझाना होगा। जाति, वर्ण तथा सबलता व दुर्बलता के भेदभाव को छोड़कर सभी स्त्री-पुरुषों एवं प्रत्येक बालक-बालिका को सुना दो तथा सिखा दो कि सबल, दुर्बल, उच्च, नीच सभी के हृदय में अनन्त आत्मा मौजूद है— अतः सभी व्यक्ति महान् बन सकते हैं, सभी साधु हो सकते हैं।"

यही विवेकानन्द की व्यापक रूप से समाज संस्कार की पद्धति है। वेदान्त के जिन सब तत्वों को 'पारमार्थिक' बताकर व्यावहारिक जगत् में उनका प्रयोग करने में प्राचीन भारत असमर्थ हुआ था तथा मानवात्मा की

मंगल महिमा पर जन्मगत अपवित्रता का आरोप कर जिस गम्भीर अधःपतन का कारण उपस्थित किया गया था,— उसी कमी की पूर्ति के लिए स्वामीजी ने समाज के हित की दृष्टि से वेदान्त के तत्वों का कार्यरूप में प्रयोग करने का परामर्श दिया है। जिस अज्ञानता से भेद-बुद्धि व सामाजिक वैषम्यवाद उत्पन्न हुआ है, उसे दूर करने के लिए उन्होंने नव्य भारत से कहा,—"वेदान्त के सब महान् तत्व केवल अरण्यों या पर्वतों की गुफाओं में ही सीमित न रहेंगे वरन् विचारालयों में, उपासना-गृहों में, दरिद्रों की कुटियों में, साधारण व्यक्तियों के घरों में, छात्रों की पाठशालाओं में—सर्वत्र, ये तत्व आलोचित तथा कार्यरूप में परिणत होंगे।" प्रत्येक जाति के, प्रत्येक वंश के तथा प्रत्येक समाज के प्रत्येक बालक-बालिका को उसी भाव में तैयार करने के लिए उन्होंने लोक-शिक्षा का एक नवीन आदर्श उपस्थित किया।

आचार्य देव समाज को अखण्ड रूप से ही लेते थे, वे अंश को नहीं वरन् समग्र को लेकर विचार करते थे। खण्ड खण्ड रूप से किसी विशेष प्रथा को उठा देने के लिए विगत शताब्दी की व्यर्थ चेष्टा को दुहराने में शक्ति का क्षय न करते हुए वे जाति के प्रत्येक अंग में स्वाभाविक स्वास्थ्य फिर से लौटा लाना चाहते थे। इस शरीर में यौवन के आगमन से जिस प्रकार सभी अंग पुष्ट व विकसित हो उठते हैं, उसी प्रकार जाति यदि स्वस्थ, बलशाली व क्रियाशील है तो जहाँ पर जिस संस्कार की आवश्यकता होगी वह स्वयं ही सुसम्पन्न हो जायगा। इसीलिए उन्होंने कहा है, "मैं संस्कार में विश्वास नहीं रखता, स्वाभाविक उन्नति का विश्वासी हूँ।"

भारत के जातीय जीवन के पुनर्गठन में स्वामीजी के इस आदर्श को हम वैदान्तिक साम्यवाद कह सकते हैं। जिस तामसिक जड़वाद ने मनुष्य के पारस्परिक भेद व विषमता को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है,—जिसने करोड़ों नर-नारियों को नीच, अस्पृश्य तथा अन्त्यज मान लेना सिखाया है, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में मानवात्मा की मंगलमयी महिमा का प्रचार करना

होगा। परन्तु आदर्श का प्रचार करने के लिए आदर्श चरित्रवान मनुष्य चाहिए। इस श्रेणी के मनुष्यों की तलाश में स्वभावतः उन्होंने चरित्रवान व स्वदेश-प्रेमी शिक्षित युवकों की ओर दृष्टिपात किया था। पर उन्होंने यह भी देखा था कि शिक्षित युवकों में अनेक सद्गुण रहते हुए भी प्रचलित शिक्षा-पद्धति के दोष से मानो उनके जातीय चरित्र की रीढ़ की हड्डी टूटी जा रही है। जिस समय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद अथवा हिन्दू विश्वविद्यालय आदि की किसी ने कल्पना तक न की थी, उस समय स्वामीजी ने एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था स्थापित करने का संकल्प व्यक्त किया था जिस पर विदेशियों का किसी प्रकार का अधिकार न हो। लौकिक शिक्षा को जातीय आदर्श के अनुकूल बनाने के लिए उनकी इच्छा थी कि वे भारत के अनेकों केन्द्रों में अनेक शिक्षालयों की स्थापना करें। इन शिक्षालयों में शिक्षित युवक नए सिरे से शिक्षा प्राप्त करें और आचार्य, प्रचारक व लौकिक विद्या के शिक्षा-दाताओं के रूप में वे समाज के निम्नतर स्तर से शिक्षा देना प्रारम्भ करें। "एक ओर ब्राह्मण व दूसरी ओर चाण्डाल — चाण्डाल को धीरे धीरे ब्राह्मणत्व में उन्नत करना ही उनकी कार्यप्रणाली होगी।" "उच्च वर्णों की शिक्षा व सदाचार, जिन पर उनका तेज व गौरव निर्भर है, निम्न जातीयगण भी बेरोक टोक प्राप्त कर सकें" यही नवीन शिक्षाप्रणाली की विशेषता होगी।

कोलम्बो से मद्रास तक आचार्य देव का प्रत्येक भाषण नवीन भारत का उद्बोधन मंत्र था। आत्मविश्वासहीन, जातीय ऐक्य-बोध से वंचित तथा अनेक आघातों से म्रियमाण भारत-सन्तानों ने सुना, —

"आगामी पचास वर्ष तक तुम लोग एक मात्र 'स्वर्गादपि गरीयसी' जननी जन्मभूमि की आराधना करो — इन वर्षों में दूसरे देवताओं को भूल जाने में भी कोई हानि नहीं। दूसरे देवगण सो रहे हैं, इस समय तुम्हारा एक मात्र देवता है तुम्हारा राष्ट्र। सभी स्थानों में उसका हाथ है, उसके सतर्क कर्ण सभी जगह मौजूद हैं, वह सभी स्थानों में व्याप्त होकर विद्यमान है। तुम

लोग किसी निष्फल देवता की खोज में दौड़ रहे हो और अपने सामने तथा चारों ओर जिस देवता को देख रहे हो, उस विराट की उपासना नहीं कर रहे हो। * * * ये सब मनुष्य तथा ये सब पशु ही तुम्हारे ईश्वर हैं और तुम्हारे स्वदेशनिवासीगण ही तुम्हारे प्रथम उपास्य हैं।"

चिर काल से शान्त भारतीय जनसमूह में एकाएक आविर्भूत होकर विवेकानन्द ने आँधी की तरह उसे विक्षुब्ध कर दिया, भारत के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक उनकी सत्य की अमोघ वीर्यपूर्ण वाणी फैल गई। परन्तु कार्य कितना हुआ ? भगवान विष्णु ने जिस प्रकार तीसरे अवतार में समुद्र-वेष्टित पृथ्वी को प्रलय-पयोधि से अमित शक्ति द्वारा खींचकर उठा लिया था, उसी प्रकार व्यग्रता व अधीरता के साथ भारत को हीनता के कीचड़ से खींच कर उबार लेने के लिए विवेकानन्द ने अपने विशाल बाहुओं को प्रसारित कर दिया। परन्तु पाश्चात्य देशों से उनके लौटने बाद जो उत्साह देखा गया था वह स्थायी न हुआ। दो वर्ष, तीन वर्ष प्रतीक्षा करके भी विवेकानन्द को 'मातृ-मंत्र में दीक्षित सहस्र युवक' प्राप्त न हुए। बेलुड़ मठ के गंगा-तट पर स्थित बिल्व वृक्ष के नीचे बैठकर विवेकानन्द अपने अन्तिम दिनों में विलाप कर कहा करते थे, जिन्हें बुलाया वे न आए। अनेक शताब्दियों के संस्कार, गतिहीन जीवन-यात्रा की गतानुगतिकता का पाषाणभार, इतने अल्प समय में दूर होने का नहीं था। बाणविद्ध केशरी की तरह क्षुब्ध गर्जना से लोकारण्य को प्रकम्पित कर नव भारत के मंत्रगुरु चले गए, परन्तु उनका संकल्प अमर बना रहा। उनके देहत्याग के तीन वर्ष बाद ही हमने बंगाल के राष्ट्रीय जीवन में युगान्तकारी अकल्पनीय परिवर्तन देखा। स्वदेशी आन्दोलन से जाग्रत बंगाल ने अब पहचाना — विवेकानन्द कौन थे। उनकी प्राणप्रद, जीवनशक्ति-संचारिणी वाणी का नवीन बंगाल ने नए सिरे से अनुभव किया। विवेकानन्द के प्रथम दर्शन से जाग्रत भारत को आगे चलकर तिलक व गान्धीजी के नेतृत्व में विशाल सामूहिक

आन्दोलन के बीच में राष्ट्रीय एकता व उन्नति का मूल सूत्र प्राप्त हुआ। भारत में मानव-मुक्ति की साधना के लिए आज जो अथक चेष्टा हो रही है, इसको भविष्य दृष्टि के बल पर उसी समय प्रत्यक्ष रूप से देखकर विवेकानन्द ने कहा था, "अब केन्द्र भारतवर्ष है।"

१५ फरवरी सोमवार को स्वामीजी मद्रास से कलकत्ता जाने वाले जहाज़ पर चढ़े। कोलम्बो से मद्रास तक लगातार व्याख्यान, वार्तालाप, साक्षात्कार आदि से वे बहुत थक गए थे। लोकमान्य तिलक ने उनसे पूना जाने के लिए बहुत अनुरोध करते हुए एक पत्र लिखा था, परन्तु प्रबल इच्छा होते हुए भी स्वामीजी ने पूना की यात्रा स्थगित रखी। कुछ दिन विश्राम की आशा से ही उन्होंने स्थल-पथ छोड़कर जल-पथ से कलकत्ते की यात्रा की थी। मन ही मन वे सोच रहे थे, इन अभिनन्दन-सभाओं तथा व्याख्यानों को समाप्त कर कब मैं हिमालय की गोदी में विश्राम प्राप्त करूँगा।

स्वामी विवेकानन्द के भारत में लौटने का समाचार फैलने के समय से ही बंगाल प्रान्त और विशेष कर कलकत्ता शहर बड़ी उत्सुकता के साथ उनके शुभागमन की प्रतीक्षा कर रहा था। उनके मद्रास से समुद्र-पथ द्वारा कलकत्ता आने का समाचार पाकर नागरिकों की ओर से संयोजित स्वागत समिति अनेकानेक तैयारियाँ करने लगी।

स्वामीजी अपने शिष्यों के साथ जब जहाज़ पर से खिदिरपुर में उतरे तो उन्होंने देखा कि उन्हें स्यालदाह ले जाने के लिए एक स्पेशल ट्रेन खड़ी है। प्रातःकाल ७॥ बजे गाड़ी धीरे धीरे स्यालदाह प्लेटफार्म पर आकर खड़ी हुई। गाड़ी की वंश-ध्वनि के साथ ही सहस्र सहस्र सम्मिलित कण्ठों से उच्चारित 'जय श्रीरामकृष्ण देव की जय,' 'जय श्री स्वामी विवेकानन्दजी की जय' की ध्वनि से स्टेशन गूँज उठा। स्वामीजी ने ट्रेन से उतरकर हाथ जोड़ एकत्रित जनसमूह को प्रणाम किया। बाबू नरेन्द्रनाथ सेन तथा अभ्यर्थना-

समिति के प्रमुख सदस्यों ने अनेक कष्ट से भीड़ को पार कर उनके सम्मुख उपस्थित होकर उनकी सादर अभ्यर्थना करते हुए तरह तरह की पुष्पमालाओं से उन्हें विभूषित किया। सहस्र सहस्र सम्मान व आग्रहपूर्ण नेत्रों को अपनी ओर आकृष्ट करते हुए कीर्तिमान संन्यासी ने श्रीमान तथा श्रीमती सेविअर के साथ चार घोड़े वाली गाड़ी में आरोहण किया। युवकगण गाड़ी से घोड़ों को खोलकर स्वयं ही उसे खींचकर ले जाने लगे। पत्र, पुष्प, पल्लव, ध्वजा, पताका आदि से सुशोभित तीन सुन्दर तथा सुसज्जित फाटकों को लाँघकर गाड़ी रिपन कालेज में आ पहुँची। वहाँ पर कुछ देर, आए हुए विद्वानों को समयोचित वार्तालाप द्वारा परितृप्त कर स्वामीजी ने उनसे विदा ली। उस दिन अपने गुरुभाइयों के साथ भिक्षा ग्रहण करने के लिए उन्हें पहले से ही बागबाजार के राय पशुपति नाथ बहादुर के भवन में आमंत्रित किया गया था। दोपहर वहीं बिताकर तीसरे प्रहर वे अपने साथियों के साथ काशीपुर के गोपाल लाल शील महोदय के बगीचे वाले मकान में आए। उनके पाश्चात्य शिष्य व शिष्याओं के साथ विश्राम करने के लिए उक्त भवन को अभ्यर्थना-समिति के अधिकारियों ने अस्थायी रूप से दे दिया था।

प्रातःकाल से सायंकाल तक दर्शकों की भीड़ लगी रहती थी — कोई तत्व के जिज्ञासु थे तो कोई केवल कौतूहलयुक्त दर्शक थे। विश्राम में विघ्न होने पर भी स्वामीजी असन्तुष्ट न होकर बड़े आदर के साथ सभी से वार्तालाप करते थे और रात को आलमबाजार मठ में जाकर भविष्य कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में गुरुभाइयों के साथ चर्चा करते थे। अब भारत तथा बंगाल के अनेक स्थानों से आग्रहपूर्ण निमंत्रण आने लगे, परन्तु स्वामीजी कुछ दिन कलकत्ते में रहकर अपने आदर्श का प्रचार तथा प्रचार-कार्य की सुविधा के लिए संघ-स्थापना का उद्योग करने लगे।

एक सप्ताह के बाद २८ फरवरी को कलकत्ता-निवासियों की ओर से सर राजा राधाकान्त देव के शोभाबाजार के प्रासाद के विशाल प्रांगण में एक

अभिनन्दन-सभा बुलाई गई। विशिष्ट नागरिक, पण्डित, उच्च यूरोपीय अधिकारीगण तथा विशेष रूप से कालेजों के विद्यार्थी नियत समय से पहले ही सभा में उपस्थित हो गये। लगभग पाँच हजार व्यक्ति उस सभा में सम्मिलित हुए थे। स्वामीजी के सभा-भवन में प्रविष्ट होते ही एकत्रित जनता ने बड़े सम्मान के साथ खड़े होकर उनकी जय ध्वनि का उच्चारण किया। विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा शिष्टाचार व कुशल प्रश्नादि के बाद सभापति राजा विनय कृष्ण देव बहादुर ने खड़े हो, अभिनन्दन-पत्र पढ़ा तथा उसको चाँदी के पात्र में रखकर स्वामीजी को अर्पित किया। अभिनन्दन पत्र में पाश्चात्य देशों में वेदान्त, हिन्दू सभ्यता व संस्कृति के प्रचार करने वाले संन्यासी को भारत तथा बंगाल के मुख को उज्ज्वल करने वाली सन्तान कहकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी।

अपनी जन्मभूमि में सहस्त्र सहस्त्र स्वदेशवासी और विशेष रूप से युवकों से हार्दिक अभ्यर्थना पाकर स्वामीजी ने जो अपूर्व भाषण दिया था, उसे समग्र जनता ने मंत्रमुग्ध की तरह सुना था। लोगों को ऐसा प्रतीत होता था मानो यह कोई नवीन व्यक्ति हैं और नवीन स्वर से बातें कर रहे हैं, मानो भारत की शाश्वत आत्मा शरीर धारण करके नवीन भारत को नवीन आशा द्वारा संजीवित करने के लिए अमृत वाणी, अभय वाणी का उच्चारण कर रही है। भारतवर्ष की परम आवश्यकता की उपलब्धि के लिए उन्होंने जिस तपस्या के साथ जीवन को व्यतीत किया है वही मर्मकथा सर्वप्रथम उनके कण्ठ से व्यक्त हुई:—

"मनुष्य अपनी मुक्ति की चेष्टा से जगत्-प्रपंच के साथ अपने सम्बन्ध को सम्पूर्ण रूप से विच्छिन्न करना चाहता है। मनुष्य अपने आत्मीय स्वजन, स्त्री-पुत्र परिवार, मित्र सम्बन्धियों की माया हटाकर संसार से दूर— अति दूर भाग जाना चाहता है। वह चेष्टा करता है कि देह से उत्पन्न सभी सम्बन्धों को तथा पुराने सभी संस्कारों को त्याग दे।— यहाँ तक कि मनुष्य

स्वंय साढ़े तीन हाथ के शरीर को धारण करने वाला मानव है, यह भी भूल जाने के लिए प्राणपण से चेष्टा करता है; परन्तु अपने हृदय के अन्तर्भाग में वह सदा एक ही मृदु अस्फुट ध्वनि सुनता है, उसके कान में सदा एक ही सुर गूँजता रहता है और न जाने कौन दिन-रात उसके कान में धीरे धीरे कहता रहता है, 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'।"

एक ओर व्यक्तिगत मुक्ति की कामना, दूसरी ओर राष्ट्रीय जीवन में उन्नतिशील गतिवेग का संचार कर समष्टि की मुक्ति — इन दो आपातविरोधी आदर्शों के संघर्ष को हमने उनके साधक व परिव्राजक जीवन में बार बार देखा है। मुक्ति के इस महान् प्रयत्न की सर्वश्रेष्ठ चेष्टा में समाधिकामी साधक ने कन्याकुमारी में भारतवर्ष के अन्तिम शिलाखण्ड पर बैठकर देह-त्याग का संकल्प किया था, परन्तु सूर्य-चन्द-नक्षत्रों से विहीन महाशून्य में, देश काल-पात्र को लाँघकर उनका मन ऊपर न उठ सका, नाम-रूप-विहीन ब्रह्म-समाधि के स्थान पर उनके ध्यान में जननी जन्मभूमि का रूप प्रकट हुआ! उनका ध्यान भंग हुआ। अश्रुपूर्ण नेत्रों से उन्होंने कहा था, "जननि, मैं मुक्ति नहीं चाहता, तुम्हारी सेवा ही मेरे जीवन का एक मात्र अवशिष्ट कर्म है।"

इस साधना द्वारा प्राप्त स्वदेश-प्रेम-यज्ञ के उद्बोधन के लिए महाभाग ऋत्विग् ने उदात्त कण्ठ से वेद-मंत्र का उच्चारण कर अपने प्रिय यजमान भारतीय युवकों को पुकारा था। उस अविनश्वर वाणी के पवित्र कम्पन से भारत का वायुमण्डल परिपूर्ण हो रहा है — उस कम्पन में स्वदेशप्रेमी साधक की हृदयरूपी वीणा के तारों में चिरकाल ध्वनित होता रहेगा — "मैं तुम्हारे पास इन गरीब, अज्ञ, अत्याचारपीड़ितों के लिए सहानुभूति, यह प्राणपण चेष्टा दाय के रूप में दे रहा हूँ। जाओ, इसी मुहूर्त में उस पार्थसारथि के मन्दिर में जो गोकुल में दीन दरिद्र गोपों के सखा थे, जिन्होंने अपने बुद्ध अवतार में राजपुरुषों के आमंत्रण को अस्वीकृत कर एक वेश्या का निमंत्रण ग्रहण करके उसका उद्धार किया था; जाओ, उनके पास जाकर

साष्टांग प्रणाम करो और उनके सामने एक महान् बलिदान दो; बलिदान — जीवन का बलिदान और वह भी उनके लिए जिनके लिए वे युग युग में अवतीर्ण होते हैं, जिनसे वे सब से अधिक प्यार करते हैं, उन दीन, दुःखी, पतित, उत्पीड़ितों के लिए। तुम लोग समग्र जीवन भर इन तीस करोड़ भारतवासीयों के उद्धार का व्रत ग्रहण करो, — जो दिन पर दिन डूब रहे हैं।"

अपनी जन्मभूमि में खड़े होकर विवेकानन्द ने 'कल्पनाप्रिय, भावुक' नाम से उपहसित बंगाली युवकों से मातृभूमि के लिए महान् बलिदान की प्रार्थना की। "वीर बनो, श्रद्धासम्पन्न बनो, चरित्र के तेज व वीर्य को जाग्रत कर महान् उत्साह के साथ कार्य में प्रवृत्त हो जाओ" — इस श्रेणी की बातें बंगाली युवकों ने पहले पहल सुनीं। "इस कलकत्ता नगरी के राजपथ पर एक नगण्य बालक की तरह मैं भी खेलता हुआ घूमता फिरता था, इच्छा होती है आज इसी धूलि पर बैठकर तुम लोगों से मन की बातें खोलकर कहूँ" — इसी प्रकार के निष्कपट आवेग के साथ स्वामीजी ने बंगाली युवकों से पुकारकर कहा, "हे बंगाली युवको' मेरे इस कार्य-भार को तुम लोग ग्रहण करो। इस कार्य की उन्नति और विस्तार को मेरी कल्पना से कहीं आगे बढ़ा ले जाओ। मैंने सूचना मात्र दे दी है, केवल दिग्दर्शन करा दिया है, तुम लोग इसकी पूर्ति करो। वर्तमान युग की जिम्मेदारी व कर्तव्य को समझ लो। अन्य किसी देश के युवकों के कंधे पर कभी इतना बड़ा भार नहीं पड़ा था। मैंने लगभग पिछले दस वर्षों से सारे भारतवर्ष का भ्रमण किया है, — मेरी यह दृढ़ भावना है कि बंगाल के युवकों के बीच में से ही वह शक्ति प्रकट होगी जो भारत को उसके योग्य आध्यात्मिक अधिकार में प्रतिष्ठित करेगी।"

केवल इन सब बातों को कहकर ही स्वामीजी शान्त न हुए। सामने एक जीता जागता गुणयुक्त आदर्श न रहने पर चरित्र गठित नहीं होता। "किसी महान् आदर्श पुरुष में विशेष अनुरागी बनकर उनके झण्डे के नीचे खड़े हुए बिना कोई भी राष्ट्र उठ नहीं सकता।

* * * * श्रीरामकृष्ण परमहंस देव में हमने इसी प्रकार के एक धर्मवीर — इसी प्रकार के एक आदर्श को प्राप्त किया है। यदि यह राष्ट्र उठना चाहे, तो मैं ऊँचे स्वर से घोषित करता हूँ, — इसी नाम पर सब को मतवाला बनना पड़ेगा। इसीलिए हमारे राष्ट्रीय कल्याण के लिए, हमारी धार्मिक उन्नति के लिए, कर्तव्य-बुद्धि द्वारा परिचालित होकर इस महान् आध्यात्मिक आदर्श को तुम्हारे सम्मुख स्थापित कर रहा हूँ, — यही श्रीरामकृष्ण परमहंस देव हमारे राष्ट्र के कल्याण व देश की उन्नति के लिए, समग्र मानव जाति के हित के लिए तुम्हारे हृदयों को खोल दें, जो महान् युगान्तर अवश्यम्भावी है, उसकी सहायता के लिए तुम लोगों को निष्कपट व दृढ़व्रत बनाएँ।"

अपने गुरु, अपने आचार्य, अपने जीवन के आदर्श एवं इष्ट श्रीरामकृष्ण परमहंस देव की बातों को इससे पूर्व स्वामीजी ने किसी आम सभा में इस प्रकार स्पष्ट भाषा में कभी नहीं प्रचारित किया था। न्यूयार्क में शिष्यों के अनुरोध से श्रीरामकृष्ण के जीवन व आदर्श के सम्बन्ध में 'मेरे गुरुदेव' शीर्षक विश्वविख्यात भाषण उन्होंने दिया था और मद्रास के भाषणों में स्थान स्थान पर श्रीरामकृष्ण की बातों का उल्लेख मात्र किया है। परन्तु भारत के पुनरुत्थान के लिए हमें श्रीरामकृष्ण को ही आदर्श के रूप में ग्रहण करना होगा, इस प्रकार दृढ़ता के साथ इससे पूर्व उन्होंने कभी घोषित नहीं किया था। यही प्रथम बार उन्होंने बंग देश को लक्ष्य करके स्पष्ट भाषा में कहा, "तुम्हें अच्छा लगे या न लगे, इसके लिए प्रभु का काम रुका न रहेगा। वे मामूली धूलिकण से भी अपने कार्य के लिए सैकड़ों हजारों कर्मियों को उत्पन्न कर सकते हैं। उनके अधीन रहकर कार्य करना तो हमारे लिए महान् सौभाग्य व गौरव की बात है।"

स्वामीजी के कलकत्ता आने के कुछ ही दिन बाद श्रीरामकृष्ण परमहंस देव की जन्मतिथि के उपलक्ष्य में महोत्सव का शुभ दिन आ गया। उन दिनों दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में ही उक्त उत्सव का अनुष्ठान होता था।

नियत दिन प्रातःकाल स्वामीजी अपने पाश्चात्य शिष्य व शिष्याओं के साथ दक्षिणेश्वर आए। विराट जनसमूह उन्हें देखने के लिए उत्सुक हो उठा। जनता के आग्रहपूर्ण अनुरोध पर उन्होंने कई बार भाषण देने की चेष्टा की, परन्तु उत्सव के आनन्द-कोलाहल के बीच भाषण देना सम्भव न हो सका। स्वामीजी बालक की तरह प्रसन्नमुख हो इधर उधर घूमते हुए श्रीरामकृष्ण के भक्तों के साथ वार्तालाप करने लगे। इसके बाद उत्सव की समाप्ति पर प्रसन्न चित्त से आलमबाजार मठ में लौट आए।

अपनी जन्मभूमि में लौटकर स्वामीजी ने केवल अभ्यर्थना व संवर्धना ही प्राप्त नहीं की। पाश्चात्य देशों में जिन भारतीय भद्र महोदयों ने ईसाई पादरियों के साथ सम्मिलित होकर स्वामीजी के विरुद्ध तरह तरह की झूठी अफवाहों का प्रचार किया था, वे स्वदेश में भी शान्त नहीं रहे। नव विधानी ब्राह्म श्री बी० मजुमदार ने स्वामीजी के आचरण व चरित्र के सम्बन्ध में जघन्य निन्दात्मक कुछ पुस्तकें लिखकर अपने शोचनीय मानसिक दैन्य का परिचय दिया था। ईसाई पादरी व ब्राह्मों के कोलाहल के साथ बंगवासी पत्रिका के ब्राह्मण पण्डित भी बंगला गाली-मिश्रित देव-भाषा में विवेकानन्द की निन्दा का प्रचार करने लगे। "जो व्यक्ति पास में कौड़ी न रहते हुए तथा विदेश में शून्य से भी बीस डिग्री नीचे की शीत में खुले स्थान में रात्रि व्यतीत करने में भयभीत नहीं हुए, उन्हें उनके स्वदेश में डराना बड़ा कठिन है!" इस निन्दनीय प्रचार-कार्य को देख उत्तेजित होने वाले सहकर्मियों से स्वामीजी ने केवल इतना ही कहा, "भला सही या बुरा सही, वे मेरे सम्बन्ध में कुछ कहते तो हैं।"

श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव के थोड़े ही दिनों बाद स्वामीजी ने स्टार रंगमंच पर एक भाषण दिया। भाषण का विषय था 'सर्वावयव वेदान्त'। इस भाषण में उन्होंने 'बंगवासी' के आश्रित भद्र वर्णाश्रमी ब्राह्मण पण्डितों की कुयुक्ति व कुतर्कों का खण्डन किया था। स्वामीजी ने सबसे पहले यह प्रमाणित

किया कि वेदान्त-शास्त्र की समय समय पर भिन्न भिन्न आचार्यों द्वारा विभिन्न रूप से व्याख्या की जाने के कारण अनेक विरोधी दार्शनिक मतवाद उत्पन्न हो गए हैं और धीरे धीरे आध्यात्म-साधना से विच्छिन्न होकर वेदान्त-शास्त्र दार्शनिक पण्डितों के उर्वर मस्तिष्क का व्यायाम-क्षेत्र सदृश ही बन गया है। जिन लोगों ने कुछ पुराण, कुछ आधुनिक स्मृति-ग्रन्थ व विशेष रूप से लोकाचार व देशाचार को ही धर्म मान लिया है, उनके भ्रान्त विश्वास को दूर करने के लिए स्वामीजी ने यह दिखाया कि वेदान्त कोई दुर्बोध्य दर्शन-शास्त्र नहीं है, असल में वही सनातन धर्म की नींव है। वेदान्तरूपी मसाला उठाकर स्वामीजी ने वर्तमान सामाजिक आचार व धर्माचरण की शोचनीय दुर्गति का प्रदर्शन किया। बंगाल प्रान्त में तथाकथित सनातन पन्थी लोग वर्णाश्रम धर्म की महिमा का कीर्तन व खाद्याखाद्य के विचार को लेकर घोर कलह कर रहे थे, परन्तु धर्म को केवल पाकशाला की सीमा में ही सीमित रखने से वर्णाश्रम की रक्षा हो सकेगी, यह एक पागल जैसी धारणा है। जिस देश में चातुर्वर्ण्य नहीं है — प्राचीन वर्णाश्रम धर्म बहुत दिनों तक सुप्त रहकर जहाँ कालक्रम से एक अद्भुत जातिभेद-प्रथा प्रचलित हुई है, विशेषतः बंगाल प्रान्त में सनातन धर्मी, ब्राह्मण व शूद्र के अतिरिक्त अन्य दो वर्णों का अस्तित्व तक नहीं मानते हैं, वहाँ पर यदि कोई वास्तव में वर्णाश्रम की स्थापना करना चाहे तो एक ही जाति की विभिन्न शाखाओं को फिर से एकत्रित कर वर्ण के अनावश्यक विभागों को उठा देना होगा। यदि बंगाल प्रान्त में क्षत्रिय व वैश्य हों तो उन्हें यज्ञोपवीत व वेद-पाठ का अधिकार देना चाहिए। प्रसंगक्रम से धर्मसंस्कार के लिए स्वामीजी ने बंगाल प्रान्त की कुलगुरु-प्रथा को मूर्ख शास्त्रज्ञानविहीन ब्राह्मणों व वैष्णवों का धार्मिक व्यवसाय तथा अवैदिक व अशास्त्रीय बताया तथा तांत्रिक साधना के नाम से जो जघन्य इन्द्रिय-परतंत्रता पनप रही है उसकी भी तीव्र समालोचना की। स्वामीजी ने अपने इस भाषण में

स्वमतवाद व कार्य-प्रणाली की अत्यन्त स्पष्ट भाषा में घोषणा कर सर्वसाधारण को समझा दिया कि कुसंस्कार व कट्टरपन के साथ वे समझौता न करेंगे। अद्वैत वेदान्त के अस्त्र द्वारा वर्तमान प्रचलित विषमता को नष्ट करना ही उनका व्रत है।

इसके बाद स्वामीजी ने कलकत्ते में और भाषण नहीं दिये। कोलम्बो से कलकत्ते तक एक ही तरह के अभिनन्दन-पत्र व भाषणों से वे ऊब गए थे। भाषणों द्वारा सामयिक उत्तेजना अवश्य उत्पन्न हो जाती है, परन्तु वह स्थायी नहीं होती। इस बात को ध्यान में रखते हुए स्वामीजी व्यक्ति-विशेष को उपदेश देना, चरित्र गठन में सहायता करना इत्यादि कार्यों में अधिकतर आग्रह प्रकट करने लगे। इस समय स्वामीजी के पास जो लोग आते थे उनमें सभी धर्मोपदेश लेने के लिये नहीं आते थे। कोई उन्हें केवल देखने के लिए और कोई कौतूहलवश उनकी परीक्षा लेने भी आया करते थे।

वेदान्त व अद्वैतवाद के प्रचारक बंगाली संन्यासी की ख्याति को सुन एक दिन वेद व दर्शनशास्त्र के ज्ञाता कुछ गुजराती पण्डित उनके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए आ पहुँचे।

"इन पण्डितों में सभी संस्कृत भाषा में अस्खलित वार्तालाप कर सकते थे। उन्होंने आते ही मण्डली-परिवेष्टित स्वामीजी को सम्बोधित करते हुए संस्कृत भाषा में वार्तालाप प्रारम्भ किया। स्वामीजी भी संस्कृत में ही उत्तर देने लगे। * * * पण्डित लोग प्रायः एक ही साथ चीत्कार करते हुए संस्कृत में स्वामीजी से दार्शनिक विषयों पर कुछ कठिन प्रश्न करते जा रहे थे और स्वामीजी प्रशान्त गम्भीर भाव से धीरे धीरे उन प्रश्नों की मीमांसा करने वाले अपने सिद्धान्तों को कहते जाते थे। यह भी अच्छी तरह स्मरण है कि स्वामीजी की संस्कृत भाषा पण्डितों की भाषा की तुलना में अधिक मधुर तथा सुललित थी। यह बात पण्डितों ने भी स्वयं बाद

में कही थी। तर्क में स्वामीजी ने सिद्धान्त-पक्ष का अवलम्बन किया था और पण्डितों ने पूर्व-पक्ष का। शिष्य को स्मरण है, स्वामीजी ने कहीं 'स्वस्ति' के स्थान पर 'अस्ति' का प्रयोग कर दिया था जिससे पण्डित लोग हँस पड़े। इस पर स्वामीजी उसी समय बोले, "पण्डितानां दासोऽहम्, क्षन्तव्यमेतत्स्खलनम्,"—"मैं पण्डितों का दास हूँ, मेरी व्याकरण की इस अशुद्धि के लिए क्षमा कीजिए।" पण्डित लोग भी स्वामीजी के इस प्रकार के नम्र व्यवहार से मुग्ध हुए। बहुत देर तक वादानुवाद के बाद अन्त में पण्डितों ने सिद्धान्त-पक्ष की मीमांसा को मान लिया तथा अन्त में प्रीति सम्भाषण कर वे जाने को उद्यत हुए। दो चार आगन्तुक भद्र महोदयों ने उस समय उनके पीछे पीछे जाकर उनसे पूछा, "महाशयगण, स्वामीजी को आप लोगों ने कैसा पाया?" इसके उत्तर में एक वृद्ध पण्डित ने कहा था, "व्याकरण में गम्भीर व्युत्पत्ति न रहने पर भी स्वामीजी शास्त्र के गूढ़ अर्थ के द्रष्टा हैं, मीमांसा में अद्वितीय हैं और उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से वाद-खण्डन में अद्भुत पाण्डित्य प्रदर्शित किया है।"*

आलमबाजार मठ के अन्यान्य रामकृष्ण-शिष्य संन्यासियों ने अपने प्रियतम 'नेता नरेन्द्रनाथ' को सम्मान के साथ ग्रहण तो कर लिया, परन्तु उनके प्रचारित संन्यास व कर्मयोग के नवरूपान्तरित आदर्श को कोई कोई सहसा ग्रहण न कर सके। ध्यान, तप आदि साधनों की सहायता से मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा ही संन्यास-जीवन का आदर्श है — इस चिराचरित प्रथा का ही वे अनुसरण करते आ रहे थे। सांसारिक सुख-दुःख, उन्नति, अवनति आदि की परवाह न करते हुए भूतप्रकृति को लाँघकर देश-कालातीत सत्ता की उपलब्धि करने के लिए जो चेष्टा की जाती है उसे स्वार्थपरता बता कर स्वामीजी उन्हें धर्मप्रचार, शिक्षा-विस्तार आदि कार्यों में

---

* श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित 'विवेकानन्दजी के संग में' पुस्तक से उद्धृत।

नियुक्त होने के लिए अनुरोध करने लगे। उनमें से कई व्यक्ति स्वामीजी के उपदेश का मर्म समझने में असमर्थ होकर अपनी अभ्यस्त रीति-नीति को छोड़ने में सोचविचार करने लगे। स्वामीजी भी हटने वाले न थे। वे दृढ़ता के साथ उन्हें अपने मत में लाने के लिए चेष्टा करने लगे। श्रीरामकृष्ण की जीवनी व उपदेश स्वामीजी की प्रतिभा के आलोक में नवीन रूप में प्रकट हुए। उन्होंने उन्हें समझा दिया कि यदि वे युगधर्म के प्रचार-कार्य में सन्नद्ध न हो सकेंगे तो श्रीरामकृष्ण देव के आगमन का उद्देश्य व्यर्थ हो जाएगा। मन्दिर व प्रतिमा की सीमा से भगवान को बाहर लाकर 'यत्र जीव तत्र शिव' के मंत्र में 'विराट' की पूजा के लिए अग्रसर होना होगा। प्राचीन काल के संन्यासियों की तरह पर्वतों की गुफाओं में अथवा कुटियों के अन्दर बैठकर केवल आत्मसाक्षात्कार की चेष्टा में लगे रहने से न बनेगा। संसार के कर्म-क्षेत्र में खड़े होकर मानव-जाति को उच्च कार्यों में प्रेरणा देनी होगी—करोड़ों भारतीयों की अज्ञता व हृदय का अन्धकार दूर करना होगा। स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों को अपने जीवन का उद्देश्य समझाकर कहा कि भारत के कल्याण की कामना से ऐसे एक नवीन संन्यासी-सम्प्रदाय की स्थापना करनी होगी—जो मानव की सेवा के व्रत में अपनी अपनी मुक्ति की कामना का परित्याग तो करेंगे ही, साथ ही आवश्यक हो तो आनन्द के साथ नरक में जाने तक को तैयार होंगे। "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" ही श्रीरामकृष्ण अवतीर्ण हुए थे, उनके शिष्य होकर यदि हम दूसरों के लिए आत्मोत्सर्ग न कर सके—उनके द्वारा प्रचारित महान् युगादर्श की उपलब्धि करने में असमर्थ हों तो साधारण व्यक्ति और हम में अन्तर ही क्या है?

धीरे धीरे संन्यासीगण उनकी युक्ति की यथार्थता को समझने लगे। इसके प्रथम परिणाम के रूप में पुण्यस्मृति स्वामी रामकृष्णानन्द—जो विगत बारह वर्षों में एक दिन के लिए भी श्रीरामकृष्ण की पूजा, आरती

व अर्चना छोड़ अन्य कहीं भी नहीं गए थे — स्वामीजी के अनुरोध से वेदान्त के प्रचारकार्य के लिए दक्षिण में चले गए। स्वामी अभेदानन्द व शारदानन्दजी द्वारा पाश्चात्य देशों में प्रचारकार्य के भार-ग्रहण की बात हम इससे पहले कह ही चुके हैं। स्वामीजी के उत्साह से प्रेरित होकर कर्मीश्रेष्ठ स्वामी अखण्डानन्दजी ने भी मुर्शिदाबाद में दुर्भिक्ष पीड़ित नर-नारियों की सेवा के लिए प्रस्थान किया। गुरुभाइयों को कर्म में लगे हुए देख स्वामीजी को आशातीत आनन्द हुआ।

अनेक वर्षों के कठोर परिश्रम से स्वामीजी का वज्र जैसा दृढ़ शरीर भी अस्वस्थ हो गया। शारीरिक अस्वस्थता की परवाह न करते हुए वे मठ के ब्रह्मचारी व नवदीक्षित शिष्यों को गीता, उपनिषद आदि भाष्य के साथ स्वयं पढ़ाने लगे। डाक्टर लोग उन्हें कुछ दिनों के लिए सब प्रकार के मानसिक परिश्रम से अवकाश लेने का उपदेश देने लगे। अन्त में स्वामीजी उनके उपदेशों को उचित समझकर दार्जिलिंग जाने के लिए तैयार हुए। उनके साथ श्रीमान् व श्रीमती सेविअर, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वर्गीय गिरीश-चन्द्र घोष, श्री० गुडविन, डाक्टर टर्नबुल तथा उनके तीन मद्रासी शिष्य आलासिंगा पेरुमल, जी० जी० नरसिंहाचार्य तथा सिंगरावेलु मुदालियर भी दार्जिलिंग गए। वर्दवान के महाराजा बहादुर ने बड़ी श्रद्धा के साथ अपने 'रोज बैंक' नामक भवन के एक भाग को उनके निवास के लिए दे दिया। दार्जिलिंग के श्री एम० एम० बैनर्जी ने स्वयं प्रवृत्त होकर श्रद्धा व भक्ति के साथ स्वामीजी तथा उनके साथियों को अपना आतिथ्य ग्रहण कराया। लग-भग दो मास दार्जिलिंग में रहकर भी उनके स्वास्थ्य में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। इधर बेकार रहकर दिन व्यतीत करना उनके लिए असम्भव हो उठा। अतः वे फिर से कलकत्ता लौट आए।

स्वामीजी जिस समय पाश्चात्य देशों में थे उस समय कुछ युवक आलमबाजार मठ में सम्मिलित होकर ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत कर रहे थे।

अब वे स्वामीजी से संन्यास की दीक्षा ग्रहण करना चाहते थे। स्वामीजी उनके उत्साह को देख आनंदित हुए, परन्तु एक व्यक्ति के सम्बन्ध में उनके गुरुभाइयों ने कुछ अड़चनें प्रकट कीं। उस व्यक्ति का पूर्व जीवन अच्छा न था, इसलिए उसे संन्यास देकर मठ में सम्मिलित करने की कुछ लोगों की इच्छा नहीं थी। स्वामीजी अपने गुरुभाइयों का अभिप्राय समझ, उन्हें बुलाकर कहने लगे, "यदि हम पापियों को आश्रय देने में संकुचित होंगे तो फिर वे और कहाँ आश्रय पायेंगे? इसने जब पवित्र जीवन व्यतीत करने का संकल्प कर अब संसार को छोड़ दिया है, तो इसकी सहायता करना हमारा कर्तव्य है। यदि तुम उच्छृंखल व गिरे हुए व्यक्तियों के चरित्र का संशोधन करने में असमर्थ हो तो गैरिक पहनकर तुमने आचार्यत्व का ग्रहण क्यों किया है?" पतितपावन स्वामीजी की इच्छा ही पूर्ण हुई और उनके गुरुभाइयों ने फिर अधिक कोई आपत्ति प्रकट न की।

"स्वामीजी वैदिक क्रिया-काण्ड में पूरा पूरा विश्वास रखते थे। शास्त्र के मतानुसार सब क्रियाकाण्ड ठीक ठीक सम्पन्न न होने पर वे बड़े असन्तुष्ट होते थे। आज कल जिस प्रकार गेरुआ वस्त्र धारण कर बाहर निकल जाने से ही कई लोग समझ लेते हैं कि संन्यास की दीक्षा सम्पन्न हो गई, स्वामीजी का विचार उस प्रकार का नहीं था। गुरु-परम्परा से प्राप्त प्राचीन काल से प्रचलित ब्रह्मविद्या-साधनोपयोगी संन्यास ग्रहण करने के पूर्व अनुष्ठेय नैष्ठिक संस्कारों का ब्रह्मचारियों द्वारा वे यथारीति साधन करा लेते थे।

"श्राद्ध समाप्त करने के बाद संन्यास-व्रत ग्रहण करने के इच्छुक शिष्यों ने आकर जब स्वामीजी के चरणकमलों की वंदना की तो उस समय स्वामीजी ने उन्हें आशीर्वाद देकर कहा, 'तुम लोग मानव-जीवन के श्रेष्ठ व्रत को ग्रहण करने के लिए उत्साहित हुए हो, धन्य है तुम्हारा जन्म, धन्य है तुम्हारा वंश,—और धन्य है तुम्हारी माता जिसने तुम्हें जन्म दिया है। 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था।'

"उसके बाद संन्यास-आश्रम के माहात्म्य का वर्णन करते हुए स्वामीजी का तपस्या से उज्ज्वल मुखमण्डल स्वर्गीय ज्योति से उद्भासित हो उठा। वे कहने लगे — 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ही संन्यासी का जन्म है। संन्यास लेकर जो लोग इस उच्च आदर्श को भूल जाते हैं — वृथैव तस्य जीवनम्। दूसरों के हितार्थ प्राण देने के लिए — जीवों के गगनभेदी क्रन्दन को दूर करने के लिए, विधवाओं के आँसू पोंछने के लिए, पुत्र के वियोग से तड़पती हुई माता के प्राण में शान्ति देने के लिए, अज्ञ जनसाधारण को जीवनसंग्राम के योग्य बनाने के लिए, — शास्त्रोपदेशों के प्रचार के द्वारा सभी के इहलौकिक व पारमार्थिक कल्याण के लिए तथा ज्ञान का प्रकाश देकर सभी में सोये हुए ब्रह्मरूपी सिंह को जाग्रत करने के लिए संसार में संन्यासी का जन्म हुआ है।' इसके बाद अपने भाइयों को लक्ष्य कर कहने लगे, 'आत्मनोः मोक्षाय जगद्धिताय च' हमारा जन्म हुआ है। क्या कर रहे हो बैठे हुए? उठो, — स्वयं जागो! स्वयं जाग कर दूसरों को जगाओ! — मनुष्य जन्म को सार्थक करके चले जाओ। — उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।" *

स्वामीजी आलमबाजार मठ में व बागबाजार के बलराम बसु महाशय के मकान में रहकर बड़े उत्साह के साथ युगधर्म का प्रचार करने लगे। इस कार्य के लिए श्रीरामकृष्ण भक्त-वृन्द को संघबद्ध करने के लिए उनके मन में बहुत समय से संकल्प हो रहा था। इस समय स्थिति को अनुकूल देखकर उन्होंने संघ की स्थापना करने का अभिप्राय प्रकट किया। १८९७ ई० की १ मई को स्वामीजी के आह्वान पर श्रीरामकृष्ण देव के गृहस्थ व संन्यासी भक्तगण तीसरे प्रहर बलराम बाबू के मकान पर इकट्ठे हुए। स्वामीजी इन सब भक्तों को लक्ष्य करके कहने लगे — "अनेक देशों में भ्रमण करके मेरा यह विश्वास हो गया है कि संघ के अतिरिक्त कोई बृहत् कार्य नहीं हो सकता। परन्तु हमारे जैसे देश में पहले से ही साधारण तंत्र के अनुसार संघ बनाना

---

* 'विवेकानन्दजी के संग में' पुस्तक से उद्धृत।

अथवा जनसाधारण की सम्मति (वोट) लेकर काम करना उतना सुविधाजनक नहीं मालूम पड़ता। इस देश में शिक्षा के विस्तार के द्वारा जब जनसाधारण अधिक मात्रा में सहृदय बनेंगे — जब वे मत-मतान्तर की संकीर्ण सीमा के बाहर अपने विचारों को प्रसारित करना सीखेंगे, उस समय साधारण तंत्र के अनुसार संघ का कार्य चल सकेगा। इसलिए इस संघ का एक डिक्टेटर अथवा प्रधान परिचालक रहना आवश्यक है। सभी को उनका आदेश मानकर चलना होगा। इसके बाद समय पर सभी की राय लेकर काम किया जायगा।

"हम जिनके नाम पर संन्यासी बने हैं, आप लोग जिन्हें जीवन का आदर्श बनाकर संसाराश्रम के कार्यक्षेत्र में मौजूद हैं, जिनके देहावसान के बाद दस वर्षों में प्राच्य व पाश्चात्य जगत में उनके पवित्र नाम व अद्भुत जीवन का आश्चर्यजनक प्रसार हुआ है, यह संघ उन्हीं के नाम पर प्रतिष्ठित होगा। हम प्रभु के दास हैं, आप लोग इस कार्य में सहायक बनें।"

स्वर्गीय गिरीशचन्द्र घोष आदि प्रमुख गृहस्थों द्वारा यह प्रस्ताव अनुमोदित होने के बाद रामकृष्ण संघ की भावी कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में चर्चा होने लगी। संघ का नाम रखा गया —'रामकृष्ण प्रचार' अथवा 'रामकृष्ण मिशन'। उसके उद्देश्य आदि हम उसके छपे हुए विज्ञापन से उद्धृत करते हैं :—

उद्देश्य — मानवसमाज के हित के लिए श्रीरामकृष्ण देव ने जिन सब तत्वों की व्याख्या की है तथा कार्यरूप में उनके जीवन में जो तत्व प्रतिपादित हुए हैं, उनका प्रचार तथा मनुष्य की शारीरिक, मानसिक व पारमार्थिक उन्नति के लिए जिस प्रकार उन सब तत्वों का प्रयोग हो सके, उन उन विषय में सहायता करना इस 'प्रचार' (मिशन) का उद्देश्य है।

व्रत — जगत् के सभी धर्ममतों को एक अखण्ड सनातन धर्म का रूपान्तर मात्र समझते हुए सभी धर्मावलम्बियों के बीच आत्मीयता की स्थापना के लिए श्रीरामकृष्ण देव ने जिस कार्य का प्रारम्भ किया था उसका परिचालन ही इस 'प्रचार' का व्रत है।

कार्यप्रणाली — मनुष्य की सांसारिक व आध्यात्मिक उन्नति के लिए विद्यादान देने योग्य व्यक्तियों को शिक्षा देना, शिल्प व श्रमोपजीविका को प्रोत्साहित करना तथा वेदान्त व दूसरे धर्मों के भाव जिस रूप में श्रीरामकृष्ण के जीवन में व्याख्यात हुए थे उसे समाज में प्रवर्तित करना।

भारतवर्षीय कार्य — भारतवर्ष के नगर में आचार्य-व्रत को ग्रहण करने के अभिलाषी गृहस्थ अथवा संन्यासियों की शिक्षा के लिए आश्रमों की स्थापना तथा ऐसे उपायों का अवलम्बन करना जिनके द्वारा वे देश-देशान्तरों में जाकर जनता को शिक्षित बना सकें।

विदेशीय कार्य-विभाग — भारत के बाहर दूसरे देशों में 'व्रत-धारियों' को भेजना तथा उन उन स्थानों में स्थापित सभी आश्रमों के साथ भारतीय आश्रमों की घनिष्ठता व सहानुभूति को बढ़ाना और नये नये आश्रमों की स्थापना करना।

स्वामीजी उक्त समिति के साधारण सभापति बने, स्वामी ब्रह्मानन्द कलकत्ता केन्द्र के सभापति तथा स्वामी योगानन्द उनके सहकारी कर्म बने। बाबू नरेन्द्रनाथ मित्र, अटर्नी महाशय इसके सेक्रेटरी, डा० शशिभूषण घोष व बाबू शरच्चंद्र सरकार अण्डर सेक्रेटरी तथा बाबू शरच्चन्द्र चक्रवर्ती* शास्त्रपाठक निर्वाचित हुए। साथ ही साथ यह भी नियम बना कि प्रति रविवार को दिन के चार बजे स्वर्गीय बलराम बाबू के मकान पर समिति की बैठक होगी।

पूर्वोक्त सभा के बाद तीन वर्षों तक 'रामकृष्ण मिशन' समिति के अधिवेशन प्रति रविवार को बलराम बसु महाशय के मकान पर होते रहे। कहना न होगा कि स्वामीजी दुबारा विलायत जाने तक सुविधानुसार समय समय पर समिति के अधिवेशन में उपस्थित रहकर कभी उपदेश देते थे और कभी अपने किन्नर-कण्ठ से भजन आदि गाकर श्रोताओं को मुग्ध करते थे।

श्रीरामकृष्ण मिशन की स्थापना होने के बाद कोई कोई रामकृष्ण-भक्त

---

* 'विवेकानन्दजी के संग में' पुस्तक के लेखक।

सन्देह करने लगे कि स्वामीजी वैदेशिक पद्धति से कार्य कर रहे थे। एक दिन सायंकाल बलराम बाबू के मकान पर स्वामीजी गुरु-भाइयों के साथ वार्तालाप कर रहे थे। इसी समय उनके एक संन्यासी गुरुभाई ने सहसा प्रश्न किया कि वे श्रीरामकृष्ण का प्रचार क्यों नहीं कर रहे हैं तथा श्रीरामकृष्ण की शिक्षा के साथ उनके द्वारा प्रचारित आदर्शों की समता कहाँ है, क्योंकि एकान्त भक्ति के साथ अनन्यचित्त होकर साधन-भजन की सहायता से केवल ईश्वर की उपलब्धि की चेष्टा करना ही श्रीरामकृष्ण देव का आदर्श था। दूसरी ओर स्वामीजी सभी को कर्म, रोगी व दीनदुखियों की सेवा, शिक्षा का विस्तार, धर्म का प्रचार आदि करने का उपदेश दे रहे हैं। ये सब कर्म मन को स्वाभाविक रूप से ही बहिर्मुख कर डालते हैं तथा साधना के लिये विघ्नकर हैं। स्वामीजी जो लोकहित के उद्देश्य से मठ, मिशन, वेदान्तसमिति, सेवाश्रम आदि की स्थापना करने का संकल्प कर रहे हैं, स्वदेश-प्रेम के बीच में से मानव-सेवा के व्रत का प्रचार कर रहे हैं—यह सब पाश्चात्य आदर्श जैसे लगते हैं, क्योंकि श्रीरामकृष्ण देव का सर्वत्याग ही मूल मंत्र था।

बाहर के लोगों की दृष्टि में विश्वविख्यात विवेकानन्द जो भी क्यों न हों, गुरुभाई व भक्तमण्डली की दृष्टि में वे सदैव वही हास्यरसिक, व्यंग्यमुखर नरेन्द्रनाथ थे। व्यंग्यप्रिय स्वामीजी उस गुरुभाई को लेकर प्रथमतः व्यंग करने लगे। उन्होंने हँसी में कहा, "क्या तुम्हारे कहने का उद्देश यह है कि लिखना पढ़ना, जन साधारण में धर्म का प्रचार, आर्त, रोगी-अनाथ आदि की सेवा या जनता का दुःख दूर करने की चेष्टा से ही माया में आबद्ध हो जाना पड़ेगा। हाँ, एक बार श्रीरामकृष्ण देव ने किसी व्यक्तिविशेष से कहा था—'ईश्वर की खोज करो, जगत् का उपकार करने जाना केवल अनधिकार चर्चा है।' तो केवल इसी पर से यदि इन सब कामों को बुरा समझो तो तुमने श्रीरामकृष्ण देव का उद्देश्य ज़रा भी नहीं समझा।"—यह कहते कहते उनके व्यंग्य का भाव अदृश्य हुआ। वेदान्तकेसरी गरजकर बोल उठे, "क्या

तुम समझते हो कि श्रीरामकृष्ण को तुमने मेरे से भी अधिक समझा है ? क्या तुम समझते हो कि ज्ञान शुष्क पाण्डित्य मात्र है—जो हृदय की कोमल वृत्तियों का विनाश कर एक शुष्क उपाय के अवलम्बन से उपार्जन किया जाता है ? तुम जिस भक्ति का उल्लेख कर रहे हो वह मूर्खों की भावुकता मात्र है, जो मनुष्य को कापुरुष व कर्मविमुख कर डालती है। श्रीरामकृष्ण के प्रचार की बात कर रहे हो ? तुम और मैं उनके अनन्त भावों में से कितनों की कल्पना कर सके हैं जो हम उन्हें जगत् को सिखाने जायँ ? छोड़ो इन बातों को। कौन तुम्हारे श्रीरामकृष्ण को चाहता है, कौन तुम्हारी 'भक्ति', 'मुक्ति' को लेकर माथापच्ची करता है ? शास्त्र क्या कह रहे हैं या नहीं कह रहे हैं, कौन सुनता है ? यदि मैं घोर तमोगुण में डूबे हुए अपने स्वदेशवासियों को कर्मयोग के द्वारा अनुप्राणित कर वास्तव मनुष्य की तरह अपने पैरों पर खड़ा कर देने में समर्थ हूँ, तो मैं आनन्द के साथ लाख बार नरक जाऊँगा। मैं तुम्हारे रामकृष्ण या अन्य किसी का चेला नहीं हूँ। जो लोग अपनी भक्ति मुक्ति की कामना को छोड़ दरिद्रनारायण की सेवा में जीवन को उत्सर्गित करेंगे—मैं उन्हीं का चेला—भृत्य—क्रीतदास हूँ।" आवेग से स्वामीजी का मुख-मण्डल लाल हो उठा उसमें स्वर्गीय करुणा का चित्र अंकित हो उठा—पराधीनता के चक्र में पड़कर मनुष्यत्व को खो बैठनेवाले भारतवासियों के असीम दुःख की असहनीय स्मृति उनके हृदय को मथित कर जाग उठी—मानो अपने विशाल वीर वक्ष को विदीर्ण होने की आशंका से उन्होंने दोनों हाथों द्वारा छाती को दबाकर जल्दी से अपने विश्राम-कक्ष में प्रवेश कर दरवाजा बन्द कर लिया। दो-एक लोगों ने धीरे धीरे अग्रसर होकर बड़ी सावधानी के साथ खिड़की पर खड़े होकर देखा आचार्य देव भूमि पर बैठे भाव-समाधिस्थ हो गए हैं! भय व विस्मय से गुरुभाई-गण एक दूसरे के मुँह की ओर ताकने लगे। प्रायः एक घण्टे के बाद जब वे फिर से अपने गुरुभाइयों के बीच में लौटे उस समय आँधी के बाद

मथित समुद्र की तरह उनकी गम्भीर मूर्ति को देख किसी की वाणी न निकली। थोड़ी देर मौन रहकर उन्होंने कहा, "जिसका हृदय भक्ति से पूर्ण हो गया है उसके स्नायु इतने कोमल हो जाते हैं कि साधारण फूल का भी आघात सहन नहीं होता; तुम लोग जानते हो, मैं आजकाल प्रेम-भक्ति सम्बन्धी कोई पुस्तक पढ़ नहीं सकता! श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में अधिक देर तक बातचीत करने से ही मैं भाव से अभिभूत हो जाता हूँ। हृदय के इस भक्ति-प्रवाह की गति को रोकने के लिए मैं लगातार चेष्टा कर रहा हूँ। कर्म की कठिन शृंखला से मैंने अपने को बाँध कर रखा है, क्योंकि अभी भी जगत् को मेरा जो सन्देश देने को है वह समाप्त नहीं हुआ। इसीलिए जब भी मैं देखता हूँ कि भक्ति का प्रबल प्रवाह मुझे बहाकर ले जाना चाहता है, उसी समय कठोर ज्ञान के कठिन दण्ड को उठाकर आघात करता हुआ उन भावों को संयत कर लेता हूँ। हाय! मुक्ति नहीं है! अभी मुझे अनेकों कर्म करने होंगे, मैं श्रीरामकृष्ण का क्रीतदास हूँ। वे जो अपने कर्मों का भार मेरे कन्धों पर छोड़ गए हैं, जब तक उसे समाप्त न कर सकूँ तब तक तो वे विश्राम करने न देंगे!"

इस विषय को लेकर चर्चा के प्रसंग में पूजनीय स्वामी शारदानन्दजी ने एक दिन हमसे जो कुछ कहा था, वह जहाँ तक हमें स्मरण है लिपिबद्ध कर रहे हैं,—"एक दिन दक्षिणेश्वर में हम सब बैठे थे। श्रीयुत नरेन्द्रनाथ भी उस दिन उपस्थित थे। दया, परोपकार इत्यादि विषयों पर बातचीत होते होते श्रीरामकृष्ण देव भाव के आवेग में कहने लगे, 'जीव पर दया, नाम में रुचि, वैष्णवों की सेवा — और दया? कौन किस पर दया करेगा? दया नहीं,— दया नहीं, सेवा — सेवा!' थोड़ी देर बाद नरेन्द्रनाथ ने बाहर आकर मुझसे कहा, 'आज श्रीरामकृष्ण देव ने जो कहा, कुछ समझा!' यह जानकर कि मैंने नहीं समझा, उन्होंने कहा, 'बुद्धि हो तब तो समझोगे? ओह! ओह! आज क्या ही नवीन आलोक प्राप्त हुआ! यदि जीवित रहूँ

तो देख सकोगे'।" उस समय श्रीरामकृष्ण देव के इस प्रकार के छोटे छोटे उपदेशों में जो गम्भीर तत्व निहित हैं उन पर अनेकों ने सोचा तक नहीं था। इतने दिनों के बाद स्वामीजी से उन सब वाक्यों का ठीक ठीक अर्थ सुनकर उनके गुरुभाई बड़े विस्मित हुए। उन्होंने समझा कि अनन्त भाव-मय श्रीरामकृष्ण देव को सम्यक् रूप से समझना बहुत ही कठिन है। धीरे धीरे स्वामीजी की कार्यप्रणाली का विशेष रूप से पर्यवेक्षण कर जिनके मन में पूर्वोक्त प्रकार का सन्देह उपस्थित हुआ था वे भी निश्चित रूप से समझ गए कि स्वामीजी श्रीरामकृष्ण देव के भाव का ही प्रचार कर रहे हैं। हँसी में स्वामीजी ने यद्यपि अपने गुरुभाई से प्रश्न किया था "क्या तुम समझते हो, कि तुमने श्रीरामकृष्ण को मुझसे भी अच्छी तरह समझा है?" तथापि 'मैंने ही श्रीरामकृष्ण को सब से अधिक समझा है'—इस प्रकार का अहंकार उनके हृदय में स्वप्न में भी नहीं हुआ था; बल्कि प्रत्येक कार्य में वे अपने गुरुभाइयों का उपदेश व परामर्श लेते थे। भक्तकुलचूड़ामणि साधु नाग महा-शय के साथ प्रथम साक्षात्कार में ही स्वामीजी ने प्रश्न किया था, "देखिए, मैं यह मठ, सेवाश्रम आदि कर रहा हूँ—क्या यह ठीक ठीक श्रीरामकृष्ण देव के उपदेश के अनुसार काम हो रहा है?" नाग महाशय ने तुरन्त ही बड़े उत्साह के साथ उनके इन सब कार्य का समर्थन करते हुए कहा कि यह सब श्रीरामकृष्ण देव के उपदेश के अनुसार ही मानव जाति के हित के लिए हो रहा है। स्वामीजी ने जब उनके मुँह से यह सुना तो वे बड़े प्रसन्न हुए। फिर इसके बाद और किसी गुरुभाई ने उनकी प्रारम्भ की हुई कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में विरुद्ध मत प्रकट नहीं किया। शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद भी स्वामीजी थोड़ी देर के लिए भी विश्राम नहीं कर सकते थे। यह जान-कर कि स्वामीजी बागबाजार में बलराम बाबू के मकान पर निवास कर रहे हैं, अनेक शिक्षित युवक प्रतिदिन उनका दर्शन करने को आने लगे। बंगाली युवकों की शारीरिक दुर्बलता तथा राष्ट्रीय शिक्षा व आदर्श में उनकी विशेष

रूप से अनास्था देखते हुए वे बड़े खेद के साथ इन बातों की तीव्र समालोचना कर उन्हें वीर्यवान व सबल होने का उपदेश देते थे।

इस समय स्वामीजी के अन्यतम शिष्य श्री० शरच्चन्द्र चक्रवर्ती महाशय ने उनसे ऋग्वेद का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। ऋग्वेद का अध्ययन हो रहा था,—आचार्य देव सायन भाष्य के साथ वेद की व्याख्या कर रहे थे, उसी समय वहाँ नाट्यसम्राट गिरीश बाबू आ पहुँचे। परस्पर अभिवादन के बाद जब गिरीश बाबू ने आसन ग्रहण किया तो स्वामीजी ने हँसते हुए उनकी ओर देखकर कहा, "जी० सी० (गिरीशचन्द्र), सम्भव है तुम इन सब चीज़ों को पढ़ने की आवश्यकता ही न समझते हो, जीवन को कृष्ण, विष्णु लेकर ही बिता दिया।" विश्वास की जीती जागती मूर्ति गिरीश बाबू ने विनीत भाव से उत्तर दिया, "वेद पढ़कर मेरा और क्या होगा, भाई! वेद समझने योग्य मेरी बुद्धि भी नहीं है और न अवसर ही है। उन सब चीज़ों को दूर से प्रणाम कर मैं भगवान श्रीरामकृष्ण की कृपा से भवसागर पार होकर चला जाऊँगा। वे तुम्हारे द्वारा लोकशिक्षा दिलाएँगे, धर्म का प्रचार कराएँगे, इसीलिए उन्होंने तुम्हें ये सब चीज़ें पढ़ाई हैं।" बृहत् ऋग्वेद को बारम्बार प्रणाम करते हुए वे कहने लगे, "जय वेदरूपी श्रीरामकृष्ण की जय।"

स्वामीजी जब कभी साधना के किसी विशेष उपाय के सम्बन्ध में बातचीत करना प्रारम्भ करते थे—अथवा ब्रह्मज्ञान, भक्ति, कर्मयोग या राष्ट्रीय आदर्श, कोई भी विषय क्यों न हो—उनकी ओजस्वी वचनभंगी व प्राणस्पर्शी वर्णन से ऐसा लगता था कि मानो वही मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है। गिरीश बाबू ने यह सोचकर कि स्वामीजी के हँसी में कहे हुए वाक्य को सुनकर उपस्थित भक्त व शिष्यों के मन में भक्ति-विश्वास के सम्बन्ध में विपरीत धारणा उत्पन्न होना असम्भव नहीं है, स्वामीजी से प्रश्न किया, "अच्छा नरेन, वेद-वेदान्त तो अनेक पढ़े हो न? भूखों का भोजन के लिए हाहाकार, दरिद्रों का दुःख, लम्पट आदि का बीभत्स पाप तथा और

भी कितने ही प्रकार के अन्याय, कुविचार व दुःख — जो हम अक्सर देखते हैं, इनका कोई उपाय क्या तुम्हारे वेद-वेदान्त में लिखा है ? अमुक कुटुम्ब की घर वाली, जो प्रतिदिन पचास व्यक्तियों को भोजन दिया करती थी, आज तीन दिन से अन्न के अभाव में बाल-बच्चों के साथ भूखी है, अमुक परिवार की महिलाएँ बदमाशों के हाथों लांछित हुईं — कोई कोई उत्पीड़ित होकर अन्त में प्राणत्याग कर बैठीं, अमुक घर की बाल-विधवा कलंक से बचने के लिए भ्रूणहत्या करने जाकर आत्महत्या कर बैठी। नरेन, वेद-वेदान्त में क्या इसका कोई प्रतीकार है ? ”— इस प्रकार गिरीश बाबू मर्मस्पर्शी भाषा में संसार के सभी दुःख, अन्याय, अत्याचार की कहानियों का वर्णन करने लगे। उन हृदयभेदी करुण कहानियों को सुनकर आचार्य देव के दोनों बड़े बड़े नेत्रों में आँसू भर आए। भाव के आवेग को रोकने में असमर्थ होकर वे विचलित हृदय से उसी समय उस स्थान को छोड़ दूसरे कमरे में चले गए।

स्वामीजी के चले जाने के बाद गिरीश बाबू शिष्यों को लक्ष्य करके बोले, “देखा तुम्हारे गुरु का हृदय कितना विशाल व दया से पूर्ण है ! मैं उन्हें इसलिए सम्मान नहीं देता कि वे पण्डित व प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं, बल्कि उनके उस असीम उदार हृदय के लिए ही मैं उन पर श्रद्धा करता हूँ — जो मनुष्य के दुःख-कष्ट की बात सुनते ही दया से विचलित हो जाता है। देखा न — यह सब बातें सुनकर, थोड़ी देर पहले जो वेद-वेदान्त की व्याख्याएँ हो रही थीं — वह विद्वत्ता, विचार-विश्लेषण कहाँ अदृश्य हो गया। तुम्हारे स्वामीजी एकाधार में महान् ज्ञानी व महान् भक्त हैं — समझे ? ” थोड़ी देर बाद स्वामीजी लौट आए। स्वामी सदानन्द को कमरे में प्रवेश करते हुए देख उसी समय स्वामीजी ने उन्हें रुग्ण व आर्तों की सेवा के लिए एक सेवाश्रम की स्थापना करने का निर्देश दिया। सदानन्दजी ने तन-मन से चेष्टा करने का वचन देकर गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। स्वामीजी गिरीश बाबू को लक्ष्य करके बोले, “देखो जी० सी०, जगत् के कष्टों को दूर करने

के लिए — यहाँ तक कि एक व्यक्ति की वेदना को कम करने के लिए मैं सहस्र बार जन्म ग्रहण करने को तैयार हूँ। अपनी मुक्ति मैं नहीं चाहता, मैं प्रत्येक को मुक्त होने के लिए सहायता करना चाहता हूँ। ''

इसी समय एक दिन स्वामीजी माताजी तपस्विनी के आमंत्रण पर शिष्य शरद बाबू को साथ लेकर महाकाली पाठशाला के निरीक्षण के लिए गए। विद्यालय की शिक्षा-प्रणाली देख स्वामीजी सन्तुष्ट हुए। निरीक्षण के बाद लौटते समय वार्तालाप के सिलसिले में उन्होंने कहा कि पुरुषों के लिए मठों की स्थापना करने के साथ ही साथ नारी-मठ स्थापित करने की भी मेरी इच्छा है। वहाँ पर ब्रह्मचारिणी व संन्यासिनी सुशिक्षित बनकर नारी जाति की उन्नति व शिक्षा के लिए चेष्टा करेंगी। विजातीय आदर्श पर संस्कार की चेष्टा न करते हुए हिन्दू स्त्रियों को अभी से जातीय भाव में शिक्षा देना कर्तव्य है। वे शिक्षित होकर अपने भले बुरे को स्वयं ही समझ लेंगी। इसके लिए पुरुषों को माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं है। कार्यक्षेत्र में नारी की स्वाभाविक दक्षता स्वाधीन रूप में यदि राष्ट्र की उन्नति के लिए नियुक्त हो तो कल्याण होगा।

मठ, सेवाश्रम इत्यादि की स्थापना के लिए स्वामीजी चेष्टा तो करने लगे, परन्तु उनकी शारीरिक स्थिति को देख शिष्य व गुरुभाई कुछ भयभीत हुए। इस बीच में इंग्लैण्ड से कुमारी मूलर आ गई। चिकित्सकों के परामर्श पर इच्छा न रहते हुए भी वायु परिवर्तन के लिए स्वामीजी ने अलमोड़ा जाना स्वीकार किया। अन्त में छः मई को कुछ शिष्य व गुरुभाइयों के साथ वे कलकत्ता से अलमोड़ा की ओर रवाना हो गए।

स्वामीजी की समुचित अभ्यर्थना के लिए अलमोड़ा के हिन्दूगण पहले से ही तैयार थे। स्वामीजी के आने का समाचार पाते ही उन्होंने अलमोड़ा के निकट लोदिया नामक स्थान तक बढ़कर स्वामीजी की अगवानी की। विराट जुलूस से घिरकर सुसज्जित घोड़े पर चढ़ स्वामीजी नगर में प्रविष्ट हुए।

नगर की स्त्रियाँ खिड़कियों से पुष्प व अक्षतों की वर्षा करने लगीं — सहस्र सहस्र उत्सुक दर्शकों के आनन्द को बढ़ाते हुए स्वामीजी ने सभामण्डप में प्रवेश किया। विराट मण्डप में लगभग पाँच हजार व्यक्ति उपस्थित हुए थे। पण्डित ज्वालादत्त जोशी ने अभिनन्दन-पत्र पढ़ा। इसके बाद लाला बद्रीसहाय की ओर से पण्डित हरिराम पाण्डे ने एक दूसरा अभिनन्दन-पत्र पढ़ा और इसके उपरान्त स्वामीजी ने संक्षेप में एक भाषण दिया। सार्वभौमिक धर्म की शिक्षा देने के उद्देश्य से हिमालय पर एक मठ की स्थापना करने का संकल्प उनका बहुत दिनों से था और इस बात को उन्होंने इस सभा में प्रकट रूप से व्यक्त किया।

स्थानीय विख्यात व्यवसायी लाला बद्रीसहाय का आतिथ्य ग्रहण कर स्वामीजी अलमोड़ा से बीस मील दूर एक बगीचेवाले मकान में निवास करने लगे। हिमालय की गम्भीर वैराग्य उत्पन्न करनेवाली मनोहर शोभा से उनके कर्मश्रान्त मन में बहुत दिनों के बाद अपूर्व शान्ति आई। यहाँ पर भी स्वामीजी विश्राम करने का अवकाश बहुत ही कम पाते थे, क्योंकि दिन के अधिकांश समय उन्हें आए व्यक्तियों के साथ धर्म-चर्चा में ही लगा रहना पड़ता था। फिर भी दो सप्ताह में ही उनके स्वास्थ्य में काफी उन्नति हुई। प्रभात व रात्रि के अधिकांश समय वे ध्यान के आनन्द में मग्न रहते थे।

सब प्रकार कर्मों से अवकाश लेकर हिमालय के निर्जन जंगलों में छिपे रहने पर भी स्वामीजी बाहर के जगत् के सम्बन्ध में सम्पूर्ण रूप से उदासीन न रह सके। समग्र भारत में उनकी प्रतिष्ठा, यश, आदर व सम्मान को देख कुछ मिशनरियों ने अमेरिका में उनके विरुद्ध नाना प्रकार के झूठे निन्दावादों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उनके भारत लौटने के थोड़े ही दिन बाद शिकागो धर्म-सभा के सभापति डा० बैरोज साहब इस देश में आए थे। वे भी अपने देश में लौटकर स्वामीजी की निन्दा करने लगे। इसके परिणाम में समग्र अमेरिका में विवेकानन्द के विरुद्ध एक आन्दोलन की चेष्टा चलने लगी।

कुछ समाचार पत्रों में उनके विषय में विरुद्ध आलोचना होने लगी। कहा गया कि उन्होंने भारत के नगर नगर में अमेरिकन स्त्रियों के आचार-व्यवहार की निन्दा की है। विवेकानन्द के कार्य से तथा भाषणों से भारतवासी स्वयं उन पर असन्तुष्ट हो गए हैं। भारत में उनकी अभ्यर्थना का जो वर्णन समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ है वह मनःकल्पित व मिथ्या है। विवेकानन्द अति निम्न श्रेणी के हिन्दू हैं — समाज में उनका कोई सम्मान नहीं इत्यादि इत्यादि। स्वदेश में व विदेशों में भी स्वामीजी के भक्त व गुणानुरागी अनेक व्यक्ति इन्हीं सब कारणों से विचलित हो उठे। प्रतिदिन स्वामीजी के पास ढेर के ढेर पत्र व समाचार-पत्र आने लगे। अपने विरुद्ध इस भयानक षड्यंत्र को देख वे ज़रा भी विस्मित न हुए — भीत या विचलित होना तो दूर ही रहा। नवीन तत्व, नवीन नीति, नवीन भाव के प्रचार करनेवाले कोई भी महापुरुष आज तक विघ्न, विपत्ति व निन्दा-अपवाद के पंजे से छुटकारा नहीं पा सके। फिर भी वे मानव-जाति के कल्याण के लिए कार्य करने से विरत नहीं हुए। विवेकानन्द भी पूर्वाचार्यों के पथ का अनुसरण करते हुए दयामिश्रित उपेक्षा के साथ उन सब निन्दाओं में अविचलित रहकर दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य का पालन कर गए हैं।

इधर मुर्शिदाबाद के दुर्भिक्षपीड़ित व्यक्तियों के दुःख को दूर करने के लिए स्वामी अखण्डानन्दजी की अथक चेष्टा का समाचार पाकर स्वामीजी ने बड़े हर्षपूर्वक अपने शिष्य स्वामी नित्यानन्द व ब्रह्मचारी सुरेश्वरानन्दजी को उनकी सहायता के लिए भेज दिया। स्वामीजी अलमोड़ा से उत्साह देकर पत्र लिखने लगे। यहाँ तक कि वे स्वयं उक्त स्थान में जाने के लिए अधीर हो उठे। परन्तु चिकित्सकगण तथा उनके शिष्यों के निषेध के कारण वे वहाँ न जा सके।

कलकत्ता 'रामकृष्ण मिशन' का कार्य भी भलीभाँति चल रहा था। स्वामी रामकृष्णानन्दजी भी मद्रास में प्रचार-कार्य में काफी सफलता प्राप्त कर रहे थे। स्वामी अभेदानन्दजी व शारदानन्दजी का इंग्लैंड व अमेरिका में वेदान्त-

प्रचार कार्य भलीभाँति चल रहा था। यह सब समाचार पाकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। वे फिर से नवीन उत्साह के साथ कार्यारम्भ करने के लिए व्यग्र हो उठे। उनके मित्रों तथा भक्तों ने जब यह सुना कि स्वामीजी शीघ्र ही अलमोड़ा छोड़कर जा रहे हैं तो उन्होंने उनसे भाषण देने के लिए अनुरोध किया। स्वामीजी ने स्वीकृत होकर स्थानीय जिला स्कूल में सुन्दर हिन्दी में वेदान्त के सम्बन्ध में एक भाषण दिया। स्वामीजी की ख्याति के विषय में जानकर स्थानीय अंग्रेज निवासीगण भी उनका भाषण सुनने के लिए उत्सुक हुए। तदनुसार 'इंग्लिश क्लब' में गुरखा सैन्य दल के कर्नल पुली (Pulley) के सभापतित्व में एक सभा बुलाई गई। स्थानीय अंग्रेज भद्रपुरुष व महिला-गण तथा कुछ उच्च श्रेणीय देशी व्यक्ति सभा में उपस्थित थे। स्वामीजी ने आत्मतत्व के सम्बन्ध में जो भाषण दिया वह बहुत बड़ा न था। कु० मूलर ने इस भाषण के सम्बन्ध में लिखा है:—

"* * * * धीरे धीरे विषय पर आकर स्वामीजी आत्मा के साथ परमात्मा का सम्बन्ध तथा दोनों के स्वरूप में एकता का वर्णन करने लगे। थोड़ी देर के लिए ऐसा लगा मानो व्याख्याता, व्याख्यान तथा श्रोतृगण एक हो गए हैं। मानो 'मैं', 'तुम', 'वह' कुछ भी नहीं है। जो सब विभिन्न व्यक्ति वहाँ पर आए थे मानो वे थोड़ी देर के लिए उस आचार्य-श्रेष्ठ के शरीर से महाशक्ति के साथ निकलनेवाली आध्यात्मिक ज्योति में मिल-कर अपने को भी भूल मंत्रमुग्ध हो गए हों। जिन्होंने अनेकों बार स्वामीजी के भाषणों को सुना है, उनमें से कई लोगों को अपने जीवन में ऐसा अनुभव हुआ है। मानो थोड़ी देर के लिए वे गुण-दोषों के समालोचक श्रोताओं के सामने भाषण देनेवाले विवेकानन्द नहीं रहते हैं।—मानो उस समय के लिए सारी भिन्नता वा व्यक्तित्व का लोप हो जाता है—नाम-रूप नहीं रह जाता—केवल एक मात्र कैवल्य विराजमान रहता है—जिसमें वक्ता, श्रोता व वाक्य एक हो जाते हैं।"

ढाई मास का समय अलमोड़ा में व्यतीत कर पंजाब व काश्मीर के विभिन्न स्थानों से आमंत्रण आने के कारण स्वामीजी अलमोड़ा से चल दिए। ९ अगस्त को वे बरेली में पधारे। बरेली में आने के साथ ही उन्हें ज्वर हो आया। शारीरिक दुर्बलता के होते हुए भी उन्होंने दूसरे दिन प्रातःकाल आर्य-समाज के अनाथालय का निरीक्षण किया। स्थानीय छात्रों को वेदान्त के आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उत्साह देकर एक छात्र-समिति की स्थापना कराई। १२ अगस्त को मध्याह्न भोजन के बाद फिर उन्हें तेज ज्वर चढ़ आया। परन्तु फिर भी सायंकाल से पूर्व आए हुए भद्र महोदयों को उन्होंने धर्म का उपदेश दिया। उसी दिन रात को बरेली से वे अम्बाला की ओर रवाना हो गए। अम्बाला में वे एक सप्ताह तक ठहरे। यहाँ आकर उनका शरीर पहले की अपेक्षा कुछ स्वस्थ लगा। प्रतिदिन मुसलमान, ब्राह्म, आर्यसमाजी आदि विभिन्न मतावलम्बी व्यक्तियों के साथ विविध विषयों पर चर्चा चलने लगी। इसी स्थान में श्रीमान सेवियर स्वामीजी के साथ सम्मिलित हुए। अम्बाला से चलकर अमृतसर में कुछ दिन निवास करने के बाद स्वामीजी ने रावलपिण्डी की ओर प्रस्थान किया। वहाँ से उन्होंने मरी व बार्मुला होकर सितम्बर को नौका द्वारा श्रीनगर की ओर यात्रा की। श्रीनगर के प्रधान न्यायमूर्ति बाबू ऋषिवर मुखोपाध्याय महोदय आग्रह के साथ स्वामीजी को अपने घर पर रखकर उनकी सेवा करने लगे।

काश्मीर की अतुलनीय प्राकृतिक सुन्दरता व आबहवा के गुण से स्वामीजी पहले की अपेक्षा अधिक स्वस्थ व प्रसन्न हो गए। स्थानीय पण्डित-गण तथा अनेक बंगाली व काश्मीरी सज्जन प्रतिदिन उनके पास उपस्थित होकर विविध प्रकार की सब चर्चा करते थे। १४ सितम्बर को दिन के दो बजे वे राजभवन में गए। राजा रामसिंह ने स्वामीजी का यथोचित आदर-सत्कार किया। उन्हें कुर्सी पर बैठाकर स्वयं कर्मचारियों के साथ नीचे बैठे। लगभग दो घण्टे तर्क धर्म तथा भारतीय साधारण जनता की उन्नति के सम्बन्ध

में स्वामीजी ने अनेक प्रकार की चर्चा की। स्वामीजी की उदार मनोवृत्ति व महान् हृदय का परिचय पाकर राजासाहब बड़े मुग्ध हुए। १७ सितम्बर को राजा अमरसिंह के वजीरसाहब ने आकर स्वामीजी के साथ साक्षात्कार किया। स्वामीजी के स्थानीय भक्तगणों का यह विचार हुआ कि सम्भवतः नौका-भ्रमण से स्वामीजी के स्वास्थ्य में लाभ होगा। अतएव उन्होंने उनके लिए एक हाउस बोट की खोज प्रारम्भ कर दी। वजीरसाहब को जब यह समाचार ज्ञात हुआ तो उन्होंने शीघ्र ही एक बोट की व्यवस्था कर देने का वचन दिया। तदनुसार उनके सेक्रेटरी तीसरे प्रहर बोट लेकर आ गए। उस दिन से स्वामीजी बोट में निवास करने लगे। नौका-भ्रमण के साथ साथ स्वामीजी काश्मीर के इतिहासप्रसिद्ध स्थानों तथा प्राचीन काल के ध्वंसावशेषों का निरीक्षण करते हुए घूमने लगे। इसके बाद १२ अक्टूबर को वे फिर मरी पहाड़ में पधारे। १४ तारीख को स्थानीय बंगाली व पंजाबी भद्र महोदयों ने स्वामीजी को एक अभिनन्दन-पत्र अर्पण किया जिसके उत्तर में उन्होंने एक सुन्दर भाषण दिया।

१६ अक्टूबर को वे रावलपिण्डी पधारे। स्थानीय भद्र महोदयगण उनकी अभ्यर्थना कर उन्हें श्री हंसराज वकील के मकान पर ले गए। यहाँ तीसरे प्रहर आर्यसमाजी स्वामी प्रकाशानन्द के साथ उनका वार्तालाप हुआ। इनके साथ बातचीत करके स्वामीजी बहुत ही प्रसन्न हुए। इस वार्तालाप के समय जज नारायणदास, बैरिस्टर भक्तराम आदि अनेक प्रतिष्ठित एवं शिक्षित भद्र सज्जन वहाँ पर उपस्थित थे। १७ तारीख को जनता के अनुरोध पर उन्होंने हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में दो घण्टे तक बड़ी सुन्दर तथा धाराप्रवाहिक अंग्रेजी में एक लम्बा भाषण दिया। १९ तारीख को स्थानीय कालीबाड़ी में एक दूसरी छोटी सभा में उन्होंने इस विषय पर उपदेश दिया कि 'स्वदेश का वास्तव कल्याण कैसे हो'।

काश्मीर के महाराजा व वहाँ के अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा आमंत्रित होकर वे २० अक्टूबर को जम्मू की ओर रवाना हुए।

भक्त स्थानीय प्रसिद्ध वकील लाला मूलचन्द एम. ए., एल-एल. बी. एक कमेटी की स्थापना कर स्वयं उसके सेक्रेटरी बने। ५ नवम्बर को सियालकोट से स्वामीजी अपने साथियों के साथ लाहौर पधारे। वहाँ की सनातन धर्म सभा के सदस्यगण स्टेशन पर उनकी अभ्यर्थना कर उन्हें 'राजा ध्यानसिंह की हवेली' नामक विशाल महल में ले गए। थोड़ी देर तक स्वामीजी ने समागत दर्शक मण्डली को धर्मोपदेश दिया। उसके बाद 'ट्रिब्यून' पत्र के सम्पादक नरेन्द्र-नाथ गुप्त का आतिथ्य स्वीकार कर उनके घर गए। प्रति दिन अनेक व्यक्ति उनके साक्षात्कार के लिए आने लगे। स्वामीजी ने लाहौर में यथाक्रम 'हिन्दू धर्म की साधारण नींव,' 'भक्ति' तथा 'वेदान्त' विषयों पर तीन भाषण दिए।

पंजाब में और विशेष रूप से लाहौर में आकर स्वामीजी उत्तर भारत के आचार्य श्रीमद् दयानन्द सरस्वती (१८२४—१८८३) द्वारा संस्थापित आर्य समाज के साथ घनिष्ठ रूप से परिचित हुए। बंगाल के संस्कार-युग व ब्राह्म समाज की स्थापना के सम्बन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं। अतः ब्राह्म समाज के समसामयिक परन्तु आदर्श व कर्म-पद्धति में सम्पूर्ण पृथक, अधिकतर शक्तिशाली व विस्तृत आर्य समाज तथा उसके महान संस्थापक के सम्बन्ध में यहाँ पर कुछ कहना आवश्यक है। स्वामी दयानन्द केवल प्रचलित हिन्दू धर्म के विरुद्ध ही नहीं वरन् केशवचन्द्र के ब्राह्म आन्दोलन के विरुद्ध तथा पाश्चात्यों के धर्म व सामाजिक आचार-व्यवहार के अनुकरण के विरुद्ध खड़े हुए थे। उनका अस्त्र था वेद। ये विद्वान भाषणपटु संन्यासी विवेका-नन्द की ही तरह अक्लान्त चित्त से स्वदेश के धर्म और समाज के सुधार में लगे हुए थे। जो गुजरात अर्ध शताब्दी के बाद महात्मा गांधी को पाकर धन्य हुआ है उसी गुजरात के मोरवी नामक राज्य में एक धनी सामवेदीय ब्राह्मण वंश में दयानन्द का जन्म हुआ था। उनके पिता एक नियमनिष्ठ ब्राह्मण का कठोर जीवन व्यतीत करते थे। उन्होंने अपने शिशु पुत्र का आठ वर्ष की अवस्था में ही यज्ञोपवीत कराके कठोर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करा दिया

था, तथा उन्होंने शास्त्रार्थ का भी अध्ययन शुरू करा दिया था, परन्तु दयानन्द इसलिए नहीं पैदा हुए थे कि वे बिना स्वयं विचार किए, खोज किए तथा प्रचलित पद्धति व सिद्धान्त को एकदम मानकर गतानुगतिक जीवन व्यतीत करते। पिता की शतशः चेष्टा होते हुए भी एक अभावनीय घटना से बालक के चित्त में प्रचलित धर्मविश्वास के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न हो गया।

शिव-रात्रि का दिन था — दिन भर का व्रत किया हुआ चौदह वर्ष का लड़का, पिता तथा परिवार के दूसरे लोगों के साथ सायंकाल पूजा के लिए शिवमन्दिर में उपस्थित हुआ। पूजा रात के दो प्रहर बीत जाने तक होती रही और इतने में ही उपवास से क्लान्त सारे भक्तगण सो गए। परन्तु उस निःस्तब्ध मन्दिर में एकमात्र यही बालक शिवजी के ध्यान में विभोर होकर बैठा रहा। इसी बीच में मन्दिर के एक छिद्र में से एक चूहा निकलकर शिवजी पर चढ़ाए हुए चाँवल खाकर महादेवजी की लिंग मूर्ति के ऊपर से दौड़कर चला गया। बालक यह देखकर दंग रह गया। बस उसी क्षण मूर्तिपूजा पर से उसका विश्वास नष्ट हुआ। क्षुब्ध हृदय से ध्यानासन से उठकर बालक कृष्णा-चतुर्दशी के अन्धकार में अकेला घर लौटा। उसके बाद तो जीवन में वह और किसी भी पूजा-उत्सव में सम्मिलित नहीं हुआ।

'धर्मविद्रोही' पुत्र के साथ धर्मनिष्ठ पिता का फिर और मिलन नहीं हुआ। यह जानकर कि पिता जबरदस्ती उनके विवाह की तैयारी कर रहे हैं, इस उन्नीस वर्ष के बालक मूलशंकर (दयानन्द) का मन बड़ा क्षुब्ध हुआ और वह घर से भाग गया। परन्तु देशी राज्य की पुलीस ने उसे पकड़कर कारागार में डाल दिया। परन्तु दयानन्द फिर भाग गए (१८४५)। जीवन में पिता-पुत्र का कभी सम्मिलन नहीं हुआ।

उसके बाद सुख में पले हुए ये तरुण युवक गैरिक वस्त्र धारणकर परिव्राजक वेष में पन्द्रह वर्ष तक भारतवर्ष के पथों में घूमने लगे। भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न से प्राण रक्षा और वृक्षों के नीचे निवास। यह मानो परिव्राजक

विवेकानन्द का पूर्ववर्ती संस्करण था। कितने ही साधु-संन्यासी, ज्ञानी, पण्डित तथा योगियों के साथ उनका साक्षात्कार हुआ। वेद-वेदान्त दर्शन व कितने ही धर्ममतों की उन्होंने चर्चा की। दुःख-विपत्ति, कष्ट-अपमान यहाँ तक कि निर्यातन भी सब कुछ सहन करके पूर्ण रूप से अटल रहनेवाला यह संन्यासी अकेला सिंह की तरह भ्रमण करता था। विवेकानन्द भ्रमण-काल में सभी श्रेणी के लोगों के साथ मेल-मिलाप करते थे, पर दयानन्द का स्वभाव इससे विपरीत था। वे जनसमूह से दूर रहते थे। संस्कृत के अतिरिक्त दूसरी भाषा में बात नहीं करते थे। सत्यानुसंधित्सु विवेकानन्द यदि तरुण उम्र में परम कारुणिक श्रीरामकृष्ण देव को गुरु के रूप में न पाते, तो सम्भव है हम उन्हें दयानन्द की तरह विद्रोही देखते। विशाल भारतवर्ष में उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं दिखाई पड़ा। वे जहाँ भी जाते केवल देखते अज्ञता, कुसंस्कार, शिथिल धर्मविश्वास व घोर अधःपतन की जड़स्वरूप बुद्धिविहीन लोकाचार तथा लक्ष्यविहीन अर्थहीन असंख्य देवी-देवताओं की पूजा। महाशून्य के अनन्त विस्तार में जिस प्रकार प्रदीप्त उल्कापिण्ड के साथ उल्कापिण्ड का संघर्ष होता है, उसी प्रकार एक दिन (१८६० ई०) भारत की प्राचीन नगरी मथुरा में गुरु-शिष्य का साक्षात्कार हुआ। बचपन से चक्षुविहीन, ग्यारह वर्ष की उम्र से स्वजन बान्धव संगी साथियों से अलग हुए, कठोर तपस्वी, वज्रकठोर निर्मम संन्यासी थे स्वामी विरजानन्द सरस्वती। दयानन्द ने देखा, ये वृद्ध तपस्वी स्वजाति के कुसंस्कार व दुर्बलताओं की पूर्ण हृदय से घृणा करते हैं। उन्होंने देखा कि प्रचलित निरर्थक बाह्य आडम्बरपूर्ण पूजा-उपासना के विरुद्ध उनका चित्त दयानन्द से भी अधिक तिक्त है। विद्रोही युवक ने इस मरुभूमि के बालुका-स्तूप की भाँति नीरस, संसार से न्यारे, समुन्नत शिर, निःसंग विद्रोही गुरु के चरणों पर अपने को समर्पित कर दिया। मूलशंकर की यहीं समाप्ति हो गई और आविर्भूत हुए दयानन्द सरस्वती। तेज स्वभाववाले गुरु के सभी कठोर व्यवहारों को चुपचाप सहनकर ढाई वर्ष तक उन्होंने शिक्षा प्राप्त की।

शिक्षा समाप्त होने पर गुरु ने कहा, "वत्स, संकल्प ग्रहण करो कि समग्र देश में जो कुसंस्कार, वेद-विरोधी अनार्योचित आचार पुराणों में प्रविष्ट हो गए हैं, उनका जड़ मूल से खण्डन करोगे, बौद्ध युग से पूर्व विद्यमान, विशुद्ध आर्य धर्म का प्रचार करोगे और वैदिक सत्य होगा उसकी नींव।" शिष्य ने वचन दिया, "गुरुदेव, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।"

संस्कृत भाषा के अद्वितीय विद्वान तथा वेदज्ञ दयानन्द के प्रचारकार्य से समग्र उत्तर भारत हिल गया। 'मेरे द्वारा प्रचारित, वेदप्रतिपाद्य धर्म ही एक मात्र सत्य है, तथा अन्य सभी धर्म व मतवाद भ्रान्त कुसंस्कार मात्र हैं,' इस मतवाद की नींव पर खड़े होकर दयानन्द सरस्वती अपने प्रचार-कार्य में प्रवृत्त हुए। तीक्ष्णबुद्धि, एकदेशदर्शी, तार्किक दयानन्द के साथ वादविवाद में प्रवृत्त होकर उन्हें तर्क-युद्ध में मना लेना कठिन था। प्रचलित धर्मविश्वास तथा पूजा-पद्धति के विरुद्ध उनके तीव्र व अप्रिय मन्तव्य के कारण प्राचीन सनातन समाज में खलबली मच गई। परन्तु उनका मतवाद कितना ही संकीर्ण तथा कट्टरतापूर्ण क्यों न रहा हो, पाँच वर्ष के भीतर ही उन्हें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। पंजाब व संयुक्त प्रान्त के अनेक शिक्षित व भद्र युवक उनके अनुयायी बन गए। दूसरी ओर इन्हीं पाँच वर्षों के भीतर चार-पाँच बार उनके प्राण-विनाश की चेष्टा हुई थी। एक दिन आम सभा के बीच एक धर्मान्ध व्यक्ति ने शिवनाम का उच्चारण कर एक जीवित विषधर सर्प को उनके मुख पर फेंक दिया, परन्तु उन्होंने बड़ी तेजी से उसे पकड़ लिया और पैरों तले कुचल डाला। दयानन्द जहाँ जाते वहीं आँधी सी उठने लगती। निदान रक्षणशील ब्राह्मण समुदाय कातर होकर काशी के पण्डित-समाज के द्वार पर गए। विख्यात पण्डितों ने दयानन्द को तर्क में आव्हान किया। निर्भीक दयानन्द ने उसे स्वीकार कर काशी की ओर यात्रा की। १८६९ ई० के नवम्बर मास में एक विख्यात तर्क-युद्ध हुआ। एक ओर थे तीन सौ प्रसिद्ध पण्डित और दूसरी ओर अकेले संन्यासी। दयानन्द ने कहा कि वर्तमान प्रच-

लित वेदान्त वेदविरोधी है तथा वे आर्य ऋषियों के वैदिक धर्म का ही प्रचार कर रहे हैं। परन्तु ब्राह्मण पण्डितों का बहुधा यह स्वभाव नहीं है कि वे धीर स्थिर होकर विचार करें। वे थोड़ी ही देर में असहिष्णु होकर तर्क का विषय छोड़कर गाली-गलौज पर आ जाते हैं। और यहाँ भी वैसा ही हुआ। पण्डित लोग तर्क छोड़छाड़कर एक स्वर से गालियाँ देने लगे! परन्तु इस विख्यात तर्क-युद्ध द्वारा स्वामी दयानन्द का नाम समस्त भारतवर्ष में प्रचारित हो गया।

कलकत्ता के ब्राह्मगण, विशेषरूप से केशवचन्द्र, उनकी प्रसिद्धि को सुन बड़े आनन्दित हुए। मूर्तिपूजा और जातिभेद के इस विरोधी संन्यासी को उन्होंने कलकत्ते में बुलाया। दयानन्द १५ दिसम्बर १८७२ ई० से १५ अप्रैल १८७३ ई० तक कलकत्ता शहर में रहे। इस समय श्रीरामकृष्ण ने भी उनसे भेंट की थी। ब्राह्मगण व केशवचन्द्र ने उनकी सादर अभ्यर्थना की। उन्होंने सोचा था कि दयानन्द का प्रयोग वे रक्षणशील हिन्दुओं के विरुद्ध अस्त्र के रूप में करेंगे। परन्तु पाश्चात्य पन्थी ब्राह्म समाज के धर्ममत के साथ दयानन्द जैसे व्यक्ति का समझौता होना कठिन था। जिस ब्राह्म समाज ने १८४८ ई० में अपौरुषेय वेदवाणी की प्रामाणिकता की मर्यादा को अस्वीकृत किया था, उसके साथ दयानन्द कैसे सहमत होंगे? वे केवल वेद की अभ्रान्तता व पुनर्जन्मवाद में ही विश्वासी नहीं थे, वरन् वे स्वयं जिस प्रकार व्याख्या करते थे उसके अतिरिक्त और किसी भी प्रकार की व्याख्या उन्हें स्वीकार नहीं थी। निदान कुछ समय बाद ब्राह्मों ने दयानन्द से आशा छोड़ दी! परन्तु ब्राह्म समाज के साथ संसर्ग करने से दयानन्द ने समझ लिया कि उन्हें लौकिक भाषा में प्रचार करना होगा तथा एक संघ या समाज की स्थापना करनी होगी। ब्राह्म नेताओं से अधिक शक्तिमान व गठनमूलक प्रतिभा उनमें थी और इसीलिए उन्होंने थोड़ी ही चेष्टा से एक नवीन सम्प्रदाय का निर्माण किया। जिस समय केशवचन्द्र नवविधान का

प्रचार कर ब्राह्म समाज को फिर से आत्मकलह की ओर ले जा रहे थे, ठीक उसी वर्ष १८७५ ई० में बम्बई में दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की। विशेष आश्चर्य की बात यह है कि भारतवर्ष के जिन स्थानों में आर्यों ने प्रथम उपनिवेश स्थापित किया था, उस उत्तर भारत ने ही दयानन्द द्वारा प्रचारित आर्य धर्म को अपनाया। १८७७ ई० में लाहौर में आर्य समाज के नियम आदि का निर्माण हुआ और वे अपने शिष्यों के साथ बड़े उत्साह के साथ पंजाब, आगरा, अयोध्या, गुजरात व राजपूताना में प्रचार करने लगे। परन्तु बंगाल व मद्रास में आर्य समाज अपना वैसा प्रभाव विस्तारित नहीं कर सका। अस्तु, प्रचार-कार्य के प्रचण्ड उद्यम के बीच में ही उनका जीवनप्रदीप निर्वासित हो गया। किसी महाराजा की एक रखेल स्त्री की चारित्रहीनता पर उन्होंने उसकी तीव्र भर्त्सना की। उस पापिनी ने विष देकर उनकी हत्या की। १८८३ ई० के अक्टूबर मास में अजमेर में, स्वामी दयानन्द का देहान्त हो गया। परन्तु उनकी मृत्यु से उनके प्रचार-कार्य में किसी प्रकार की क्षति नहीं हुई। १८९१ ई० में जिस सम्प्रदाय की जन-संख्या चालीस हजार थी आज उसकी संख्या लगभग दस लाख है। परन्तु ब्राह्म समाज सौ वर्ष में तीन-चार हजार से अधिक ब्राह्मवादी न बना सका। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा-प्रचार व समाज-संस्कार में आर्य-समाज ने समग्र उत्तर भारत में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय आदि प्रमुख शक्तिमान नेता-गण आर्य-समाजी ही थे। लोकहितव्रती आर्य-समाज शिक्षा-प्रचार में, और विशेष रूप से स्त्री-शिक्षा व नारी जाति की उन्नति की व्यवस्था में, विधवाश्रम व अनाथालयों की स्थापना में, भूकम्प में, दुर्भिक्ष तथा बीमारियों से पीड़ित प्रदेशों की सेवा में श्रीरामकृष्ण मिशन स्थापित होने के पहले से ही कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ था। और विगत अर्ध शताब्दी में आर्य-समाज की अनेक लोकहितकर संस्थाएँ बन गई हैं।

लाहौर में विवेकानन्द की ओर आर्य-समाजी नेताओं की सहज ही में

दृष्टि आकृष्ट हुई। वेदान्त, अद्वैतवाद तथा मूर्तिपूजा के विरोधी आर्य-समाजियों के साथ नितान्त भिन्न मतावलम्बी विवेकानन्द का अक्सर तर्क होता था। आर्य-समाजी नेताओं के चरित्र, त्याग व लोकहितव्रत के प्रति श्रद्धा प्रकट करने में स्वामीजी कभी आगा-पीछा नहीं करते थे, परन्तु उनके साम्प्रदायिक कट्टरपन का प्रतिवाद वे स्पष्ट रूप से करते थे।

'दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज' के अध्यक्ष लाला हंसराज आदि आर्य-समाजी एक दिन वार्तालाप के सिलसिले में आर्य समाज के इस मत का समर्थन कर रहे थे कि 'वेद का केवल एक ही प्रकार का अर्थ हो सकता है।' स्वामीजी नाना प्रकार की युक्तियाँ देकर यह समझा रहे थे कि अधिकार के अनुसार भिन्न भिन्न मतों का अवलम्बन कर उन्नति के पथ में अग्रसर होना ही श्रेयस्कर है। हंसराज विपरीत युक्तियों के प्रयोग द्वारा उसका खण्डन करने की चेष्टा कर रहे थे। अन्त में स्वामीजी बोल उठे, "लालाजी, आप लोग जिस विषय के बारे में इतना आग्रह प्रकट कर रहे हैं, उसे हम fanaticism अथवा कट्टरपन कहते हैं। हम यह जानते हैं कि इसके द्वारा सम्प्रदाय को शीघ्र विस्तृत बनाने में सहायता होती है और मैं यह भी जानता हूँ कि शास्त्र के कट्टरपन की अपेक्षा मनुष्य के कट्टरपन (इस प्रकार का प्रचार कि व्यक्तिविशेष को अवतार मानकर उनकी शरण लेने से ही मुक्ति होगी) के द्वारा और भी आश्चर्यजनक तथा शीघ्रता से सम्प्रदाय का विस्तार होता है। और मेरे हाथ में वह शक्ति भी है। मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंस देव का ईश्वरावतार के रूप में प्रचार करने के लिए मेरे अन्य सभी गुरुभाईगण कटिबद्ध हैं। एकमात्र मैं ही उस प्रकार के प्रचार का विरोधी हूँ, क्योंकि मेरा दृढ़ विश्वास है,—मनुष्य को उसके अपने विश्वास व धारणा के अनुसार उन्नति करने देने पर यद्यपि बहुत ही धीर गति से उन्नति होती है, परन्तु जो उन्नति होती है वह बिल्कुल पक्की होती है।"

एक दूसरे दिन स्वामीजी श्राद्ध के सम्बन्ध में आर्य-समाजियों के साथ

शास्त्रार्थ में प्रवृत्त हुए थे। आर्य-समाजी पितृगणों के श्राद्ध में विश्वास नहीं करते और न उसकी उपयोगिता ही मानते हैं। हिन्दू समाज की ओर से अनुरुद्ध होकर ही स्वामीजी इस कार्य में अग्रसर हुए थे और उस दिन आर्य-समाजी पण्डितों को स्वामीजी के युक्ति-तर्कों के सामने नीरव होना पड़ा था। स्वामीजी अपने वार्तालाप के सिलसिले में यद्यपि आर्य-समाजी प्रचारकों के उत्कट कट्टरपन तथा दूसरों के मत के प्रति उनकी असहिष्णुता की तीव्र समालोचना करते थे, परन्तु फिर भी आर्य-समाजी उन पर कभी असन्तुष्ट नहीं हुए। अपने मत का समर्थन अथवा युक्ति-विरोधी मतों का खण्डन करते समय ये योद्धा संन्यासी यद्यपि दृप्त तेज के साथ विरोधी पक्ष की युक्तियों का निर्मम भाव से खण्डन किया करते थे, फिर भी उनकी प्रत्येक बात में असाम्प्रदायिकता का उदार भाव सदैव ही प्रकट होता था। स्वामीजी के इस असम्प्रदायिक उदार भाव को देख सनातन पन्थी व आर्य-समाजी दोनों ही दल समान रूप से इनके प्रति आकृष्ट हुए थे। आर्य-समाजी प्रचारकों ने प्राचीन पन्थी हिन्दू समाज के मस्तक पर जो लगातार अभिशापों की वर्षा की थी उसके फलस्वरूप दोनों दलों में काफी मनोमालिन्य व असंतोष पैदा हो गया था। पर स्वामीजी कितने ही लोगों के चित्त से ग्लानि की वेदना को दूर करने में समर्थ हुए थे। आर्य-समाजी, हिन्दू व सिक्खों के बीच प्रीति स्थापित करने के लिए स्वामीजी ने सभी समाजों के युवकों को लेकर लाहौर में एक समिति की स्थापना की और उन्हें इस बात के लिए उत्साहित करने लगे कि जाति व धर्म का विचार किए बिना मनुष्यमात्र की औषधि, शुश्रूषा, भोजन, वस्त्र तथा शिक्षा दान द्वारा सेवा करें। सेवा-धर्म की उदार नीति को आदर्श जीवन में परिणत करने का निर्देश देकर स्वामीजी सभी सम्प्रदायों के सम्मान तथा श्रद्धा के पात्र बन गए थे।

आर्य-समाज के भूतपूर्व प्रचारक तथा स्वामीजी के एक विशेष भक्त स्वामी अच्युतानन्द ने भावी जीवन-चरित्र लेखकों की सुविधा के लिए आचार्य

देव के पंजाब व काश्मीर भ्रमण की जो संक्षिप्त डायरी रक्खी थी उसमें हम स्वामीजी की विशाल हृदयता के दो सुन्दर उदाहरण पाते हैं। एक दिन स्वामीजी अपने साथियों के सामने किसी व्यक्ति की बहुत प्रशंसा कर रहे थे, इतने में एक व्यक्ति बोल उठा, "स्वामीजी, वह तो आपको नहीं मानता है।" स्वामीजी ने उसी समय कहा, "भला आदमी बनने के लिए मुझे मानना ही होगा, ऐसा थोड़ा ही है ?"

इस समय ग्रेट इण्डिअन सर्कस के मालिक बाबू मोतीलाल घोष कार्य-वश एक दिन नगेन बाबू के मकान पर आए। स्वामीजी ने उन्हें देखते ही पहिचान लिया और एक निकट आत्मीय की तरह वे उनके साथ वार्तालाप करने लगे। बाल्यकाल में वे दोनों एक ही व्यायामशाला में व्यायाम करते थे। मोती बाबू अपने बचपन के साथी के अपूर्व तेज, प्रतिभा व शक्तिव्यंजक मुखमण्डल को देख आश्चर्यचकित रह गए। स्वामीजी जितना ही उनके साथ भाई जैसा व्यवहार व वार्तालाप करने की चेष्टा करते उतने ही वे अधिक संकुचित होने लगे। अन्त में कुछ साहस बटोरकर मोती बाबू ने दीनता के साथ स्वामीजी से कहा, "भाई, तुम्हें अब क्या कहकर पुकारूँगा ?" स्वामीजी ने बहुत ही स्नेहपूर्ण स्वर में कहा, "अरे मोती, क्या तू पागल हो गया है ? मैं बन क्या गया हूँ ? मैं भी वही नरेन हूँ और तू भी वही मोती है।" स्वामीजी ने ऐसे स्नेहभाव से बातचीत की कि मोती बाबू का सारा संकोच दूर हो गया।

स्वामीजी लाहौर में वहाँ के एक कालेज के गणित के प्रोफेसर तीर्थराम गोस्वामी के साथ परिचित हुए। स्वामीजी के भाषण व चरित्र से प्रोफेसर महोदय स्वामीजी की ओर विशेष आकृष्ट हुए। घनिष्ट परिचय के फलस्वरूप प्रेम काफी बढ़ा। एक दिन प्रोफेसर ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि वे अपने शिष्यों सहित उनके घर में भिक्षा ग्रहण करने की कृपा करें। उनका उद्देश्य था—स्वामीजी के साथ अपनी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में आलोचना

करना। योग्य अधिकारी देखकर स्वामीजी ने वेदान्त-प्रचार के कार्य में उन्हें प्रेरित किया। स्वामीजी ने अपने विवेक वैराग्यवान तथा शिक्षित मित्र को स्वदेश व विदेश में वेदान्त-प्रचार के द्वारा होनेवाले महान् कल्याण की बातों को इस प्रकार समझा दिया कि प्रोफेसर महोदय के जीवन में एक नया परिवर्तन आ गया। वेदान्त प्रचार के कार्य में अपना जीवन उत्सर्ग कर देने के लिए उन्होंने दृढ़ संकल्प किया। विदा लेने से पूर्व तीर्थराम ने स्वामीजी को उपहार में अपनी प्रिय बहुमूल्य सोने की घड़ी दी थी। स्वामीजी ने प्रसन्नता से वह स्वीकार कर ली और दूसरे ही क्षण प्रेमपूर्वक उस घड़ी को प्रोफेसर की ही जेब में रखकर कहा, "मित्र, इस घड़ी का व्यवहार मैं इस जेब में ही रखकर करूँगा।" अर्थपूर्ण हँसी के साथ स्वामीजी ने तीर्थराम की ओर देखा। उन्होंने स्वामीजी के उस मौनभाव को पूर्ण हृदय से ग्रहण किया और कुछ ही समय बाद उन्होंने कर्म छोड़कर स्वामीजी के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए प्रचार कार्य में आत्मोत्सर्ग कर दिया। यही प्रोफेसर महोदय आगे चलकर स्वामी रामतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुए। प्रतिभाशाली स्वामी रामतीर्थ ने अमेरिका, मिश्र देश व भारतवर्ष में भी वेदान्त प्रचारकार्य में काफी सफलता प्राप्त की थी। परन्तु देश के दुर्भाग्य से थोड़े समय में ही वे कर्मक्षेत्र से हटा लिए गए। आर्य-समाजी स्वामी अच्युतानन्द, प्रकाशानन्द तथा अन्य कुछ प्रचारक संन्यासी स्वामीजी के ज्वलन्त उत्साह से अनुप्राणित होकर वेदान्त-प्रचारकार्य में डट गए। आर्य समाज पर इस समय स्वामीजी का प्रभाव इतना अधिक हो गया था कि जनता में यह चर्चा होने लगी कि वे शीघ्र ही नेता के रूप में उक्त समाज के परिचालन का भार अपने ऊपर लेंगे।

शारीरिक अस्वस्थता के कारण स्वामीजी को कुछ दिनों के लिए देहरादून में आकर विश्राम करना पड़ा। परन्तु असल में उन्हें विश्राम का अवसर नहीं मिला। समागत व्यक्तियों के साथ धर्म व समाज सम्बन्धी समस्याओं

की चर्चा के अतिरिक्त प्रतिदिन नियमित रूप से उन्हें अपने शिष्यों को आचार्य रामानुज के भाष्य के साथ वेदान्त दर्शन व सांख्य दर्शन पढ़ाना पड़ता था। अब देहरादून में स्वामीजी के पास खेतरी राज्य से लगातार आमंत्रण आने लगे। अतएव राजपूताना जाने के लिए वे देहरादून से सहारानपुर होकर दिल्ली पहुँचे। दिल्ली में चार-पाँच दिन व्यतीत कर स्वामीजी ने अपने साथियों के साथ अलवर की यात्रा की।

पाठकों को स्मरण होगा, कुछ वर्ष पूर्व स्वामीजी परिव्राजक के वेश में इस नगर में एक नितान्त अपरिचित व्यक्ति के रूप में आए थे। स्टेशन पर उतरते ही स्थानीय भद्र व्यक्तियों ने स्वामीजी की समुचित अभ्यर्थना की। दिन को एक समय जब स्वामीजी कुछ उच्चवंशीय शिक्षित व धनी व्यक्तियों के साथ वार्तालाप कर रहे थे तब उन्होंने देखा कि थोड़ी दूर पर उनका एक दरिद्र शिष्य मलिन वेश में खड़ा होकर प्यासी आँखों से उनकी ओर ताक रहा है। स्वामीजी ने उसी समय उसे अपने पास बुला लिया। शिष्य ने आनन्द के साथ आकर उनकी पदधूलि ली और स्वामीजी उसे अपने पास बिठाकर अपने दूसरे शिष्यों की कुशल क्षेम उससे पूछने लगे। और इधर जो अनेक भद्र महोदयगण बैठे थे, उनको तो मानो वे थोड़ी देर के लिए भूल ही से गए। उनके पूर्व परिचित मित्र व भक्तगण यह देखकर बड़े विस्मित हुए कि विश्वव्यापी प्रतिष्ठा, यश व सम्मान प्राप्त करके भी स्वामीजी वैसे ही उदार, स्नेहपरायण, मित्र-वत्सल तथा उदासीन संन्यासी ही हैं। वे अपने दरिद्र शिष्य व भक्तों के घर में जाकर पहले की तरह सरल भाव से भिक्षा ग्रहण करने लगे। इससे पूर्व स्वामीजी ने किसी एक निर्धन भक्तिमती विधवा महिला का भी आतिथ्य ग्रहण किया था। अनेक वर्ष पुरानी बात होने पर भी वे उसे न भूले थे। एक दिन उन्होंने उक्त महिला के पास समाचार भेजा कि वे अपने शिष्यों के साथ उनके घर में भिक्षा ग्रहण करेंगे और वह पहले की ही तरह चपाती बना कर रखें। यह समाचार सुनकर उस महिला

का हृदय आनन्द से भर गया। अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह अतिथि-सेवा की तैयारी करने लगी। स्वामीजी जब शिष्यों के साथ भोजन करने बैठे तो वह डबडबाई आँखों से चपाती परोसती हुई रुद्ध कण्ठ से बोली, "मैं गरीब हूँ, इच्छा होते हुए भी तुम्हें देने लायक मिठाई आदि कहाँ से पाऊँ बाबा?" पर स्वामीजी ने आनन्द के साथ परोसी हुई सामग्री को ही खाते हुए कहा, "माँ, तुम्हारी इन चपातियों जैसा मधुर भोजन मैंने और कभी नहीं खाया।" शिष्यों से कहा, "देखा कैसी भक्तिमती महिला है! इस प्रकार का सात्विक आहार मेरे भाग्य में अनेक दिनों से प्राप्त नहीं हुआ।" स्वामीजी उन वृद्धा महिला की पारिवारिक शोचनीय अवस्था के बारे में भलीभाँति जानते थे, इसीलिए उक्त महिला के परोक्ष में घर के किसी अन्य पुरुष के हाथ पर उन्होंने एक सौ रुपये का एक नोट रख दिया। उसे लेने में उस व्यक्ति ने आपत्ति तो बहुत की, परन्तु स्वामीजी ने उसकी एक न सुनी।

अलवर से स्वामीजी जयपुर पधारे। वहाँ से खेतरी के राजा साहब की व्यवस्था के अनुसार खेतरी की ओर यात्रा की। जयपुर से खेतरी ९० मील दूर है। कोई घोड़े पर, कोई ऊँट पर और कोई रथ पर सवार होकर चले। राजा साहब ने खेतरी से १२ मील आगे बढ़कर राजोचित समारोह के साथ स्वामीजी की अभ्यर्थना की। स्वामीजी के आगमन के उपलक्ष्य में नगर में नाना प्रकार के आमोद-प्रमोद होने लगे। रात को आतिशबाजी के खेल हुए। दरिद्र-नारायणों को प्रचुर भोजन से परितृप्त किया गया।

अभ्यर्थना-सभा में स्वामीजी के पदार्पण करने पर राजकर्मचारीगण व सरदार तथा उपस्थित प्रतिष्ठित नागरिकों ने एक एक करके स्वामीजी की पद-धूलि ग्रहण की और राजदरबार की प्रथा के अनुसार प्रत्येक ने उन्हें दो दो रुपये नजराना के रूप में दिये। स्वयं राजा साहब ने तीन सहस्र मुद्राओं की भेंट देकर प्रणाम किया। इस नियम-पालन को समाप्त होने में लगभग दो घण्टे लगे। उसके बाद अभिनन्दन-पत्र पढ़ा गया। यह जानकर कि राजा साहब

स्वामीजी के उपदेश के अनुसार शिक्षा-विस्तार के लिए चेष्टा कर रहे हैं, उन्होंने आनन्द प्रकट किया। शिक्षा के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए स्वामीजी बोले, "शिशुओं को शिक्षा देनी हो तो उन पर अधिक मात्रा में विश्वास रखना होगा। यह मानना होगा कि प्रत्येक शिशु अनन्त ईश्वरीय शक्ति का आधार है। शिशु को शिक्षा देते समय हमें एक और बात का स्मरण रखना चाहिए, और वह यह है कि हमें उन्हें उन विषयों में उत्साह देना होगा जिससे वे स्वयं चिन्तन करना सीखें। इस मौलिक चिन्तन की कमी ही भारत की वर्तमान हीन अवस्था का कारण है। यदि लड़कों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाय तो वे मनुष्य बनेंगे तथा जीवन-संग्राम में अपनी समस्याओं को पूर्ण करने में समर्थ होंगे।"

स्वामीजी शिष्यों के साथ जिस बंगले में थे वहाँ बीस दिसम्बर को सभा हुई। स्थानीय सभी शिक्षित व्यक्ति तथा कुछ यूरोपीय भद्र सज्जन महिलाएँ उपस्थित थीं। राजा साहब ने सभापति का आसन ग्रहण किया। उन्होंने सभा को स्वामीजी का परिचय दिया और उसके बाद स्वामीजी ने लगभग डेढ़ घण्टे तक एक सारगर्भित तथा ज्ञानपूरित भाषण दिया। वर्तमान भारत में धर्म की अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होंने बड़े दुःख तथा क्षोभ के साथ कहा, "हम हिन्दू भी नहीं हैं और वैदान्तिक भी नहीं — असल में हम हैं 'छुआछूत' पन्थी। रसोईघर हमारा मन्दिर है, पकाने का बर्तन हमारा उपास्य देवता है और 'मत छुओ, मत छुओ' मंत्र है! समाज के इस अन्ध कुसंस्कार को शीघ्र दूर करना होगा। और वह एक-मात्र उपनिषदों के उदार मतों द्वारा ही हो सकता है।"

इस प्रकार अपने राजशिष्य के साथ कुछ दिन बड़े आनन्द से बिताकर स्वामीजी ने विदा ली। वे लगातार भाषण व प्रचार-कार्य से थक गए थे। फिर भी आग्रहपूर्ण आमंत्रणों की उपेक्षा करने में असमर्थ होकर किसी प्रकार वे किशनगढ़, अजमेर, जोधपुर व इन्दौर होकर खण्डवा पहुँचे। खण्डवा

में आकर स्वामीजी का शरीर बहुत अस्वस्थ हो गया। इतने में ही बड़ौदा, गुजरात व बम्बई प्रेसिडेन्सी से आग्रहसूचक आमंत्रण-पत्र व तार आने लगे। प्रबल इच्छा रहते हुए भी स्वामीजी सामयिक रूप से भ्रमण कार्य को स्थगित कर कलकत्ता लौट आए।

पंजाब, काश्मीर व राजपूताना में दिए हुए स्वामीजी के विख्यात भाषणों को पढ़ने से स्वामीजी का उदार भाव, उनका धर्म का सार्वभौमिक आदर्श व उनकी शिक्षाप्रणाली का मौलिकत्व देखकर विस्मित होना पड़ता है। एक ओर उन्होंने जिस प्रकार आधुनिक सुधारवाले सम्प्रदायों की वैदेशिक भावपूर्ण कार्यप्रणाली की तीव्र समालोचना की है, उसी प्रकार दूसरी ओर उन्होंने उन्नति के विरोधी, संकीर्ण भाववाले कट्टर-पंथियों के पुराने संस्कारों का, जिनमें वे अन्ध विश्वासी होकर अपने को जकड़े हुए थे, उपहास करने में कमी नहीं की — साथ ही यह भी बता दिया कि उनकी यह रूढ़िप्रियता एक प्रकार से पागलपन ही कही जा सकती है। स्वामीजी की धारणा थी कि वेदान्त के महान् सत्यों की उपेक्षा करने के परिणाम में ही भारतवर्ष की वर्तमान दुरवस्था हुई है। एक ही वेदान्तदर्शन के अवलम्बन से विभिन्न प्रकार के विरोधी मतवादों का उद्‌भव होने के कारण कालक्रम से वह दार्शनिक पण्डितों के तीव्र मस्तिष्कों के प्रशस्त व्यायामक्षेत्र के रूप में परिणत हो चला है। पुराण तथा कुछ आधुनिक स्मृतिशास्त्र और विशेष रूप से देशाचार व लोकाचार ही धर्मजगत् में वेदान्त के स्थान पर अधिकार प्राप्त कर बैठे हैं। यहाँ तक कि वेदान्त के नाम से इस समय लोग एक ऐसे दुर्बोध दर्शन-शास्त्र को समझते हैं जिसके साथ प्रचलित धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस भ्रान्त विश्वास को दूर करने के लिए युगप्रवर्तक आचार्य देव ने अद्वैतानुभूति के अत्युच्च शिखर पर खड़े होकर सभी जातियों, सभी मतों, सभी सम्प्रदायों के दुर्बल, दरिद्र, दुःखी पददलितों को वज्र स्वर से पुकारते हुए उन्हें अपने पैरों खड़े होकर मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करने का आदेश दिया है। यदि भारत

ने अभी भी उनके उपदेशों के मर्म को नहीं समझा है, तथा उनके द्वारा प्रचारित आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा वह अब भी नहीं कर रहा है तो भारत के भविष्य को ईश्वर ही सँभाले।

१८९८ ई० के जनवरी मास के मध्य स्वामीजी अपने गौरवमय उत्तर भारत-भ्रमण को समाप्त कर कलकत्ता लौट आए। बहुत दिनों से उनका भागीरथी के तट पर एक स्थायी मठ निर्माण करने का संकल्प था। पाश्चात्य देशों से भारत में लौटते ही उन्होंने अपने इस संकल्प की बात गुरुभाइयों के पास प्रकट की थी और तदनुसार वे योग्य स्थान की खोज में लगे थे। भागीरथी के पश्चिम तट पर बेलुड़ गाँव में योग्य स्थान का पता पाने के साथ ही स्वामीजी की शिष्या एवं भक्त कु० हेनरिएटा मूलर द्वारा दिए हुए प्रचुर धन से उक्त भूमि खरीद ली गई। उक्त स्थान इससे पूर्व नौकाओं के अड्डे के रूप में व्यवहृत हो रहा था। उसे समतल बनाकर मठ का निर्माण करने में प्रायः एक वर्ष समय लगा था। मठ की भूमि को समतल बनाने में तथा पुराने एक मंजले मकान की मरम्मत कर दुमंजला बनाने में जो धन लगा था वह स्वामीजी के लन्दन के शिष्यों ने दिया था। स्वामीजी की अन्यतम अमेरिकन शिष्या श्रीमती ओलीबुल ने वर्तमान ठाकुरघर के निर्माण का सारा व्ययभार स्वयं उठाया और मठ का खर्च चलाने के लिए बेलुड़ मठ के सचालकों के हाथ में एक लाख से अधिक रुपये दिए। इस प्रकार ईश्वर की कृपा से स्वामीजी के जीवन का एक महान् संकल्प पूर्ण हुआ। उधर हिमालय में मठ स्थापना के लिए सेविअर दम्पति योग्य स्थान की खोज में थे। बेलुड़ मठ का निर्माण-कार्य प्रारम्भ होने के साथ ही मठ आलमबाजार से बेलुड़ गाँव के नीलाम्बर मुखोपाध्याय के बगीचेवाले मकान में लाया गया। उक्त बगीचेवाला मकान संन्यासियों के लिए अस्थायी रूप से किराये पर ले लिया गया था। स्वामीजी अपने शिष्य व गुरुभाइयों के साथ वहाँ पर आकर निवास करने लगे।

इस बीच में स्वामी शारदानन्दजी अमेरिका में वेदान्तप्रचारकार्य में यथेष्ट सफलता प्राप्त कर कार्यवश मठ लौट आए। स्वामी शिवानन्दजी भी प्राय: लगभग एक वर्ष से अधिक सीलोन में प्रचारकार्य कर रहे थे। वे भी मठ में लौट आए। स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी दिनाजपुर में दुर्भिक्ष का समाचार पाकर सेवा व सहायता के उद्देश्य से वहाँ पर गए थे। उस कार्य को भलीभाँति समाप्त कर वे मठ में लौट आए। स्वामीजी की अनुपस्थिति में स्वामी ब्रह्मानन्दजी रामकृष्ण मिशन का कार्य भलीभाँति चला रहे थे तथा स्वामी तुरीयानन्दजी मठ में रहकर नवीन संन्यासी व ब्रह्मचारियों को शिक्षा देने का कार्य कर रहे थे। गुरुभाइयों के निःस्वार्थ आत्मत्याग को देखकर स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें धन्यवाद देने के लिए शिवरात्रि के दिन तीसरे प्रहर एक छोटी सी सभा बुलाई गई। स्वामीजी सभापति बने। उनके निर्देश से पहले अन्यान्य गुरुभाइयों के भाषण हुए। उसके बाद स्वामीजी ने लगभग आध घण्टे तक ओजपूर्ण भाषा में मठ के संन्यासी व ब्रह्मचारियों का तत्कालीन कर्तव्य तथा उनके आदर्श के सम्बन्ध में एक भाषण दिया।

इसके थोड़े ही दिन बाद श्रीरामकृष्ण देव का जन्म-दिवस आ गया। महोत्सव की व्यवस्था का भार स्वामीजी ने स्वयं ग्रहण किया। उक्त दिवस प्रातःकाल स्वामीजी ने घोषित किया कि वे श्रीरामकृष्ण के तथा अपने अब्राह्मण शिष्यों को यज्ञोपवीत प्रदान करेंगे। शिष्य श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती को उपनयन व गायत्री मंत्र प्रदान करने का कार्य सौंपा गया। स्वामीजी ने कहा, "श्रीरामकृष्ण के भक्तगण सभी ब्राह्मण हैं। वेद कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य तीनों वर्णों को ही उपनयन संस्कार का अधिकार है। संस्कार के अभाव में वे लोग इस समय व्रात्यत्व को प्राप्त हो रहे हैं। आज श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि है। इस पुण्य दिवस में वे अपने अधिकार के अनुसार क्षत्रियत्वव वैश्यत्व का ग्रहण करें। समय पर इन्हें ब्राह्मण बना डालना होगा।" स्वामीजी के निर्देश पर करीब पचास व्यक्तियों ने गंगास्नान करके श्रीरामकृष्ण

के चित्र के सामने यज्ञोपवीत तथा गायत्री मंत्र ग्रहण किया। यज्ञोपवीत ग्रहण करने के बाद उन भक्तों को सम्बोधित कर स्वामीजी ने आवश्यक उपदेश आदि दिए और उन्हें प्रतिदिन गायत्री मंत्र का जप करने का निर्देश किया।

सामाजिक चिर आचरित प्रथा के विरुद्ध स्वामीजी का यह असीम साहसपूर्ण कार्य उस दिन कट्टरपन्थी हिन्दू समाज की किस तीव्र समालोचना का विषय बना होगा, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। यद्यपि कुछ सामाजिक प्रथाएँ तथा आचार-व्यवहार उनकी दृष्टि में हिन्दू शास्त्र व भारतीय विशिष्ट सभ्यता के विरोधी प्रतीत हुए थे, फिर भी किसी नवीन संस्कार द्वारा एकाएक समाज पर आघात करना उनका उद्देश्य न था। परन्तु यह उपनयन संस्कार उस प्रकार का न था। इसका वास्तविक उद्देश्य था, बहुत दिनों से सोई हुई हिन्दू जाति को आत्मचेतना देना। बहुत दिनों से अनेक शाखा-उपशाखाओं में विभक्त हिन्दू कहलानेवाले जातियों को एकत्र करके शास्त्रों के अनुसार चार मूल वर्णों में लाने की आवश्यकता का वे अनुभव करते थे और इस बात पर विश्वास रखते थे कि इसी प्रकार से फिर से वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करना सम्भव होगा। समाज में शूद्र नाम से कहे जानेवाले जिन व्यक्तियों ने इस समय यज्ञोपवीत ग्रहण किया, उन्हें अपने समाज में निस्संदेह अनेक कष्ट सहने पड़े थे। परन्तु बेलुड़ मठ के इस छोटे तथा निर्भीक कार्य ने आगे चलकर बंगाली समाज पर यथेष्ट प्रभाव फैलाया है,—क्योंकि स्वामीजी के जीवित रहते ही बंगाल की कुछ प्रबल जातियों ने क्षत्रियत्व व वैश्यत्व की माँग पेश करके आन्दोलन उपस्थित किया था। और इस समय हम देख रहे हैं, प्राचीन दल की तीव्र आपत्ति के रहते हुए भी वे अनेकांश में सफल हुए हैं। अवश्य ही सत्य की दृष्टि से इस बात को स्वीकार करना पड़ता है कि किसी किसी जाति की क्षत्रिय या वैश्योचित संस्कार-प्राप्ति में अतीत की बुराइयों को दूर करने की चेष्टा के बदले कृत्रिम आभिजात्य प्राप्त करने की चेष्टा ही अधिक प्रकट हो रही है। फिर भी इन सब चेष्टाओं

की दोष-त्रुटियों की उपेक्षा कर इसकी मूल भावना के साथ सभी स्वजाति-हितैषी चिन्तनशील व्यक्तियों की सहानुभूति रहना अत्यन्त वांछनीय है। अपने को जानने की, अपने को समझने की, समाज-जीवन में उचित स्थान व जिम्मेदारी को ग्रहण करने की यह चेष्टा जिस आत्मचेतना को जाग्रत करेगी, परिणाम में उसका फल अच्छा ही होगा। कालपुरुष का इशारा है — देश के श्रेष्ठ जातिसमूह अब पतित की श्रेणी में न रहेंगे। अपने अपने वर्णों की उचित शिक्षा-दीक्षा को प्राप्त करने का उत्साहपूर्ण उद्यम उसमें जाग उठा है — यह युगधर्म की प्रेरणा है, इसमें बाधा उत्पन्न करने की चेष्टा मूढ़ता मात्र है। निरर्थक प्रथाओं के आवरण से नव जागरण को ढँके रखना असम्भव है — असाध्य है।

इसी प्रसंग में यहाँ पर एक और बात का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। जाति की शक्ति-वृद्धि के लिए स्वामीजी ने पहले पहल एक ही जाति की विभिन्न शाखाओं में वैवाहिक आदान-प्रदान के प्रति हमारी दृष्टि आकृष्ट की है। एक ओर विवाह योग्य कन्याओं के विवाह की चिन्ता और दूसरी ओर विवाह योग्य कन्याओं का अभाव — इन दो विपरीत परिस्थितियों के प्रबल दबाव से पिसकर भी आज तक किसी ने इस विषय में उल्लेखनीय आन्दोलन उपस्थित नहीं किया। फिर भी हमें आशा है, — उदीयमान उन्नतिशील नवयुवक इस विषय में और अधिक उदासीन नहीं रहेंगे।

१८९८ ई० के जनवरी से अक्टूबर तक स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण मठ की स्थापना व संघ की संगठन सम्बन्धी कार्यप्रणाली को व्यवस्थित करने में तथा शिष्य व शिष्याओं के शिक्षा-दान के कार्य में ही प्रधानतया अपना समय लगाया था। जनवरी मास के मध्य में उत्तर व पश्चिम भारत का भ्रमण समाप्त कर वे खण्डवा से कलकत्ता लौट आए। इधर कुछ दिनों के बाद ही कुमारी मूलर के साथ कुमारी मार्गारेट नोबल पाश्चात्य समाज के सभी बन्धनों को छिन्न कर कलकत्ता आई। फरवरी मास में श्रीमती ओलीबुल व कुमारी मकलीओड्

अमेरिका से श्री गुरुदेव की जन्मभूमि का दर्शन तथा भारतीय शिक्षा व संस्कृति के साथ प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करने तथा नवीन संघ के कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए इस देश में आ गई। सहृदया कुमारी मूलर तथा श्रीमती बुल आदि की आर्थिक सहायता से गंगा के पश्चिम तट पर बेलुड़ गाँव में मठभवन के निर्माण के लिए कुछ जमीन, एक पुराने मकान के साथ खरीद ली गई और उसके पास ही नीलाम्बर मुखोपाध्याय का बगीचेवाला मकान किराये पर ले लिया गया। आलमबाजार मठ से संन्यासी व ब्रह्मचारीगण इस नवीन मकान में चले आए। इसके बाद शिष्याएँ कुछ तो नए खरीदे हुए मकान में और कुछ कुटियों में निवास करने लगीं। अवकाश पाने पर स्वामीजी इनकी कुटियों में आकर भारतीय आचार-व्यवहार, इतिहास-दर्शन आदि की चर्चा किया करते थे। कुमारी मार्गारेट नोबल पहले से ही तैयार होकर आई थी। स्वामीजी के निर्देशानुसार सुपण्डित स्वामी स्वरूपानन्दजी ने उनकी शिक्षा का भार ग्रहण किया। परन्तु कुमारी नोबल ने संघ के साथ सम्पूर्ण रूप से सम्मिलित होने के लिए श्री गुरुदेव की अनुमति माँगी। शिष्या का अभिप्राय तथा हार्दिक इच्छा को देख स्वामीजी ने उन्हें ब्रह्मचर्य के व्रत में दीक्षित किया। कुमारी नोबल ने जब भारतवर्ष में आने के लिए स्वामीजी की अनुमति माँगी थी उस समय स्वामीजी ने उत्तर दिया था,— "निर्धनता, अधःपतन, कूड़ा-कर्कट, फटे-मैले वस्त्र पहने हुए नर-नारियों को देखने की यदि इच्छा हो तो चली आओ, दूसरी किसी चीज़ की आशा करके न आना। हम तुम लोगों की हृदयविहीन समालोचना को सहन नहीं कर सकते।" भारत की अधःपतित जनता के आचार-व्यवहार पर पाश्चात्यदेशीय व्यक्तियों के निर्दयतापूर्ण व्यंगों से विवेकानन्द का हृदय बाणविद्ध सिंह के समान गर्जना कर उठता था। एक अंग्रेज महिला एक दिन एक अद्‌भुत वेषधारी कुरूप ब्राह्मण को देखकर हँस पड़ी थीं। विवेकानन्द ने उसी समय गम्भीर होकर कहा था, "चुप रहो, इनके लिए तुमने क्या किया?" स्वदेशवासियों के प्रति विवेकानन्द के गम्भीर

प्रेम को कु० नोबल भलीभाँति जानती थीं। वे यह भी जानती थीं कि विवेकानन्द का अनुसरण करना हो तो सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण करना होगा। अपने व्रत की जिम्मेदारी को भलीभाँति अनुभव करके ही कु० नोबल ब्रह्मचारिणी बनीं और यहीं पर कु० नोबल के इस नाम की समाप्ति हुई। अब वे विवेकानन्द की मानसकन्या — भगिनी निवेदिता — नाम से प्रसिद्ध हुई।

नवदीक्षिता शिष्या को आशीर्वाद देकर महान् गुरुदेव ने कहा "जाओ, वत्से, तुम उन्हीं का अनुसरण करो जिन्होंने बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्व पाँच सौ बार लोककल्याण के व्रत में अपने को उत्सर्गित किया था।"

मठ के निर्माण सम्बन्धी कार्य तथा शिक्षा-दान के कार्य में बड़े उत्साह के साथ आत्मनियोग करने पर भी स्वामीजी की शारीरिक अस्वस्थता विघ्न के रूप में खड़ी हो गई। चिकित्सकगण उनके वायु-परिवर्तन तथा विश्राम के लिए ज़ोर देने लगे। विवश होकर कार्य का भार गुरुभाई व शिष्यों पर छोड़ तीस मार्च को स्वामीजी दार्जिलिंग चले गए। दार्जिलिंग में उनका स्वास्थ्य धीरे धीरे सुधर रहा था। इतने में ही सहसा समाचार आया कि कलकत्ते में प्लेग रोग व्यापक रूप में प्रकट हुआ है। प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्ति मर रहे हैं — ऐसा समाचार सुनकर क्या महाप्राण विवेकानन्द स्थिर रह सकते थे? निदान तीन मई को वे कलकत्ता लौट आए और उसी दिन उन्होंने प्लेग रोग में सावधानी तथा आवश्यक प्रतिषेधक व्यवस्था कायम रखने के लिए जनसाधारण को उपदेश दिया। साथ ही साथ बंगला व हिन्दी भाषा में प्रचार-पत्र तैयार करके छापने के लिए भी दे आए और भगिनी निवेदिता तथा अन्यान्य संन्यासी व ब्रह्मचारियों को साथ लेकर उन्होंने सेवा-कार्य प्रारम्भ कर दिया। कलकत्ते में उस दिन जिस भय तथा आतंक का संचार हुआ था आज उसकी कल्पना करना भी कठिन है। डरे हुए स्त्री-पुरुष अपने अपने प्राण लिये भागे जा रहे थे। प्लेग रोग तथा 'सरकारी प्लेग रेगुलेशन' दोनों ही कठोर थे। उस भयंकर परिस्थिति में दंगा रोकने तथा रेगुलेशन मानने में जनता को बाध्य

करने के लिए सरकारी फौज की नियुक्ति हुई थी, और उनके मनमाने आचारों द्वारा नर-नारी और भी अधिक विह्वल कर डाले गए। इस आपत्तिकाल में अभय व सेवा-भाव को सम्मुख रखकर विवेकानन्द द्वारा परिचालित श्रीरामकृष्ण की सन्तान कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुई। इस कार्य के लिए कितने धन की आवश्यकता होगी, तथा वह कहाँ से आयेगा, इस बात की चिन्ता करते हुए किसी गुरुभाई ने प्रश्न किया, "स्वामीजी, रुपये कहाँ से आएँगे?" स्वामीजी ने उसी समय उत्तर दिया, "क्यों? — यदि आवश्यकता हो तो मठ के लिए नई खरीदी हुई जमीन बेच डालेंगे। हजारों स्त्री-पुरुष हमारी आँखों के सामने असहनीय दुःख सहन करेंगे और हम मठ में रहेंगे? हम संन्यासी हैं, आवश्यकता होगी तो पहले जैसे फिर वृक्षों के नीचे रहेंगे, भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न-वस्त्र हमारे लिए पर्याप्त होगा।"

सन्तोष की बात है, मठभवन को बेचने की आवश्यकता नहीं हुई। चारों ओर से यथेष्ट आर्थिक सहायता आने लगी। कलकत्ते में एक बड़ी सी जमीन किराये पर लेकर उस पर बहुत सी कुटियाँ निर्माण की गईं। जाति व वर्ण विचार छोड़ असहाय प्लेगरोगग्रस्त नर-नारियों को वहाँ पर लाकर उत्साही कार्यकर्तागण सेवा-कार्य में रत हुए। स्वामीजी स्वयं उपस्थित रहकर देख-भाल करने लगे। जिस मुहल्ले में इन्होंने कार्यारम्भ किया था उस मुहल्ले की गंदगी आदि को दूर करना तथा प्रतिषेधक औषधादि द्वारा स्थान को साफ करने के लिए प्रति दिन कार्यकर्ताओं के जत्थे जाने लगे। दरिद्रनारायणों की सेवा में उनके असीम उत्साह व आत्मत्याग को देख अनेक विरुद्धवादी निन्दा करने वाले लोग, तथा ऐसे व्यक्ति जो उनकी निन्दाओं को सुनकर उनके सम्बन्ध में विरुद्ध भाव रखते थे, — अब समझ सके कि विवेकानन्द ने केवल मुँह से ही वेदान्त का प्रचार नहीं किया — कार्य में भी वे वैदान्तिक हैं। 'यत्र जीव तत्र शिव' मंत्र के ऋषि विवेकानन्द मृत्यु की कुछ भी परवाह न करते हुए स्वदेशवासियों को शिक्षा देने लगे कि किस प्रकार नर को नारायण मान सेवा करना योग्य है।

वेदान्त के महान् आदर्श को अपने कर्मजीवन में परिणत करके उस आदर्श के अनुसार जीवन गठित करने के लिए आचार्य देव ने अपने स्वदेशवासियों को उच्च स्वर से पुकारा है। जिन डोम-चाण्डाल, मोची-मेहतर आदि को सदियों से तथाकथित जाति के अभिमानीगण 'चलायमान' श्मशान मानकर घृणा से दूर हटाते आ रहे हैं, स्वामीजी ने उन्हीं को, 'मेरे भाई, मेरे रक्त' कहकर उनका आलिंगन किया है। उन्होंने भारत के कल्याण के इच्छुक कर्मयोगियों से तमोन्हृद में डूबते हुए करोड़ों अज्ञानी नर-नारियों का ज्ञानालोक द्वारा उद्धार करने का व्रत लेने के लिए बार बार आकुल भाव से अनुरोध किया है। उनके दुःख, उनकी दीनता व अज्ञता को दूर करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करना — रुग्ण, आर्त, अनाथ को औषधि, पथ्य व आहार देना — यही सेवा-धर्म अशेष कल्याणकारी वर्तमान युगोपयोगी मुक्ति का प्रशस्त राजपथ है। बहुत्व के बीच में एकत्व के दर्शन को ही हिन्दूजीवन का चरम लक्ष्य जानकर आचार्य देव ने अद्वैतवाद की सुदृढ़ नींव पर सेवाधर्म का मंगलमय प्रासाद खड़ा किया — जिसके गगनभेदी सैकड़ों शिखरों पर फहराने वाले त्याग के गैरिक झण्डे अपनी महिमा से विश्व की विस्मित दृष्टि को आकर्षित कर रहे हैं। अक्लान्त लोकहितैषणा के बीच में से, स्वधर्मपरायण जाति के त्याग व सहनशीलता का महिममय दृश्य वर्तमान युग में उज्ज्वल रूप से प्रकट हुआ है। सेवाधर्म को उपलक्ष्य कर ज्ञान, कर्म व भक्ति की पुण्य त्रिवेणी का बहुत दिनों के बाद विवेकानन्द के हृदयरूपी प्रयाग में आनन्द-सम्मेलन हुआ है। इसीलिए आज नवयुग के इस पवित्र तीर्थ के पवित्र प्रेम-सलिल में साम्प्रदायिक विद्वेष-बुद्धिहीन, परन्तु साथ ही विभिन्न भावों का सहारा लेनेवाले साधकगण आनन्द के साथ अवगाहन कर रहे हैं।

यह पहले से ही निश्चित हुआ था कि स्वामीजी अपनी पाश्चात्य शिष्याओं के साथ हिमालय-भ्रमण के लिए जायँगे। प्लेग का प्रकोप घट जाने पर तथा सरकारी रेगुलेशन शिथिल हो जाने पर स्वामीजी ने श्री० सेवियर के

आमंत्रण के अनुसार अलमोड़ा की ओर यात्रा की। उनके साथ थे स्वामी तुरीयानन्दजी, निरंजनानन्दजी, सदानन्दजी, स्वरूपानन्दजी आदि तथा उनकी चार पाश्चात्य शिष्याएँ। नैनीताल में पहुँचकर अपने साथियों के साथ स्वामीजी ने कुछ विश्राम किया। खेतरी के महाराजा अपने गुरुदेव के दर्शन की इच्छा से पहले से ही वहाँ पर मौजूद थे। स्वामीजी के श्रीचरणों का दर्शन पाकर महाराजा साहब ने अपने को कृतार्थ माना तथा उनकी पाश्चात्य शिष्याओं के साथ परिचित होकर वे आनन्दित हुए। इसी समय की भ्रमण-कहानी तथा स्वामीजी के अमूल्य वार्तालापों का भगिनी निवेदिता ने अपने 'स्वामीजी के साथ हिमालय में' नामक पुस्तक में सुन्दर रूप से वर्णन किया है। इस समय स्वामीजी अपने शिष्यों की दृष्टि में भारत के पौराणिक व ऐतिहासिक युगों का जीता-जागता स्वरूप प्रतीत होते थे। भारत के अतीत इतिहास की पवित्र कहानियों का वर्णन करते हुए समय समय पर भाव के आवेग में वे वर्तमान को भूल जाते थे।

स्वामीजी के बचपन के मित्र श्री० योगेशचन्द्र दत्त एक दिन उनके साथ साक्षात्कार करने आए। बातचीत के सिलसिले में योगेश बाबू ने स्वामीजी से कहा कि यदि वे भारतीय शिक्षित युवकों को सिविल सर्विस पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड भेजने के उद्देश्य से चन्दा इकट्ठा कर उनकी सहायता कर सकें तो वे सब युवकगण कृतार्थ होकर मातृभूमि के कल्याण व उत्थान के लिए बहुत कुछ कार्य कर सकेंगे। स्वामीजी ने गम्भीर होकर उत्तर दिया, "तुम बड़ी भारी भूल कर रहे हो। वे सब युवक स्वदेश में लौटकर केवल यूरोपियनों के समाज में ही सम्मिलित होने की चेष्टा करेंगे, यह तुम निश्चित जान लो। वे पग पग पर साहबों के खान-पान, आचार-व्यवहार की नकल करेंगे — स्वदेश व स्वजाति के आदर्शों की बातें भूल से भी न सोचेंगे।" — और यह कहते कहते स्वामीजी भारतवर्ष की निश्चेष्ट जड़ता तथा सांसारिक जीवन के दुःख-कष्टों को मिटाने की चेष्टा के प्रति घोर उदासीनता तथा उद्यमविहीनता इत्यादि

का ओजपूर्ण भाषा में वर्णन करने लगे। देश की दुर्दशा के बारे में वर्णन करते करते उनके बड़े बड़े चक्षु अश्रुपूर्ण हो गए। उस दिन योगेशबाबू के मित्र रामपुर स्टेट कालेज के प्रधान शिक्षक बाबू ब्रह्मानन्द सिंह वहाँ पर उपस्थित थे। उन्होंने इस अपूर्व दृश्य को देख श्रद्धाविमुग्ध हृदय से लिखा है:—

"उस दृश्य को मैं जीवन में कभी नहीं भूलूँगा। वे (स्वामीजी) संसारत्यागी संन्यासी थे, फिर भी भारतवर्ष उनके सम्पूर्ण हृदय में व्याप्त था। उनका सारा प्रेम भारत के प्रति था, भारत को वे प्राण देकर अनुभव करते थे, भारत के लिए वे आँसू बहाते थे और भारत की सेवा में ही उन्होंने देह-त्याग किया है। उनके हृदयंत्र में भारतवर्ष का कम्पन होता था, उनकी नस नस में भारतवर्ष स्पन्दित होता था। तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष उनके जीवन के साथ मिलकर एकरूप हो गया था।"

अलमोड़ा में आकर स्वामीजी अपने गुरुभाई व संन्यासी शिष्यों के साथ श्री० सेविअर महोदय के बंगले में निवास करने लगे। उनकी पाश्चात्य शिष्याएँ पास ही एक दूसरे मकान में रहने लगीं। स्वामीजी अपने गुरुभाइयों के साथ प्रातर्भ्रमण के बाद उनके निवास-स्थान पर जाकर वार्तालाप में प्रवृत्त होते थे। शिष्य व शिष्याएँ भक्तिविनम्र चित्त से तन्मय होकर स्वामीजी के श्रीमुख से भारतीय आदर्शों की अनन्त व्याख्याएँ सुनते थे। समालोचकों की जो यह धारणा है कि भारतवर्ष जीर्ण व वृद्ध होकर लगातार अधःपतन के पथ में उतरता जा रहा है, उनके इस विद्वेष व अवज्ञा से उत्पन्न समालोचनाओं का तीव्र प्रतिवाद कर वे अपने शिष्य व भक्तों को समझा देते थे कि वैसी बात न होकर भारत एक गौरवमय विकास के लिए तैयार होकर अपने निर्दिष्ट पथ पर आगे बढ़ रहा है। अतः इस नवयुग के प्रारम्भ में स्वदेश-सेवा के लिए अग्रसर होने के लिए किस जबरदस्त विश्वास, गम्भीर प्रेम व सदैव जागृत रहनेवाली सहानुभूति को लेकर कार्य-क्षेत्र में आना होगा, यह विषय एक दिन शिष्यों को समझाते समझाते वे मानो अनजान में कह गए, "मैं अपने

को अनेक शताब्दियों के बाद आविर्भूत पुरुष के रूप में अनुभव कर रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि भारत युवावस्था में है।"

स्वामीजी शिक्षा-दान व आलोचना के प्रसंग में जो मत व्यक्त किया करते थे उनके अधिकांश भागों का भगिनी निवेदिता यत्नपूर्वक संग्रह करके रख गई हैं। निवेदिता को भारतीय भाव में गढ़ते हुए स्वामीजी बहुधा बाध्य होकर उनकी चिरपोषित रीति-नीति व आदर्शों की कड़ी आलोचना करते थे। दृढ़हृदया निवेदिता के लिए भी यह सम्भव न था कि वह प्रत्येक समय अपने स्वातंत्र्य को हटाकर गुरुदेव के साथ एकमत हो जातीं। गुरु व शिष्या का यह पारस्परिक मानसिक विरोध निवेदिता के भारत में आने के बाद ही प्रारम्भ हो गया था। भगिनी ने स्वयं लिखा है, "इस समय मेरी बड़ी यत्न से पाली हुई सभी धारणाओं पर प्रतिदिन जो आक्रमण व तिरस्कारों की वर्षा होने लगी उसके लिए मैं बिलकुल तैयार न थी। अनेक समय अकारण दुःख भोगना पड़ता है। मैंने ध्यान से देखा — अनुकूल भाव रखनेवाले प्रिय आचार्य का मेरा जो स्वप्न था, वह लुप्त सा होने लगा और उसके स्थान पर एक ऐसे व्यक्ति का चित्र प्रकट हुआ जो अन्ततः उदासीन और सम्भवतः विरोधी भाववाले होंगे। इस समय मैं जिस मानसिक कष्ट को भोग रही थी उसकी युक्ति द्वारा विचार करने की चेष्टा भी विडम्बना मात्र है।"

भावों का यह संघर्ष निवेदिता के जीवन में बहुत ही मर्मान्तिक हो उठा था। उनका परिणत अंग्रेज मन अपनी रुचि की विशेषता बड़ी कोशिश से बचाता हुआ भारतीय आदर्श का अंग्रेज की दृष्टि से विचार करता था। एक अंग्रेज महिला के लिए प्रौढ़ावस्था में भारतीय भाव में भारतीय साधना व व आदर्श को ग्रहण व हृदयंगम करना बहुत ही कठिन कार्य है — और इस कठिन कार्य के लिए स्वामीजी की प्रबल प्रेरणा ने ही राष्ट्रीय आभिजात्य से प्रेम रखनेवाली स्वातंत्र्याभिमानिनी निवेदिता के चित्त को विक्षुब्ध कर दिया था। वह इस प्रकार अपने को सम्पूर्ण रूप से तोड़कर फिर से गढ़ने के लिए

तैयार न थीं; खोजकर पथ भी नहीं पा रही थीं। अन्त में एक दिन रात को सहसा यह समस्या हल हो गई। आकाश में क्षीण चन्द्ररेखा निकली हुई थी। उसकी ओर देख कर स्वामीजी ने निवेदिता से कहा,—"मुसलमान लोग नवीन चन्द्र का बड़ा आदर करते हैं। आओ, हम भी आज नवीन चन्द्र के साथ नवीन जीवन का प्रारम्भ करें।" स्वामीजी के मंगलमय हस्त ने ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ आशीर्वाद की तरह चरणों के पास बैठी हुई निवेदिता के मस्तक को स्पर्श किया। दिव्य स्पर्श से जन्मगत व जातिगत संस्कार एक मुहूर्त में विलीन हो गए। भगिनी ने लिखा है, "बहुत दिन पूर्व श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्यों से कहा था कि ऐसा एक दिन आएगा जब नरेन्द्र स्पर्श-मात्र से दूसरों में ज्ञान का संचार कर देगा।" और अलमोड़ा के इस सायंकाल को यह भविष्य-वाणी सफल हो गई!

सम्भव है, इस विषय में कुछ लोगों की यह धारणा हो कि निवेदिता कोमल स्वभाववाली एक दुर्बल रमणी थीं। अतः महान् तेजस्वी विवेकानन्द ने उन्हें मंत्रमुग्ध कर अपने मन के अनुसार गढ़ लिया हो। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। और इस बात को कवि रवीन्द्रनाथ ने निवेदिता के देहान्त के बाद उनका स्मृति-तर्पण करते हुए अपनी अतुलनीय भाषा में व्यक्त भी किया था। हम उस वर्णन का कुछ अंश उद्धृत करके नीचे दे रहे हैं:—

"अनेक प्रकार से उनका परिचय प्राप्त करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ था। उनकी प्रबल शक्ति को मैंने अनुभव किया था, परन्तु साथ ही यह भी समझ लिया था, उनके चलने का रास्ता मेरे लिए अनुकूल नहीं है। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और साथ ही उनमें एक और चीज थी,—यह था उनका योद्धापन। उनमें बल था, उस बल का वे दूसरों के जीवन पर प्रबल वेग से प्रयोग करती थीं—मन को पराजित कर लेने का एक विराट उत्साह उनमें काम करता था। जहाँ पर उन्हें मान कर चलना असम्भव था; वहाँ पर उनके साथ मिलकर चलना भी कठिन था। कम से कम मैं अपनी

ओर से कह सकता हूँ, उनके साथ मिलने के मुझे अनेक अवसर प्राप्त हुए, परन्तु फिर भी अपने हृदय के एक कोने में गम्भीर दुःख का अनुभव करता था। उस दुःख में मैं यह नहीं कहूँगा कि वह ठीक ठीक अभाव की बाधा थी, वरन् वह मानो एक प्रबल आक्रमण की बाधा थी।

"आज इस बात को मैं निःसंकोच हो प्रकट कर रहा हूँ। इसका कारण यह है कि एक ओर से यद्यपि उन्होंने मेरे चित्त को प्रतिहत किया है, परन्तु दूसरी ओर से मैं उनसे जिस प्रकार उपकृत हुआ हूँ वैसा मैं नहीं समझता कि दूसरे व्यक्ति से हुआ हूँ। उनके साथ परिचय के बाद मुझे कई बार ऐसा हुआ है कि उनकी जीवनी को स्मरण कर तथा उनके प्रति गम्भीर भक्ति का अनुभव कर मुझे काफी बल प्राप्त हुआ है।

"अपने को इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से अर्पण कर देने की आश्चर्यजनक शक्ति मैंने अन्य किसी मनुष्य में नहीं देखी। इस सम्बन्ध में उनमें स्वयं में किसी प्रकार बाधा न थी। एक ओर उनका शरीर, उनका बचपन का यूरोपीय अभ्यास, उनके आत्मीय स्वजनों की स्नेहममता, और दूसरी ओर स्वदेशीय समाज द्वारा उनकी उपेक्षा तथा जिनके लिए उन्होंने प्राण समर्पण कर दिया है उन लोगों की इनके प्रति उदासीनता तथा इनके त्याग-स्वीकार का अभाव; परन्तु इनमें से कोई भी बात उन्हें अपने पथ पर से लौटा नहीं सकी। जिसने मनुष्य का सद्रूप तथा चिद्रूप जान लिया है उसी ने उन्हें पहचाना है। मनुष्य की आन्तरिक सत्ता सभी प्रकार के स्थूल आवरणों को बिलकुल झूठा बनाकर किस प्रकार अप्रतिहत तेज के साथ प्रकट हो सकती है, यह देख लेना परम सौभाग्य की बात है, भगिनी निवेदिता में मनुष्य के अपराजित माहात्म्य को प्रत्यक्ष देखकर हम धन्य हुए हैं।"

अलमोड़ा में आते ही स्वामीजी को निर्जनता बड़ी प्रिय हो गई। प्रायः प्रति दिन दस-ग्यारह घंटे घोर अरण्य में अकेले ध्यान-धारणा में बिताया करते थे। दर्शनार्थियों के साथ निरंतर आध्यात्मिक चर्चा करते रहने से उनका मन

मानो उकता रहा था — यहाँ तक कि कभी कभी अन्तरंग भक्तों के साथ भी किसी विषय की देर तक चर्चा करना मानो उनके लिए असह्नीय सा हो गया था। लोक-शिक्षा व धर्म-प्रचार के लिए ये परिव्राजक संन्यासी अब तक जिस भाव से जीवन व्यतीत करते आ रहे थे उसे मानो एक अभिनेता की पोशाक की भाँति दूर रखकर अब वे उदासीन योगी की तरह विचरण करने लगे। उनके अतीत जीवन का तीव्र तपोभाव तथा बहिर्जगत् पर उनकी प्रबल वितृष्णा समय समय पर उनके हाव-भाव (भावभंगी) में प्रकट हो जाती थी। जनसमुदाय को छोड़ वे प्रायः गम्भीर अरण्य में अकेले रहा करते थे।

इस प्रकार एक बार लगभग लगातार एक सप्ताह तक वे अरण्य में रहे और ५ जून सायंकाल को अलमोड़ा लौटे। इस समय उन्हें दो हृदय-विदारक समाचार सुनने को मिले। स्वामीजी की अनुपस्थिति में उनके शिष्यों को समाचार मिला था कि गाज़ीपुर के विख्यात साधु पवहारी बाबा ने अग्नि में स्वयं को आहुति के रूप में अर्पित किया है। और संकेत लिपि लेखक श्री० गुडविन ने भी २ जून को तेज ज्वर के आक्रमण से उटकमण्ड में शरीर त्याग कर दिया है। दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीमती बुल के बंगले में स्वामीजी को उक्त समाचार सुनाया गया। उन्होंने धीर भाव से उसे सुन लिया — किसी प्रकार मतामत व्यक्त न किया। पहले की तरह गम्भीर भाव से त्याग व भक्ति की महिमा का कीर्तन करने लगे। परन्तु कुछ घण्टों के बाद उन्हें अपने प्रियतम शिष्य के वियोग से जो हार्दिक आघात पहुँचा था उसे व्यक्त किया वे असल में अपने प्राणाधिक प्रिय शिष्य के निधन से दुःखी नहीं हुए थे, वरन् भारतमाता को जो एक उदीयमान कर्मी की सेवा से वंचित होना पड़ा, इसी दुःख ने उन्हें व्यथित कर दिया था।

कुछ दिन पूर्व मद्रास के 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के सम्पादक का देहान्त होने के कारण इस पत्रिका को अलमोड़ा से प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई। तदनुसार स्वामी स्वरूपानन्द उसके सम्पादक तथा श्री०

सेविअर उसके परिचालक नियुक्त हुए। इस पत्रिका के प्रति स्वामीजी का बड़ा प्रेम था, और अब सुयोग्य व्यक्तियों को इसका भार ग्रहण करते देख वे विशेष आनन्दित हुए। उसके बाद अपनी यूरोपीय शिष्याओं के साथ श्रीमती बुल के अतिथि के रूप में वे काश्मीर-भ्रमण के लिए निकल पड़े।

रावलपिण्डी से तांगा करके वे मारी पहुँचे। वहाँ पर तीन दिन विश्राम कर उन्होंने श्रीनगर की ओर यात्रा की। झेलम की घाटी के मनोरम दृश्यों को देखते हुए वे बारमुला पहुँचे। इस स्थान से तीन हाऊस बोट किराये पर लेकर नदी के मार्ग द्वारा वे श्रीनगर की ओर चले। स्वामीजी प्रसन्न चित्त से अपने परिव्राजक जीवन की भ्रमण-कहानियाँ साथियों को सुनाते थे और समय समय पर काश्मीर के अतीत इतिहास, कनिष्क की कहानी, अशोक के बौद्ध धर्म का प्रचार, शिव उपासना इत्यादि विभिन्न विषयों की चर्चा में इस प्रकार आत्मनिमग्न हो जाते थे कि भोजन करने तक का ध्यान न रहता था। २५ जून को वे श्रीनगर आ गए।

परन्तु एक सप्ताह में ही उनमें भावान्तर हो गया। हास्यप्रफुल्ल विवेकानन्द गम्भीर बन गए। वे प्रायः शिष्याओं के अनजाने अपनी नौका लेकर कहीं दूर चले जाते थे। अकेले निर्जन में रहने के लिए उनके हृदय में विशेष आग्रह दिखाई देने लगा।

४ जुलाई आने ही वाली थी, अतः स्वामीजी अपनी अमेरिकन शिष्याओं को उक्त 'स्वाधीनता दिवस' के उपलक्ष्य में विशेष रूप से आमंत्रित करने का आयोजन गुप्त रूप से करने लगे। दूसरे दिन प्रातःकाल पत्ते, फूल व पल्लवों से सुशोभित नाव की छत पर अमेरिका का राष्ट्रीय झण्डा फहराया गया। उनकी अमेरिकन शिष्याएँ विस्मित होकर आनन्द के साथ प्रातभोजन में सम्मिलित हुईं। इस छोटी सी उत्सव-सभा के अनुष्ठान को सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए स्वामीजी तथा भगिनी निवेदिता ने किसी प्रकार की कमी न की थी। स्वामीजी ने आनन्द के साथ 'To the 4th of July'

(४ जुलाई के प्रति) शीर्षक स्वरचित एक अंग्रेजी कविता पढ़कर शिष्याओं को सुनायी।

"चौथी जुलाई के प्रति"

काले बादल कट गये आकाश से
रात को बाँधे हुए थे जो समा—
पृथ्वी पर तानी थी चादर, इस तरह।
आँख खोली, जादू की लकड़ी फिरी।
चिड़ियाँ चहकीं, साथ फूलों के उठे
सर,— सितारे जैसे चमके ताज के—
ओस के मोती लगे, स्वागत किया
क्या तुम्हारा झूमकर झुककर! खुली
और फैली दूर तक झीलें, खुशी
जैसे, आँखें कमलों की फाड़े हुए
दर्श करतीं हैं तुम्हारा हृदय से।
कुल निछावर, ज्योति के जीवन, क्या
आज अभिनन्दन तुम्हारा, धन्य है।
आज, रवि, स्वाधीनता की फूटी कली,
राह देखी विश्व ने, कैसे खिली
देशकालिक खोज की, तुमसे मिले;
छोड़ा है घर, मित्र, छोड़ी मित्रता।
खोजा तुमको, आवारा मारा फिरा,
गुज़रा दहशत के समन्दर से, कभी
सघन पहले के गहन वन से; लड़ा
हर कदम पर प्राणों की बाज़ी लिये।
वक्त वह, हासिल निकाला काम का,

प्यार का, पूजा का, जीवन-दान का;
हाथ उठाया, सँवरकर पूरा किया।
फिर तुम्हीं ने स्वस्ति की बाँधी कमर
जनगणों पर मुक्ति की डाली किरण
देव, चलते ही चलो बेरोकटोक,
विश्व को दुपहर न जब तक घेर ले,
कर तुम्हारा हर ज़मी जब तक न दे,
स्त्री-पुरुष जब तक न देखें चाव से,—
बेड़ियाँ उनकी कटीं, उल्लास की
जाँ नई जब तक न समझें आ गई।

इस कविता को लिखने के ठीक चार वर्ष बाद १९०२ ई० की ४ जुलाई को स्वामीजी ने अपनी लीला समाप्त की। क्या यह उसी की भविष्य वाणी थी?— अथवा अमेरिका की स्वाधीनता की चिन्ता करते हुए उनके मानसपट पर समग्र जगत् के पददलित राष्ट्रों के पुनरुत्थान का एक गौरवमय चित्र उदित हुआ था?

६ जुलाई को श्रीमती बुल व कुमारी मैकलिऔड श्रीनगर से विशेष कार्यवश गुलमर्ग चली गई। १० तारीख को लौटकर उन्होंने सुना कि स्वामीजी अप्रत्याशित रूप से कहीं चले गए हैं। अन्त में अनेक खोज करने के बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि उन्होंने सोनामार्ग के रास्ते से अमरनाथ की यात्रा की है। अधिक गरमी के कारण बरफ पिघलकर सोनामार्ग का रास्ता बन्द हो गया था। अतः स्वामीजी १५ जुलाई को विफल मनोरथ हो फिर श्रीनगर लौट आए।

१८ जुलाई को वे इसलामाबाद लौटे। इसलामाबाद के निकटवर्ती कुछ प्राचीन देव-मन्दिर व अवन्तीपुर के ध्वंसावशेषों का दर्शन कर वे अच्छा-वल की ओर चले। इस समय प्रतिदिन प्रातःकाल स्वामीजी शिष्याओं के साथ झेलम नदी-तट पर भ्रमण करते हुए हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म व मुसलमान

धर्म के नाना प्रकार के ऐतिहासिक तत्वों की चर्चा करते थे और कभी कभी उन्हें त्याग व वैराग्य की महिमा द्वारा अनुप्राणित करते थे। अच्छावल में एक दिन मध्याह्न भोजन के समय स्वामीजी ने अपना अमरनाथ जाने का संकल्प व्यक्त किया तथा भगिनी निवेदिता को साथ जाने की अनुमति दी। यह निश्चय हुआ कि उनकी अन्य शिष्याएँ जब तक स्वामीजी लौटकर नहीं आते तब तक पेहलगाँव में प्रतीक्षा करेंगी।

यात्रा की अन्य व्यवस्थाएँ करने तथा तम्बू आदि खरीदने के लिए स्वामीजी फिर इसलामाबाद लौट आए। वहाँ से भगिनी निवेदिता के साथ अन्य यात्रियों से सम्मिलित होकर उन्होंने अमरनाथ की ओर यात्रा की। सायंकाल से पूर्व तीर्थयात्रीगण रात्रि बिताने के लिए मैदान में अपने अपने तम्बू गाड़ने लगे। संन्यासियों ने स्वामीजी व निवेदिता को अपने ही बीच में तम्बू गाड़ते देखकर तथा उनके साथ उस अंग्रेज महिला को देख प्रबल आपत्ति उठाई। पर स्वामीजी ने किसी भी तरह अलग स्थान में तम्बू उठाकर ले जाना स्वीकार नहीं किया। वे तीव्र भर्त्सना के साथ संन्यासियों की अज्ञतापूर्ण आपत्ति का प्रतिवाद कर रहे थे कि उसी समय एक नागा संन्यासी उनके सामने आकर विनीत भाव से बोले, "स्वामीजी, यह सत्य है कि आपमें शक्ति है — परन्तु उसे प्रकट करना उचित नहीं।" स्वामीजी उसी समय अपनी गलती समझकर चुप हो गए। आश्चर्य की बात है कि दूसरे दिन संन्यासियों ने स्वयं प्रवृत्त होकर स्वामीजी व निवेदिता के तम्बू को सब से अग्र भाग में स्थापित किया। स्वामीजी के प्रभाव ने मानो संन्यासियों में मंत्रशक्ति की तरह काम किया। सन्ध्या के बाद प्रज्ज्वलित धूनि के पास सैकड़ों संन्यासी उनके साथ धर्मालोचना करने लगे। जानकार संन्यासीगण उन्हें ब्रह्मज्ञ पुरुष समझकर उनकी बड़ी श्रद्धा करने लगे; और भगिनी निवेदिता से भिन्नदेशीया स्त्री होने के कारण संकोच प्रकट करना तो दूर रहा, वे लोग आनन्द के साथ अनेक प्रकार से उनकी सहायता करने लगे।

बावान के पवित्र झरने में स्नान कर एकादशी का पालन करने के लिए स्वामीजी ने यात्रियों के साथ एक दिन पेहलगाँव में विश्राम किया। कहना न होगा कि बरफ से ढँके हुए दुर्गम व दुरारोह पथ के क्लेशों के बावजूद भी स्वामीजी एक तीर्थयात्री के चिराचित कर्तव्यों का पालन दूसरे साधुओं की तरह करते थे। ध्यान, जप, शास्त्रचर्चा तथा एक ही समय साधारण आहार करना यही उनका दैनंदिन कार्यक्रम था। समतल से १८ हज़ार फीट ऊपर बरफ से ढँके हुए गिरिशृंगों को लाँघकर पाँच गिरि-निर्झरों के संगमस्थल पंच-तरणी में यात्रियों का पड़ाव पड़ा। इन पाँच नदियों में से एक के बाद दूसरे में गीले वस्त्रों को धारण किए हुए पैदल चलकर यात्रियों के स्नान करने का नियम है। स्वामीजी दीर्घ पथ-भ्रमण से थक गए थे। कहीं निवेदिता तथा उनके सार्थीगण निषेध न करें, इस भय से दूसरों के अलक्ष्य में स्वामीजी ने इस कठिन नियम का भी अक्षरशः पालन किया था।

२ अगस्त मंगलवार को रात को दो बजे चाँदनी में हिमालय का अपूर्व सौन्दर्य देखते देखते यात्रा प्रारम्भ हुई। कुछ समय बाद एक छोटी सी घाटी में आने पर कठिन चढ़ाई शुरू हुई। उस समय सूर्य उदित हो चुका था। धीरे धीरे दुर्गम पथ समाप्त हुआ और अमरनाथ की पवित्र गुफा दिखने लगी। इस गुफा के दर्शन करते ही यात्रिगण महादेव की जयध्वनि कर विगलित तुषार-धारा में स्नान करने लगे। थके होने के कारण स्वामीजी कुछ पीछे रह गए थे। थोड़ी देर में वे आ पहुँचे। गम्भीर प्रशान्त भाव से चिन्तित शिष्या से स्वामीजी ने केवल यही कहा, "मैं स्नान करने जा रहा हूँ, तुम पीछे पीछे आना।" स्नान कर चुकने के बाद नागा संन्यासियों के साथ शरीर में भस्म लेपकर एक मात्र कौपीनधारी विवेकानन्द ने भक्तिकण्ट-कित देह से विशाल गुफा में प्रवेश किया। यही चिर आकांक्षित श्री श्री अमरनाथ! सामने बृहत् चिर तुषारगठित भगवान महादेव का अनादि शिव-लिंग विराजमान है — मानो रजतशुभ्रकान्ति महादेव अपनी अटल महिमा में

स्वयं प्रतिष्ठित हैं। इस महान् प्रतीक मूर्ति के सम्मुख पूर्ण भक्ति के साथ भूमि पर लोटकर स्वामीजी ने दोनों हाथ फैलाकर मानो भगवान शंकर के श्रीपादपद्म का स्पर्श किया। उसके बाद थोड़ी देर ध्यानासन में बिताकर वे गुफा से बाहर आए। कहना न होगा कि भगिनी निवेदिता ने भी गुफा में प्रविष्ट होकर महादेव की आराधना की, और इसमें किसी ने कोई आपत्ति न की। स्वामीजी ने गुफा से बाहर निकलकर उड़ते हुए सफेद कबूतरों का दर्शन कर अपने को सौभाग्यवान व सिद्धसंकल्प माना। आध घण्टे के बाद नदी-तट पर एक शिला पर बैठकर स्वामीजी एक दयालु नागा संन्यासी व निवेदिता के साथ जलपान करते हुए बालक की भाँति आनन्दोच्छ्‌वास के साथ कहने लगे, "आज मुझे साक्षात् शिवदर्शन हुआ। यहाँ पर यात्रियों का धन लूटने के लिए हाथ फैलाये हुए पण्डे नहीं हैं, धर्म का व्यापार नहीं है, चित्त में विक्षेप उत्पन्न करने योग्य कुछ भी नहीं है — यह एक अनन्त पूजा व आराधना का भाव है। अन्य किसी भी तीर्थस्थान में मुझे इतना आनन्द प्राप्त नहीं हुआ।" बाद में उन्होंने निवेदिता से गम्भीर विश्वास के साथ कहा था, "देवाधिदेव अमरनाथ ने मुझे इच्छामृत्यु का वर प्रदान किया है।"

परन्तु अमरनाथ की अपूर्व अनुभूति तथा कष्टसाध्य अनुष्ठानों द्वारा उनका शरीर व स्नायुपुञ्ज इतना अधिक क्लान्त हो गया था कि (बाद में उन्होंने कहा था कि) इस भय से कि कहीं वे मूर्छित न हो जायँ उन्होंने अपने को संयत रखा था। उनकी बाईं आँख में खून जमकर दाग पड़ गया था और कुछ दिनों बाद किसी चिकित्सक ने उनकी परीक्षा करके कहा था कि उनके हृत्पिण्ड की गति रुद्ध होने की सम्भावना थी। परन्तु ऐसा न होकर वह दीर्घकाल के लिए बड़ा (Dilated) हो गया था।

लौटते समय रास्ते में पूर्व व्यवस्था के अनुसार स्वामीजी पहेलगाँव में आकर अपनी पाश्चात्य शिष्याओं के साथ सम्मिलित हुए। इस समय उनका प्राण-मन मानो शिवमय हो गया था। शिवजी की महिमा का कीर्तन करते

हुए व ८ अगस्त को श्रीनगर लौट आए। ८ अगस्त से ३० सितम्बर तक वे श्रीनगर में थे। इस समय स्वामीजी विशेष निर्जनताप्रिय हो गये थे और अपनी नाव को अक्सर दूसरी नावों से दूर ले जाते थे। उनका चित्त यद्यपि अधिकांश समय अन्तर्मुखी रहता था फिर भी बीच बीच में वे भारत के पुनरुत्थान के लिए अपने व्रत व आदर्श की चर्चा करते थे। इस चर्चा के समय केवल उनकी शिष्यागण ही उपस्थित नहीं रहती थीं, वरन् कभी कभी काश्मीर दरबार के उच्च पदाधिकारी भी सम्मिलित होते थे। वे कहते थे कि वर्तमान सामाजिक दुर्दशा को दूर करने के लिए हिन्दू धर्म को छुआछूत से मुक्त व प्रचारशील करना होगा, और उसका आदर्श होगा श्रीरामकृष्ण देव का जीवन। और इस विषय में बड़े उत्साह के साथ युक्ति उपस्थित करने में वे कभी विरत न होते थे। राष्ट्र की दुर्बलता तथा बिना प्रतिकार के अत्याचार को सहन करते हुए हीन से हीनतर जीवन व्यतीत करने की ग्लानि से इस अभागे राष्ट्र को मुक्त करने के लिए उनका आग्रह कितना गम्भीर था। निम्नलिखित घटनाओं से यह बात आसानी से स्पष्ट होती है। एक समय एक व्यक्ति ने उनसे पूछा, "स्वामीजी, जब हम यह देखें कि एक प्रबल व्यक्ति किसी दुर्बल व्यक्ति पर अत्याचार कर रहा है, तो हमें क्या करना चाहिए?" स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "क्या करोगे? निश्चय ही बाहुबल के प्रयोग द्वारा प्रबल को निरस्त कर देना होगा।" इसी प्रकार के एक प्रश्न के उत्तर में स्वामीजी ने एक दूसरे अवसर पर कहा था, "जहाँ पर दुर्बलता व जड़ता है वहाँ क्षमा का कोई मूल्य नहीं — युद्ध ही श्रेयस्कर है। जब तुम यह समझो कि सरलता से विजय प्राप्त करना तुम्हारे अधीन है तभी क्षमा करना। जगत् एक रणक्षेत्र है — युद्ध करके अपना पथ साफ करो।" फिर प्रश्न — "वास्तविक अधिकार की रक्षा के लिए कोई प्राणों का विसर्जन कर देगा अथवा प्रतिकार न करना सीखेगा?" स्वामीजी ने धीरे धीरे उत्तर दिया, "संन्यासी के लिए अप्रतिरोध ही धर्म है, परन्तु आत्मरक्षा करना गृहस्थ का कर्तव्य है।"

बौद्ध व जैन मत अहिंसा व अप्रतिरोध के आदर्श की विकृति है। गृहस्थ जीवन में मोक्षपन्थी संन्यासी की निष्क्रियता के व्यर्थ अनुकरण के फलस्वरूप ही हिन्दू जाति में तामसिक जड़ता प्रकट हुई है,—स्वामीजी ने अपने 'प्राच्य व पाश्चात्य' ग्रन्थ में इस बात की स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हुए कहा है,—"अहिंसा ठीक है, निर्वैर बड़ी बात है,—बात तो अच्छी है, परन्तु शास्त्र कहते हैं, तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे मुँह पर यदि कोई एक थप्पड़ मारे और यदि तुम उसके बदले में उसे दस थप्पड़ न मारो तो तुम पाप करोगे। 'आततायिनमायान्तं इत्यादि...'—मनु ने कहा है, जो हत्या करने के लिए आया हो ऐसे ब्राह्मण का वध करने में भी पाप नहीं है। यह सत्य बात है। यह भूलने की बात नहीं है। 'वीरभोग्या वसुन्धरा,' वीर्य प्रकट करो, साम, दाम, दण्ड, भेद नीति का प्रयोग करो, पृथ्वी का भोग करो, तभी तुम धार्मिक हो। और मार खाकर अपमान सहकर चुपके से घृणित जीवन व्यतीत करने पर इहकाल तथा परकाल दोनों में नरक भोग है, यही शास्त्रों की राय है; यही सत्य, सत्य, परम सत्य है। स्वधर्म करो, हाँ, अन्याय न करना, अत्याचार न करो, जहाँ तक हो सके परोपकार करो। परन्तु अन्याय को सहन करना गृहस्थ के लिए पाप है। उसी समय प्रतिकार करने की चेष्टा करनी होगी। महान् उत्साह के साथ अर्थोपार्जन कर स्त्री-परिवार आदि दस आदमियों का प्रतिपालन एवं कुछ कल्याणकर कार्यों का अनुष्ठान करना होगा। और अगर तुम यह न कर सके तो तुम मनुष्य किस काम के?"

काश्मीर में एक संस्कृत कालेज व मठ की स्थापना के लिए काश्मीर के महाराजा ने स्वामीजी को आवश्यकतानुसार भूमि देने के लिए वचन दिया था। झेलम नदी के तट पर स्वामीजी ने एक स्थान पसन्द किया और महाराजा ने वह भूमि उन्हें दान करने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी की शिष्यागण वहाँ पर तम्बू स्थापित कर निवास करने लगीं, परन्तु सितम्बर मास के मध्य भाग में उन्हें सरकार की ओर से सूचित कर दिया गया कि वह

भूमि उन्हें न मिलेगी। संकल्प भंग होने से स्वामीजी को क्लेश हुआ। उस समय के रेसिडेन्ट मि० ऐडलबर्ट टैबॉट की विरोधिता से उक्त प्रस्ताव की चर्चा तक कौन्सिल में न हो सकी। सामयिक निराशा से खिन्न होने पर भी इस घटना द्वारा स्वामीजी समझ गए कि देशी राज्य के बजाय ब्रिटिश भारत ही उनका योग्य कार्यक्षेत्र है। २० सितम्बर को स्वामीजी अमेरिका के कॉन्सल जनरल द्वारा आमंत्रित होकर डाल्हृद गए। वहाँ पर दो दिन रहकर वे फिर श्रीनगर लौट आए।

३० सितम्बर को स्वामीजी सहसा क्षीरभवानी की ओर चल पड़े और उन्होंने यह आदेश दिया कि कोई शिष्या उनका पीछा न करे।

क्षीरभवानी के पवित्र नदी तट पर पहुँचकर स्वामीजी उग्र तपस्या में संलग्न हो गए। जगज्जननी की पूजा के हेतु प्रतिदिन प्रातःकाल एक मन दूध की खीर तथा प्रचुर मात्रा में बादाम पिस्ता तथा अन्य मेवा का वे आयोजन करने लगे। स्थानीय किसी ब्राह्मण पण्डित की कुमारी कन्या की प्रतिदिन शास्त्र-विधि के अनुसार वे पूजा करते थे। एक दिन प्रज्वलित होमाग्नि के सम्मुख योगासन पर बैठे हुए विवेकानन्द महामाया के ध्यान में मग्न होने वाले थे। इसी समय सामने के टूटे हुए मन्दिर को देखकर उनके मन में विचार हुआ कि जिस समय मुसलमानों ने उस मन्दिर को तोड़ा था उस समय हिन्दू लोग क्या अपने बाहुबल द्वारा उन्हें नहीं रोक सकते थे? यदि मैं उस समय उपस्थित होता तो प्राणों की बाजी लगाकर भी माता के मन्दिर की रक्षा करता, किसी भी तरह पवित्र मन्दिर का नाश न होने देता।

पर सहसा उन्होंने एक देव-वाणी सुनी और विस्मय से चकित होकर उन्होंने अपने कानों से सुना कि जगज्जननी सस्नेह भर्त्सना के साथ कह रही हैं —"यदि मुसलमानों ने मेरा मन्दिर विध्वस्त कर प्रतिमा को अपवित्र कर भी दिया है, तो इससे तेरा क्या? तू मेरी रक्षा करता है या मैं तेरी रक्षा करती हूँ?"

यह कैसी अप्रत्याशित घटना! दूसरे ही दिन वे फिर सोचने लगे, जो कुछ होने का था सो हो गया है। पर मैं भीख माँगकर भी धन संग्रह करके टूटे मन्दिर का पुनः संस्कार करूँगा। आशा है कि इस कार्य में अग्रसर होने पर मैं निस्संदेह सफल होऊँगा। परन्तु सहसा फिर देव-वाणी! जननी कह रही हैं, "यदि मेरी इच्छा हो तो क्या मैं सात मंजिल वाला सोने का मन्दिर इसी मुहूर्त में तैयार नहीं कर सकती हूँ? मेरी इच्छा से ही यह मन्दिर भग्न होकर पड़ा हुआ है।"

कर्मयोगी का विद्या का अहंकार चूर्ण हुआ। रजोगुण का विराट, समुन्नत गर्व एकाएक अवनत होकर जगज्जननी के पैरों तले कुचल गया। श्रीरामकृष्ण देव जो कहते थे, "नरेन्द्र के हृदय में अज्ञान का एक पतला आवरण माँ ने ही रख दिया है — उसके द्वारा अनेक कार्य करा लेने के लिए,"— वह मानो क्षणकाल के लिए हट गया! उन्होंने दिव्य दृष्टि से देखा, महामाया की विराट इच्छा से केवल एक यंत्र की तरह वे परिचालित हो रहे हैं। इस नवीन अनुभूति ने उनके मनोराज्य में एक विचित्र परिवर्तन कर दिया। मन में अपूर्व शान्ति, अद्‌भुत निःस्तब्धता को लेकर स्वामीजी श्रीनगर लौट आए।

स्वामीजी के भावपरिवर्तन को देख उनकी शिष्यागण विस्मित हुई, अपूर्व कर्मयोगी एवं उत्साह से उद्दीप्त विवेकानन्द ने गम्भीर भाव से उन्हें लक्ष्य करके कहा, "मेरे कर्म की इच्छा, स्वदेश-प्रीति सभी कुछ लुप्त हो गई है, हरिः ॐ। मैंने भूल की थी, मैं यंत्र हूँ, वे यंत्री हैं। माँ, माँ, वे ही सब कुछ हैं — वे ही कर्ता हैं — मैं कौन हूँ?— उनकी अज्ञानी सन्तान मात्र हूँ।" फिर कुछ दिन निर्जन में गम्भीर साधना में निमग्न रहकर मुण्डितमस्तक विवेकानन्द साधारण वेष में अपनी शिष्याओं के बीच में लौटे। क्षीरभवानी यात्रा से पूर्व उन्होंने 'Kali the Mother' (माँ काली) शीर्षक जिस कविता की रचना की थी उसे गुनगुनाने लगे।

"काली माता"

छिप गये तारे गगन के,
बादलों पर चढ़े बादल,
काँपकर गहरा अँधेरा,
गरजते तूफ़ान में, शत
लक्ष पागल प्राण, छूटे
जल्द कारागार से — द्रुम
जड़ समेत उखाड़कर, हर
बला पथ की साफ करके।
शोर से आ मिला सागर,
शिखर लहरों के पलटते
उठ रहे हैं कृष्ण नभ का
स्पर्श करने के लिए द्रुत,
किरण जैसे अमङ्गल की
हर तरफ से खोलती है
मृत्यु-छायाएँ सहस्रों,
देहवाली घनी काली।
आधि-व्याधि बिखेरती, ऐ,
नाचती पागल हुलसकर
आ जननि, आ जननि, आ, आ!
नाम है आतङ्क तेरा,
मृत्यु तेरे श्वास में है,
चरण उठकर सर्वदा को
विश्व एक मिटा रहा है,
समय तू है, सर्वनाशिनि,

आ, जननि, आ जननि, आ, आ !
साहसी, जो चाहता है
दुःख, मिल जाना मरण से,
नाश की गति नाचता है,
माँ उसी के पास आई।

जननी की इस ध्वंस-मूर्ति की उपासना विवेकानन्द ने अपने सद्गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस देव से सीखी थी। जीवनभर की कठिन साधना द्वारा उन्होंने धीरे धीरे अनुभव किया था — दुःख, दीनता, व्याधि, महामारी, पराजय व व्यर्थता के विरुद्ध वीर की तरह संग्राम करना, और यदि आवश्यक हो तो, निर्भीक दृढ़ता के साथ वीर की तरह मृत्यु को भी आलिंगन करना, यही उनकी दृष्टि में वर्तमान युग की अवश्य-कर्तव्य शक्ति-साधना है। "रुद्र मुख से सभी डरते हैं, मृत्युरूपी महाकाली को कोई नहीं चाहता।" इसी-लिए तो आज तीस करोड़ व्यक्तियों का मनुष्यत्व वीर्यहीन व निष्क्रिय है इसीलिए गुरु के बल से बलवान साधक ने नवयुग के प्रारम्भ में भारतवासियों को भीषण की पूजा के लिए,— मृत्यु की उपासना के लिए गम्भीर स्वर से पुकारा था। आओ, नवयुग के शक्तिसाधक! आशा, आनन्द, उल्लास तथा अतीत गौरव के कंकालों से पूर्ण इस भारत महाश्मशान में — नैराश्य, उद्वेग व आशंका रूपी घोर अमावस्या की रात्रि के इस शुभ मुहूर्त में — निर्भयता के मंत्र की दीक्षा लेकर शक्ति-साधना में अग्रसर हो। भूखों का कातर क्रन्दन, रोगपीड़ितों का असहाय हाहाकार, पददलितों की अक्षम कात-रता देखकर सिहर न उठना — यह भीषणा तुम्हारी उपास्या इष्ट देवी है। जाओ, जहाँ दुर्भिक्ष, व्याधि, महामारी है,— मृत्यु की परवाह न करते हुए वहीं पर जाओ — दौड़ कर जाओ। ताण्डव नृत्य करने वाली मृत्युरूपी माता के चरणों में हृदय का उष्ण शोणित अर्पण करो। प्रेतों की विकट हँसी, गीदड़ों का चीत्कार सुनकर रमणी के अंचल के नीचे भीरु की तरह छिपे

रहना तुम्हें नहीं भाता। सिरहाने से महा सर्वनाश निष्पलक तीव्र दृष्टि से तुम्हारी ओर ताक रहा है — प्रेम का स्वप्न देखने का अवसर तुम्हारा है कहाँ? आओ, दूर करो नारी-माया को — भोग-विलास की कामना को हृदय से निर्मम होकर फेंक दो। बन्द दरवाजा खोलकर चले आओ, इस अन्धकार में निकल पड़ो। भय? भय क्या है? निराशा किसकी? सिंहिनी जिस समय हाथी का सिर फोड़कर उसका खून पीती है — जब भीषण गर्जना से समग्र वनभूमि को प्रकम्पित कर डालती है — उस समय उसके पास खड़ा सिंह-शावक क्या भयभीत होता है? सामने वह रक्ताक्त रसना, कराल-दंष्ट्रा सिंहिनी कितनी भी भीषण क्यों न हो, वह तो उसकी जननी ही है। आओ युग-युगान्तर की निराशा व जड़ता के बन्धन को जीर्ण वस्त्र की तरह दूर फेंककर — करोड़ों कण्ठों से इस भीषणा को 'माँ, माँ' कहकर पुकारो,—दक्षिणेश्वर की उस पंचवटी के नीचे पागल पुजारी ने जिस भाव से, जिस नग्न सरलता को लेकर पुकारा था — वैसा ही पुकारो तो एक बार। मृत्युरूपा माता प्रसन्न होगी — साधना में सिद्धि प्राप्त होगी,— साथ ही साथ देश व दासों की दुर्दशा भी मिट जायगी।

काश्मीर भ्रमण समाप्त हुआ। प्रकृति के रमणीय लीलास्थान को पीछे छोड़ स्वामीजी शिष्याओं के साथ १३ अक्टूबर को लाहौर में आ गए। शिष्याओं ने भारत की कुछ विख्यात नगरों का दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी अलमोड़ा से आए हुए शिष्य सदानन्दजी को साथ लेकर १८ अक्टूबर को बेलुड़ लौट आए। अप्रत्याशित रूप से अपने बीच में स्वामीजी को पाकर मठ के संन्यासी व ब्रह्मचारीगण आनन्दविभोर हो उठे, परन्तु थोड़े ही समय में स्वामीजी की शारीरिक व मानसिक स्थिति, उनकी चिन्ता का कारण बन गई। उनका पीला मुखमण्डल, बाईं आँख में जमा हुआ रक्त आदि लक्षण देख मठ के संन्यासी व भक्तगण तुरन्त चिकित्सा की व्यवस्था करने लगे। प्रसिद्ध डाक्टर आर. एल. दत्त तथा दो-एक कविराजों ने उनकी

शारीरिक स्थिति का भलीभाँति पर्यवेक्षण कर विशेष रूप से सतर्क रहने का उपदेश दिया। मठ के संन्यासीगण जिनके लिए व्यस्त व शंकित हो उठे थे—वे निर्विकार व उदासीन थे। मानो बाहर के किसी भी विषय में उनका कोई लगाव नहीं है। कार्यविशेष के सम्बन्ध में कुछ पूछने पर गम्भीर उदासीनता के साथ उत्तर देते थे,—"मैं क्या जानूँ, माँ की जो इच्छा होगी वही होगा।" कई व्यक्ति कुछ चित्ताकर्षक कहानियाँ सुनाकर उनके मन को उच्च भाव-राज्य से उतार लाने की चेष्टा करते थे। परन्तु आत्ममग्न विवेकानन्द असंलग्न उत्तर देते हुए उन लोगों को छोड़कर कहीं एकान्त स्थान में चले जाते थे। इसी बीच में एक दिन शिष्य श्री० शरदबाबू गुरुदेव के दर्शन के लिए आए। वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने उनसे कहा कि अमरनाथ और क्षीरभवानी में कठोर तपश्चर्या से उनका शरीर थोड़ा-बहुत अस्वस्थ अवश्य हो गया है, परन्तु वह कोई विशेष ध्यान देने योग्य बात नहीं है। फिर शिष्य के विशेष आग्रह व अनुरोध से अमरनाथ व क्षीरभवानी के अलौकिक दर्शन व अनुभव के सम्बन्ध में दो-चार बातें कहकर स्वामीजी बोले, "अमरनाथ से लौटते समय शिवजी मेरे माथे पर जो सवार हुए हैं, वे किसी भी तरह नहीं उतर रहे हैं।"

चिकित्सा के लिए स्वामीजी को मठ से लाकर कलकत्ता, बाग-बाजार के बलराम बाबू के मकान में रखा गया। धीरे धीरे स्वामीजी का मन उच्चतम भावराज्य से लौटने लगा। पहले के समान उत्साह व आग्रह के साथ न सही परन्तु फिर भी वे दर्शनार्थी भक्तगणों के साथ वार्तालाप करने तथा उन्हें धर्मोपदेश देने लगे। बीच बीच में कलकत्ता से बेलुड़ जाकर मठ की कार्यप्रणाली की देखभाल भी करने लगे। इसी बीच में स्वामी तुरीयानन्दजी बड़े उत्साह से अलमोड़ा से मठ लौटे। मठ में निरन्तर शास्त्र चर्चा, ध्यान, तपस्या होने लगी। स्वामीजी भी एक एक दिन उपस्थित रहकर धर्म, दर्शन, इतिहास, विज्ञान इत्यादि विभिन्न विषयों की चर्चा में नवीन ब्रह्मचारियों को उत्साहित करने लगे।

कुछ समय में भगिनी निवेदिता कलकत्ता लौट आईं। श्री गुरुदेव के चरणों में सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर उन्होंने स्त्री-शिक्षा के विस्तार के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी। हिन्दू स्त्रियों के दैनिक जीवन से प्रत्यक्ष रूप से परिचित होने के लिए वह बागबाज़ार के श्री माताजी के निवास-स्थान पर रहने लगीं। श्रीरामकृष्ण देव की अन्य स्त्री भक्तों ने बड़े आदर के साथ बिना किसी दुविधा के, बड़े स्नेह से निवेदिता को अपने बीच में स्थान दिया। थोड़े ही समय में बागबाज़ार में एक बालिका-विद्यालय स्थापित करने की व्यवस्था निश्चित हो गई।

१२ नवम्बर को श्री माताजी ने कुछ स्त्री भक्तों के साथ बेलुड़ मठ में शुभ पदार्पण किया। उस दिन श्री कालीपूजा थी। पूर्ण विधि के अनुसार पूजा व भोग का आयोजन करने में संन्यासियों ने कोई बात उठा न रखी थी। श्रीमाताजी ने स्वयं पूजा समाप्त कर संन्यासियों को आशीर्वाद दिया। उनके आशीर्वाद से मठ का शुभ उद्देश्य पूर्ण होगा यह मानकर सभी लोग आनन्दित व कृतार्थ हुए। तीसरे प्रहर में श्री माताजी स्वामी विवेकानन्द, ब्रह्मानन्द व शारदानन्दजी के साथ बागबाज़ार में भगिनी निवेदिता द्वारा स्थापित बालिका-विद्यालय में लौट आईं। स्वामीजी की प्रार्थना पर श्री माताजी ने विद्यालय-स्थापना की विशेष पूजा को समाप्त कर जगज्जननी के चरणों में प्रार्थना की कि उनके आशीर्वाद से विद्यालय में आदर्श बालिकाएँ शिक्षित होकर समाज के लिए कल्याणदायिनी बनें। परमाराध्या श्री माताजी का आशीर्वाद प्राप्त कर भगिनी निवेदिता ने आनन्द से अपने को सिद्ध-संकल्प माना।

९ दिसम्बर श्रीरामकृष्ण संघ के इतिहास में एक स्मरणीय दिन है। नीलाम्बर बाबू के बगीचे वाले मकान में ब्राह्म मुहूर्त में स्वामीजी ने गुरुभाई व शिष्यों के साथ गंगाजी में स्नान कर नवीन गैरिक वस्त्र पहिना। आज के विशेष अनुष्ठान के पौरोहित्य का भार स्वयं स्वामीजी ने ग्रहण किया है। ध्यान, उपासना व पूजा यथाविधि समाप्त कर श्रीरामकृष्ण के देहावशेष वाले पवित्र ताम्र पात्र को दक्षिण स्कन्ध पर रख वे बेलुड़ मठ की ओर चले, उनके पीछे

शंख, घण्टा आदि की ध्वनि से दिशाओं को गुँजाते हुए गुरुभाई व शिष्यगण थे। उस शुभ प्रभात में भागीरथी के तट पर कुछ विश्वासी भक्तों के कण्ठ से उच्चारित श्रीरामकृष्ण की जयध्वनि ने अपूर्व आनन्दोल्लास उत्पन्न कर दिया था। पथ पर चलते हुए स्वामीजी ने पासवाले शिष्य से कहा, "श्रीरामकृष्ण देव ने एक बार मुझसे कहा था, 'तू कन्धे पर चढ़ाकर मुझे जहाँ भी खुशी से ले जायगा मैं वहीं पर रहूँगा — चाहे वह झोपड़ी हो या वृक्षों का झुण्ड।' परम दयालु श्रीरामकृष्ण देव के उसी आशीर्वाद पर भरोसा करके ही मैं उन्हें हमारे भावी मठ में ले जा रहा हूँ। वत्स, निश्चित जानो, जितने दिन उनके नाम पर उनके अनुगामी भक्तगण पवित्रता, आध्यात्मिकता व समस्त मानव से एक-सी प्रीति के आदर्श की रक्षा कर सकेंगे, उतने दिन श्रीरामकृष्ण देव इस मठ को अपनी दिव्य उपस्थिति द्वारा धन्य बनाए रहेंगे।"

मठ-प्रांगण में यत्न द्वारा रचित वेदी पर पवित्र पात्र को स्थापित कर संन्यासी और ब्रह्मचारियों के साथ स्वामीजी भक्ति से भूमि पर लोट-पोट होकर सर्वधर्मों के समन्वयाचार्य उन महान् गुरुदेव को बारम्बार प्रणाम करने लगे। उसके बाद स्वामीजी ने यथाविधि पूजा समाप्त कर यज्ञाग्नि प्रज्वलित की। युगप्रवर्तक आचार्य के कण्ठ से वेद-मंत्र युगयुगों से भूले हुए पुराने स्वर में झंकृत हो उठे। केवल संन्यासियों की उपस्थिति में विरजा होम समाप्त कर अपने हाथ से पायसान्न पकाकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव को भोग लगाया। श्रीरामकृष्ण मठ की स्थापना के अनुष्ठान को समाप्त कर आचार्य देव ने श्रीराम-कृष्ण-सन्तानों को बुलाकर कहा, "बन्धुओ, आओ, हम काया-मनो-वाक्य से लोककल्याण के लिए अवतीर्ण अपने प्रभु से प्रार्थना करें कि वे अनेक वर्षों तक इस पवित्र स्थान में निवास करें। उनके आशीर्वाद व सूक्ष्म आविर्भाव से यह स्थान पुण्य क्षेत्र में परिणत हो। इस कर्म-केन्द्र से 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' सर्व सम्प्रदायों, सर्व धर्मों के भेद-द्वन्द्वों को निरस्त करनेवाली भाव-धारा आचरित व प्रचारित हो।"

मठ की भविष्य कार्यप्रणाली की चर्चा के सिलसिले में उन्होंने एक दिन अपने शिष्य शरद बाबू से कहा, "यहाँ पर साधुओं के ठहरने का स्थान होगा। साधन-भजन, ज्ञानचर्चा का यह मठ प्रधान केन्द्र-स्थान हो यही मेरा अभिप्राय है। यहाँ से जिस शक्ति का अभ्युदय होगा उससे समस्त जगत् में आलोक छा जायगा। वह शक्ति मनुष्य के जीवन की गति को घुमा देगी। ज्ञान, भक्ति, योग तथा कर्म के समन्वय से इस पुण्य भूमि से मानव जाति के लिए कल्याणप्रद उच्च आदर्शों का विकास होगा। इस मठ में रहनेवाले पुरुषों के इशारे पर एक समय दिग्दिगन्तरों में प्राण का संचार होगा। सच्चे धर्म-प्रेमीगण सभी यहाँ पर आकर जुटेंगे — मन में इसी प्रकार की कितनी ही कल्पनाएँ उठ रही हैं।"

श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों तथा आदर्शों का जन-साधारण में प्रचार करने के लिए एक बंगला पत्रिका प्रकाशित करने की आवश्यकता स्वामीजी काफी दिनों से अनुभव कर रहे थे। तदनुसार पाक्षिक पत्र प्रकाशित करने के प्रस्ताव का सभी ने अनुमोदन किया और स्वामीजी की राय से स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी ने उक्त पत्र के संचालक का भार ग्रहण किया। १४ जनवरी १८९९ ई० को उक्त पत्रिका का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ। इस कार्य के सिलसिले में अथक परिश्रमी स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जो असाधारण परिश्रम करने लगे वह वर्णनातीत है। उनका असीम त्याग तथा उद्यम आदि देख स्वामीजी आनन्द के साथ उन्हें आशीर्वाद देते हुए उत्साह प्रदान करने लगे। स्वामीजी ने उक्त पत्र का नाम 'उद्बोधन' मनोनीत किया और स्वयं उसकी प्रस्तावना लिखी। स्वामीजी ने संघ रूप में परिणत रामकृष्ण मिशन के सदस्यों से इस पत्र में लेख आदि लिखने के लिए तथा श्रीरामकृष्ण देव के धर्ममत का जन-साधारण में प्रचार करने के लिए अनुरोध किया था।

मठ में लगातार शास्त्र-चर्चा तथा दर्शनार्थी भक्तों को उपदेश आदि देने के कारण स्वामीजी को जो कठोर मानसिक परिश्रम करना पड़ता था उससे

उनका शरीर दिन पर दिन अत्यधिक रूप से अस्वस्थ होने लगा। अगले ग्रीष्म काल में उन्हें पाश्चात्य देशों में जाना था। इसलिए कुछ दिन विश्राम करने की विशेष आवश्यकता का उन्होंने अनुभव किया। कलकत्ता तथा बेलुड़ मठ में रहकर विश्राम करने की आशा को नितान्त असम्भव जानकर स्वामीजी १९ दिसम्बर को बाबू प्रियनाथ मुखोपाध्याय के अतिथि होकर वैद्यनाथ चले गए। वैद्यनाथ के प्रसिद्ध स्वास्थ्यप्रद स्थान होने पर भी वहाँ स्वामीजी को पहले-पहल दमे के रोग से विशेष कष्ट हुआ। एक दिन दमे का वेग इतना बढ़ गया कि सभी को भय होने लगा कि कहीं उनका देह-त्याग न हो जाय। परन्तु ईश्वर की कृपा से थोड़े ही समय में स्वामीजी स्वस्थ हो गए। देवघर में उत्सुक व जिज्ञासु जनता की भीड़ न थी। प्रातः व सायं बहुत देर तक भ्रमण करने की सुविधा उन्हें प्राप्त थी। शारीरिक व्यायाम के अतिरिक्त चिट्ठी पत्र लिखना तथा ग्रन्थ आदि के अध्ययन में वे शेष समय बिताया करते थे। स्वामीजी की अनुपस्थिति में २ जनवरी १८९९ को नीलाम्बर बाबू के बगीचे वाले मकान से बेलुड़ के नए भवन में मठ स्थानान्तरित हुआ। स्वामीजी को प्रति दिन इस बात की सूचना देनी पड़ती थी कि मठ की कार्यप्रणाली तथा नवीन संन्यासियों व ब्रह्मचारियों की शिक्षा आदि किस प्रकार हो रही है। वैद्यनाथ की निःसंग निर्जनता उन्हें विश्राम न दे सकी। प्रारम्भ किये हुए कर्म का भार उन्हें आकर्षित करने लगा। चूल्हे पर खौलते हुए जल को शान्त रहने का निर्देश देने के समान ही अधिक मानसिक श्रम अथवा गम्भीर चिन्ता न करने का चिकित्सकों का उपदेश भी व्यर्थ ही हुआ।

३ फरवरी को स्वामीजी वैद्यनाथ से फिर मठ लौट आए। यह देखकर कि मठ का कार्य भलीभाँति चल रहा है वे बड़े आनन्दित हुए। प्रश्नोत्तर सभा, प्राच्य व पाश्चात्य दर्शनशास्त्रों की तुलनात्मक चर्चा, संस्कृत भाषा की शिक्षा आदि कार्य स्वामी तुरीयानन्दजी के नेतृत्व में सुचारु रूप से सम्पन्न हो रहे थे। दूसरी ओर ध्यान-तपस्या आदि भी चल रहे थे। स्वामीजी ने मठ

में आकर उसी दिन अपने गुरुभाइयों की एक छोटी सी सभा बुलाई। महा-समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण की वाणी का प्रचार समग्र भारत में करने के लिए उन्होंने अपने गुरुभाई व शिष्यों को उपदेश दिया। स्वामी विरजानन्दजी व स्वामी प्रकाशानन्दजी को पूर्व बंगाल में ढाका प्रान्त में जाकर प्रचार करने का निर्देश दिया गया। विरजानन्दजी ने विनीत भाव से अड़चन प्रकट कर कहा, "स्वामीजी, मैं कुछ भी नहीं जानता, लोगों से क्या कहूँगा?" स्वामीजी ने उसी समय गम्भीर भाव से उत्तर दिया, "जाओ, जाकर यही कहो कि मैं कुछ नहीं जानता। यही एक महान् सन्देश है।" विरजानन्दजी ने प्रचारकार्य की जिम्मेदारी से छुट्टी पाने के लिए ही हो अथवा अन्तर के तीव्र वैराग्य की वाणी के अनुसरण के फलस्वरूप ही हो, श्री गुरुदेव के चरणों में प्रार्थना की कि पहले साधना के बल पर आत्मसाक्षात्कार किये बिना वे किस प्रकार लोक-शिक्षा में अग्रसर होंगे। अतः उन्हें कुछ दिन और साधना करने का निर्देश दिया जाय।

मानवमित्र विवेकानन्द शिष्य की मुक्ति-प्राप्ति की इस आकांक्षा को धिक्कारते हुए गरज उठे, "स्वार्थी की तरह अपनी मुक्ति के लिए चेष्टा करने से तुम नरक में जाओगे। यदि तुम उस पूर्ण ब्रह्म की उपलब्धि करना चाहो तो दूसरों की मुक्ति के लिए सहायता करो। अपनी मुक्ति-प्राप्ति की आकांक्षा को जड़मूल से नष्ट करना ही सर्वश्रेष्ठ साधना है।" स्वामी विवेकानन्द के शिष्य व अन्तरंग भक्तगण अपने इहलौकिक कल्याण की चिन्ता को कौन कहे, पारलौकिक कल्याणप्राप्ति की आशा से जगत् के हितचिन्तन से विरत रहेंगे — यह चिन्ता तक उनके लिए बहुत ही मर्मान्तिक कष्टकर थी। मुक्ति-लाभ की चेष्टा से संसार व जन-समुदाय को छोड़ गम्भीर अरण्य में अथवा पर्वत की गुफाओं में निवास करनेवाले संन्यासियों का अभाव तो भारत में कभी नहीं हुआ। पर-कल्याण की कामना से अपने साधन-भजन व मुक्ति की चेष्टा को छोड़ कर्म के पथ पर खड़े होने वाले निर्भीक कर्मयोगी संन्यासियों को तैयार

करने के लिए ही तो उनके इस आदर्श मठ की स्थापना है। आचार्य देव ने मौन शिष्य को सम्बोधित कर स्नेहार्द्र कण्ठ से कहा, "वत्स, फलाकांक्षा को छोड़ जगत् के कल्याण के लिए कर्म में अग्रसर हो जाओ। यदि पर-कल्याण की कामना से कर्म में अग्रसर होकर नरक में भी जाना पड़े तो भी क्या हानि है?" इसके बाद दोनों शिष्यों के साथ वे मठ के ठाकुर घर में जाकर ध्यान-मग्न हुए। काफी देर तक गम्भीर ध्यानमग्न रहने के बाद आँखें खोलकर उन्होंने कहा, "मैं अपनी शक्ति को तुम लोगों में संचारित करूँगा। श्रीभग-वान सदा तुम्हारे साथ रहेंगे—कोई चिन्ता न करो।"

उस दिन स्वामीजी ने दोनों शिष्यों को प्रचार-कार्य के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के उपदेश दिए और यदि कोई दीक्षा माँगे तो किस मंत्र से, किस प्रकार दीक्षा दी जाती है यह भी सिखा दिया। नवीन शक्ति से शक्ति-मान होकर दोनों शिष्य दूसरे दिन श्रीगुरुदेव की पवित्र पदधूलि को मस्तक पर धारण कर प्रचार के उद्देश्य से ढाका की ओर चले। स्वामीजी ने ७ फरवरी को स्वामी तुरीयानन्द व सदानन्दजी को भी प्रचार-कार्य के लिए गुजरात भेजा।

यह जानकर कि स्वामीजी बेलुड़ मठ में निवास कर रहे हैं, प्रतिदिन कालेज के अनेक छात्र व शिक्षित युवक उनके दर्शन के लिए आने लगे। स्वामीजी अपनी शारीरिक अस्वस्थता की परवाह न करते हुए उत्साहपूर्वक उनके साथ धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, विज्ञान इत्यादि की चर्चा में प्रवृत्त होते थे। स्वामीजी उन सब युवकों को ओजस्वी भाषा में सेवाधर्म की महिमा का संदेश इसी उद्देश्य से देते थे कि वे सब इस बात का हृदय से अनुभव करें कि देश-सेवा में आत्मनियोग करना ही वर्तमान राष्ट्रीय जीवन का सर्व-श्रेष्ठ व्रत है तथा उस आदर्श में तदनुसार वे अपने जीवन को ढालें। देश की दुर्दशा की चर्चा करते हुए समय समय पर भाव की अधिकता से वे आँसू बहाते थे और कभी कभी गम्भीर चिन्ता में निमग्न रहते थे। अधिकांश युवकों की शारीरिक दुर्बलता, नैतिक चरित्रहीनता तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से

मस्तिष्क-विकृति को देख समय समय पर क्षुब्ध होकर वे तीव्र मन्तव्य प्रकट करते थे। वे प्रायः कहा करते थे, "दो हजार वीरहृदय, विश्वासी, चरित्रवान व बुद्धिमान युवक तथा तीस करोड़ रुपये होने पर मैं भारत को अपने पैरों पर खड़ा कर दे सकता हूँ।" फिर कभी कभी उनके अभाव में यह सोचकर कि उनके जीवन का उद्देश्य व्यर्थ हो रहा है, वे निराशा से व्याकुल हो उठते थे। परन्तु उन्होंने पूर्ण मन से यह निश्चय कर लिया था कि पर्वत जैसी विघ्न-बाधाओं तथा नैराश्य के घनान्धकार के बीच में भी रास्ता तैयार कर लेना होगा — उनके निःस्वार्थ आह्वान से उद्बुद्ध होकर जिन थोड़े से व्यक्तियों ने जगत् के हित के लिए आत्मसमर्पण किया है उन स्त्री-पुरुषों को ही 'अग्रगामी सैन्यदल' के रूप में संगठित कर लेना होगा।

तीसरे प्रहर में जिस समय वीर संन्यासी भागीरथी तट पर स्थित मठ के प्रांगण में धीरे धीरे टहलते थे उस समय उनकी गम्भीर चिन्ता के दो-एक उद्गार विक्षुब्ध हृदय के अन्तस्तल से उनके अनजान में ही निकल पड़ते थे। एक दिन टहलते हुए वे सामने कुछ संन्यासी व ब्रह्मचारियों को देख सहसा बोल उठे, "सुनो वत्सगण, श्रीरामकृष्ण आये थे और जगत् के कल्याण की कामना से देह विसर्जन कर गए हैं। मुझे, तुम्हें — प्रत्येक को ही — जगत् के कल्याण के लिए देह विसर्जन करना होगा। विश्वास करो — हमारे हृदय से जो रक्त निकलेगा, उसके प्रत्येक बूँद से भविष्य में बड़े बड़े कर्मवीर उत्पन्न होकर जगत् को आलोड़ित कर देंगे।" कल्पनाप्रिय, भावुक, संन्यासी इस संकल्प पर विश्वास रखते थे और इसीलिए भाषण व वार्तालाप में प्रायः कहा करते थे, "I want to preach a man-making Religion — मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ जिससे 'मनुष्य' तैयार हों।" इसीलिए स्वामीजी ने भाषण देना छोड़ अथक चेष्टा से मठ के अल्पसंख्यक संन्यासी व ब्रह्मचारियों को ही संगठित करने में प्राणों की बाजी लगा दी थी। एक दिन एक शिष्य ने उनसे पूछा, "स्वामीजी, आप अपने असाधारण भाषण-बल से

यूरोप, अमेरिका को मथित कर अपनी जन्मभूमि में चुपचाप बैठे हैं इसका क्या कारण है ? " उत्तर में आचार्य देव ने कहा, " इस देश में पहले जमीन (ground) तैयार करनी होगी। पाश्चात्य का वातावरण बहुत अनुकूल है। अन्नाभाव से दुर्बल देह, दुर्बल मन तथा रोग, शोक व दुःख-दैन्य की जन्म-भूमि भारत में भाषण देकर क्या होगा ? पहले कुछ ऐसे त्यागी पुरुषों की आवश्यकता है जो अपने परिवार की चिन्ता न करते हुए दूसरों के लिए जीवन का उत्सर्ग करने को तैयार होंगे। मैं मठ स्थापित कर कुछ बाल संन्यासियों को इसी प्रकार तैयार कर रहा हूँ। शिक्षा समाप्त होने पर वे लोग घर घर जाकर लोगों को देश की वर्तमान शोचनीय दशा समझा देंगे। उस दशा की उन्नति किस प्रकार हो सकती है, इस विषय में उपदेश देंगे और साथ ही धर्म के महान् सत्यों को सरल भाषा में उन्हें साफ साफ समझा देंगे। देखते नहीं हो, पूर्वाकाश में अरुणोदय हो गया है, सूर्योदय में अब विलम्ब नहीं है। तुम लोग इस समय कमर कसकर जुट जाओ — संसार-फंसार करके क्या होगा ? तुम्हारा इस समय काम है देश के गाँव-गाँव में जाकर लोगों को समझा देना कि अब और अधिक सुस्ती से बैठे रहने से काम न चलेगा। शिक्षाविहीन धर्मविहीन वर्तमान अवनति की बात उन्हें समझाकर कहो, ' भाइयो ! उठो, जागो, और कितने दिन सोते रहोगे ? और शास्त्र के महान् सत्यों को सरल भाषा में उन्हें समझा दो। इतने दिन इस देश के ब्राह्मणों ने धर्म पर अपना एकाधिकार बना रखा था। काल के प्रवाह से जब वह नहीं टिका तो ऐसी व्यवस्था करो कि जिससे देश के सभी लोग धर्म को प्राप्त कर सकें। सभी को समझा दो, ब्राह्मणों की तरह तुम्हारा भी धर्म में समान अधिकार है। ऊँच-नीच सभी को इस अग्निमन्त्र में दीक्षित करो और सरल भाषा में उन्हें कृषि, व्यापार आदि गृहस्थ जीवन के अत्यावश्यक विषयों का उपदेश दो। नहीं तो तुम्हारे लिखने पढ़ने को धिक्कार है और तुम्हारे वेदवेदान्तों के अध्ययन को भी धिक्कार है ! लग जाओ — कितने दिनों के लिए जीवन है ?

जगत् में जब आए हो, तो एक चिह्न छोड़ जाओ। नहीं तो वृक्ष, पत्थर भी तो पैदा हो रहे हैं और मर रहे हैं— इस प्रकार के जन्म और मरण की क्या कभी मनुष्य की इच्छा होती है ? मुझे काम करके दिखाओ कि तुम्हारे वेदान्त का अध्ययन सार्थक हुआ है। जाकर सभी को यह बात सुना दो,— 'तुम में अनन्त शक्ति है, उस शक्ति को जगा लो।' अपनी मुक्ति से क्या होगा ?— मुक्ति की कामना भी तो महा स्वार्थपरता है। छोड़ दो ध्यान, छोड़ दो मुक्ति-फुक्ति —मैं जिस काम में लगा हूँ उसी काम में लग जाओ। इस प्रकार तुम लोग पहले जमीन तैयार करो, बाद में मेरे जैसे हज़ार हज़ार विवेकानन्द भाषण देने के लिए नरलोक में जन्म ग्रहण करेंगे, इसके लिए चिन्ता नहीं। यह देखो न, जो लोग पहले समझते थे हम में कोई शक्ति नहीं है — वे ही इस समय सेवाश्रम, अनाथाश्रम, दुर्भिक्ष कोष आदि कितने ही खोल रहे हैं ! देखते नहीं हो — निवेदिता ने अंग्रेज की लड़की होकर भी तुम लोगों की सेवा करना सीखा है और तुम अपने देश के लोगों के लिए ऐसा नहीं कर सकोगे ? जहाँ महामारी हुई हो, जहाँ पर मानव-जीवन दुःखित हो, जहाँ पर दुर्भिक्ष हो — चले जाओ उसी ओर। अधिक से अधिक मृत्यु ही तो होगी ? हमारे-तुम्हारे जैसे सैकड़ों कीड़े पैदा होते तथा मरते हैं, इससे दुनिया का क्या बनता-बिगड़ता है ? एक महान् उद्देश्य लेकर मर जाओ। मृत्यु तो होगी ही; पर अच्छे उद्देश्य के लिए मरना अच्छा है। इस भाव का घर-घर में प्रचार करो। अपना व देश का मंगल होगा। तुम्हीं देश की आशा व भरोसा हो। तुम्हें कर्महीन देखने पर मुझे बड़ा कष्ट होता है। लग जाओ, लग जाओ, देर न करो — मौत तो दिन पर दिन निकट आ रही है। बाद में करने के विचार से अब और अधिक न बैठे रहो — फिर तो कुछ न हो सकेगा।" *

कलकत्ते की बात तो अलग रही, बंगाल प्रान्त के विभिन्न स्थानों से

---

* 'विवेकानन्दजी के संग में' पुस्तक से उद्धृत।

भी अनेक लोग स्वामीजी के श्रीचरणों के दर्शन की इच्छा से बेलुड़ मठ में उपस्थित होते थे। वे किसी की धर्म सम्बन्धी समस्या की मीमांसा कर देते थे, किसी भाग्यवान को शिष्य बनाकर कृतार्थ कर देते थे। मानव में सर्वशक्तिमान आत्मा की सुप्त महिमा को जगाने के लिए ये महापुरुष मानो सदा ही तैयार रहते थे। पात्रापात्र का विचार नहीं, धनी-दीन का भेद नहीं; पण्डित मूर्ख सभी उनके पास एक सा आदर व सम्मान पाते थे। स्वामीजी कभी प्रश्नकर्ता की कठिन दार्शनिक समस्या की मीमांसा कर रहे हैं, तो कभी भारत की आर्थिक व लौकिक उन्नति किस प्रकार सम्भव हो सकेगी, इसी की विवेचना कर रहे हैं। फिर भी ब्रह्मचारियों को संयम की साधना में उत्साहित कर रहे हैं, नियम की ज़रा सी त्रुटि के लिए भी क्षमा न करते हुए तीव्र भर्त्सना कर रहे हैं और दूसरे क्षण में ही सम्भव है कि सभी के साथ आनन्द से मठ की घास-फूस साफ करने चले हैं! धर्मोपदेश से लेकर झाड़ू हाथ में लिए हुए कूड़ा-करकट साफ करने तक सभी कर्म उनकी दृष्टि में एक से हैं, सभी प्रभु के काम हैं!

एक दिन विवेकानन्द देवगुरु बृहस्पति की तरह शिष्य-मण्डली द्वारा घिरकर शास्त्र की व्याख्या कर रहे थे, इसी समय विशुद्धकर्मा साधु नागमहाशय उनके दर्शन के लिए मठ में पधारे। श्रीरामकृष्ण की दो श्रेष्ठ सृष्टियों का बहुत दिनों के बाद आनन्द सम्मिलन! एक संन्यास का चरम आदर्श है—और दूसरा है मूर्तिमान गार्हस्थ्य धर्म!! स्वामीजी ने प्रणाम करके पूछा, "आप अच्छे तो हैं न?" नाग महाशय बोले, "आपका दर्शन करने आया। जय शंकर, जय शंकर! साक्षात् शिव-दर्शन हुआ।"

स्वामीजी कुशल-प्रश्न पूछ रहे हैं, परन्तु उत्तर देगा कौन? हाथ जोड़-कर खड़े हुए भावमुग्ध महापुरुष तो अतृप्त नेत्रों से साक्षात् शंकर का दर्शन कर रहे हैं। देह का ज्ञान हो तब तो कहें कि 'अच्छा हूँ।" 'निःसार हड्डी माँस की बात' का क्या उन्हें और स्मरण है? मन तो उस समय नेत्रमय

होकर श्रीरामकृष्ण-लीलारूपी ह्रद के सम्पूर्ण खिले हुए सहस्रदल पद्म की अपूर्व माधुरी का पान कर रहा है! उत्तर दें कौन?

आचार्य देव ने स्वामी प्रेमानन्दजी से प्रसाद लाकर नाग महाशयजी को देने के लिए कहा। नाग महाशय बोल उठे, "प्रसाद! प्रसाद! (स्वामीजी के प्रति हाथ जोड़कर) आपके दर्शन से मेरी भवक्षुधा दूर हो गई। * * *"

स्वामीजी — (सभी को लक्ष्य करके) देख रहे हो! नाग महाशय को देखो, आप गृहस्थ हैं, परन्तु जगत् है या नहीं, यह भी नहीं जानते, सदा तन्मय रहते हैं। (नाग महाशय को लक्ष्य कर) इन सब ब्रह्मचारियों तथा हम लोगों को श्रीरामकृष्ण देव की कुछ बात सुनाइए।

नाग महाशय — यह आप क्या कहते हैं! भला मैं क्या कहूँगा? मैं आपको देखने आया हूँ, श्रीरामकृष्ण देव की लीला के सहायक महावीरजी का दर्शन करने आया हूँ। श्रीरामकृष्ण देव की बात अब लोग समझेंगे! जय रामकृष्ण! जय रामकृष्ण!!

स्वामीजी — आप ही ने वास्तव मे श्रीरामकृष्ण देव को पहचाना है। हम तो केवल भटकते रह गये।

नाग महाशय — छी:। यह कैसी बात आप कहते हैं? आप श्रीरामकृष्ण देव की छाया हैं — सीधा बाजू और उल्टा बाजू। जिसके आँख हो देख ले।

स्वामीजी — यह सब जो मठ आदि हो रहा है, यह क्या ठीक है?

नाग महाशय — मैं क्षुद्र जीव हूँ, क्या समझता हूँ? आप जो कुछ करते हैं, निश्चित जानता हूँ, उससे जगत् का कल्याण होगा — मंगल होगा।

स्वामीजी — मैं एक बार आपके देश में आऊँगा।

नाग महाशय आनन्द से पागल होकर बोले, "क्या ऐसा दिन आएगा? देश काशी बन जायगा। क्या ऐसा मेरा भाग्य होगा?"

स्वामीजी — मेरी तो इच्छा है, पर माँ ले जाय जब।

नाग महाशय — आपको कौन समझेगा ? दिव्य दृष्टि खुले बिना आपको पहचानने का उपाय नहीं है ! एक मात्र श्रीरामकृष्ण देव ने ही आपको पहचाना था। शेष सभी लोग केवल उनकी बात पर विश्वास करते हैं। आपको कोई समझ नहीं सका।

स्वामीजी — मेरी इस समय एक मात्र इच्छा है, — देश को जगा दूँ — मानो महावीर अपनी शक्ति पर विश्वास खोकर सो रहे हैं — चूँ तक नहीं करते। सनातन धर्म के भाव से इसे किसी प्रकार यदि जगा सकूँ तो समझूँगा कि श्रीरामकृष्ण देव व हम लोगों का आना सार्थक हुआ। केवल यही इच्छा है — मुक्ति-मुक्ति सब तुच्छ लगते हैं। आप आशीर्वाद दीजिए, जिससे सफलता प्राप्त हो।

नाग महाशय — श्रीरामकृष्ण देव का आशीर्वाद है। आपकी इच्छा की गति को कोई फिरा सके, ऐसा देखने में तो नहीं आता, जो चाहेंगे वही होगा।

स्वामीजी — कहाँ, कुछ भी तो नहीं होता — उनकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं होता।

नाग महाशय — उनकी इच्छा और आपकी इच्छा एक हो गई है। आपकी जो इच्छा, वही श्रीरामकृष्ण देव की इच्छा है। जय रामकृष्ण, जय रामकृष्ण !

* * * *

स्वामीजी — नाग महाशय ! क्या कर रहा हूँ, क्या नहीं कर रहा हूँ, कुछ समझ नहीं सकता। एक एक समय एक एक बात की ओर प्रबल झुकाव आ जाता है, उसीके अनुसार काम किए जा रहा हूँ। इससे भला हो रहा है या बुरा, कुछ समझ नहीं सकता।

नाग महाशय — श्रीरामकृष्ण देव ने जो कहा था — 'सन्दूक में बन्द रहा' इसीलिए अब समझने नहीं दे रहे हैं। समझने के साथ ही लीला समाप्त हो जायगी।

नाग महाशय की बात सुनकर स्वामीजी चिन्तामग्न हो गए। आइए पाठकगण! हम भी इस अवसर में ज़रा सोचकर देखें — देखें एक बार कल्पना के अपलक नेत्रों को फैलाकर — बेलुड़ के पुण्य मठ-मन्दिर में एक दूसरे के आमने सामने दो महामानवों की मूर्तियों को! विश्वविजयी संन्यासी-प्रवर किस दीन भाव से उनसे भी दीन, श्रेष्ठ गृहस्थ से आशीर्वाद की भिक्षा माँग रहे हैं। जिस विवेकानन्द ने जाति, वर्ण, स्त्री, पुरुष की भेद-भावना से मुक्त होकर सनातन धर्मरूपी समुद्र को मथित कर प्रत्येक को समभाव से अद्वैतरूपी अमृत का दान दिया, तथा दे रहे हैं वे अपने कर्म की भलाई या बुराई के बारे में सन्दिग्ध होकर कह रहे हैं,—"कुछ समझ नहीं सक रहा हूँ।" पाठकगण! आपने इस वीर संन्यासी को अन्तर्निहित प्रबलतम आत्म-शक्ति की प्रेरणा से गर्वपूर्वक सिर उठाकर सिंह की भाँति संयत शौर्य के साथ गर्दन हिलाकर खड़े होते अनेक बार देखा है,—पर आज आइए, महिममय मनुष्यत्व के सम्मुख महा नम्रता से वही सिर झुकाकर किस प्रकार वे हृदय की अकृत्रिम श्रद्धा निवेदित कर रहे हैं — यह भी देख लीजिए। देखिए कि महा शक्ति व महा नम्रता उस महापुरुष के विशाल हृदय में किस प्रकार अनुपम मधुरता के साथ एकत्र होकर सम्मिलित हुई हैं। और नाग महाशय! उनकी बात और क्या कहूँ — जिनके सम्बन्ध में स्वामीजी ने कहा है, "मैंने सारी पृथ्वी का भ्रमण किया, पर नाग महाशय जैसे साधु का और कहीं भी दर्शन नहीं पाया!" पूर्व बंग की हीरे की खान के इस उज्ज्वल कोहिनूर — पुरुषोत्तम — नाग महाशय के साथ स्वामीजी की तुलना करते हुए भक्त-चूड़ामणि नाट्यसम्राट गिरीश बाबू ने कहा है, "महामाया दो व्यक्तियों से हार मान गई है। स्वामीजी को महामाया जितना ही बाँधने जाती है स्वामीजी उतने ही बड़े बन जाते हैं, माया की रस्सी पार नहीं पाती, और नाग महाशय इतने छोटे बन जाते हैं कि उसकी गाँठ के भीतर से फिसल जाते हैं!"

एक दिन 'हितवादी' सम्पादक श्रद्धेय पण्डित सखाराम गणेश देऊस्कर

अपने दो मित्रों के साथ स्वामीजी के दर्शन करने आए थे। वार्तालाप के सिलसिले में पण्डितजी के मित्रों में एक को पंजाबी जानकर स्वामीजी उनके साथ पंजाब प्रान्त की आवश्यकताओं के बारे में चर्चा करने लगे। भारतीय जनसाधारण के दैन्य, दुःख, अशिक्षा तथा सामाजिक जीवन की दुर्दशा को दूर करने के लिए न्याय की दृष्टि से प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के ऊपर उत्तरदायित्व है — और इस उद्देश्य से प्राणपण चेष्टा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है — इत्यादि राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं के प्रधान प्रधान विषयों का वर्णन स्वामीजी ओजस्वी भाषा में करने लगे। काफी देर तक वार्तालाप के बाद पण्डितजी ने विदा ली। इसी समय उनके साथी पंजाबी मित्र ने स्वामीजी को लक्ष्य करके कहा, "स्वामीजी, आपसे धर्मोपदेश सुनने के लिए हम बड़ी आशा करके आए थे, परन्तु दुर्भाग्य से अतिसाधारण विषयों की चर्चा हुई — आज का दिन व्यर्थ गया।"

स्वामीजी का तपोदीप्त मुखमण्डल व्यथित करुणा से गम्भीर हो उठा। वे धीर भाव से बोले, "सज्जन, जब तक मेरी जन्मभूमि का एक कुत्ता भी भूखा रहेगा, तब तक उसे आहार देना ही मेरा धर्म है। इसके अतिरिक्त और जो भी कुछ है — अधर्म है।"

स्वामीजी के देहत्याग के वर्षों बाद इस बात का उल्लेख कर पण्डित देऊस्करजी ने विवेचना की थी कि स्वामीजी का वह गम्भीर समवेदनापूर्ण कथन उनके चित्त में चिरनवीन रूप में सदा जाग्रत रहा है। उसी दिन से उन्होंने समझा है कि वास्तव में देशप्रेम किसे कहते हैं।

इस समय रामकृष्ण संघ के प्रचार व संगठन सम्बन्धी कार्यों की अनेक प्रकार की जो योजनाएँ हुई थीं उनका पूरा पूरा विवरण यहाँ पर लिपिबद्ध करना सम्भव नहीं है। साक्षात् ज्ञानमूर्ति स्वामी शारदानन्दजी ने अमेरिका से लौट-कर संन्यासी प्रचारकों की शिक्षा का भार ग्रहण किया। अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में स्वामी अभेदानन्दजी का वेदान्तप्रचार-कार्य भलीभाँति चल रहा था।

मद्रास, कलकत्ता तथा अलमोड़ा के मायावती मठ से क्रियात्मक वेदान्त व धर्म के सार्वभौमिक आदर्श तथा नरनारायण-सेवा की वाणी प्रचारित होने लगी। जिस उत्साह व विश्वास को प्राप्त करने पर सामर्थ्यविहीन व्यक्ति भी महत्कार्य कर सकता है, उसके अक्षय भण्डार स्वामी विवेकानन्द वास्तव में पंगु को पहाड़ लाँघने की शक्ति दे सकते थे। वे जानते थे, इस प्रचारशील हिन्दू धर्म के नवीन अभ्युदय को प्राचीनपन्थी समाज की उग्र विरोधिता से बचाना हो तो कुसंस्कार व लोकाचार के साथ संग्राम का ही पथ चुन लेना होगा और उसके लिए शक्तिशाली आत्मविश्वासी कर्मियों की आवश्यकता है। गुरुभाइयों के साथ वे नवीन संन्यासियों को युद्धकुशल सैनिकों के रूप में संगठित करने लगे। उनकी दृष्टि इस बात में विशेष रहती थी कि उनके शिष्य-गण देशाचार व लोकाचार की परवाह न करते हुए अकपट होकर सत्य का प्रचार करें, तथा सामाजिक कुरीतियों के साथ समझौता न करें। एक दिन जन्मगत अधिकारवाद की चर्चा के सिलसिले में स्वामीजी ने इस प्रकार के युक्तिविहीन मतवाद की तीव्र आलोचना करके यह बता दिया कि किस प्रकार उसके द्वारा वर्तमान समाज की दुर्गति हुई है। वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा विषमता व भेदवादपूर्ण कदाचार के समर्थन की सम्पूर्ण विरोधिता करते हुए उन्होंने कहा,—"नहीं, समझौता नहीं, लीपापोती नहीं, सड़े-गले मुर्दों को फूलों से न ढको। * * * * अति निन्दनीय कापुरुषता से ही समझौता करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। साहस का अवलम्बन करो। मेरे प्यारे पुत्रो! सब से बढ़कर तुम साहसी बनो। किसी भी कारण से असत्य के साथ समझौता करने न जाना। चरम सत्य का प्रचार करो। इस बात से मत डरो कि तुन्हें लोक-समाज की श्रद्धा प्राप्त न होगी अथवा तुमसे अवाञ्छनीय झगड़े का कारण उत्पन्न होगा। सत्य को न छिपाते हुए यदि तुम सर्वान्तःकरण से सत्य की सेवा करो तो तुम्हें एक परम ईश्वरी शक्ति प्राप्त होगी। इस शक्ति के सम्मुख लोग उस बात को तुम्हारे सामने कहने में काँप उठेंगे जिसकी

सत्यता पर तुम्हारा विश्वास न हो। चौदह वर्ष तक काया-मन-वाक्य से सत्य की सेवा करने पर लोग तुम्हारी बात पर विश्वास करेंगे। केवल इसी उपाय से तुम जनसाधारण का कल्याण कर सकते हो, उन्हें बन्धन से मुक्त कर सकते हो तथा समग्र राष्ट्र को उन्नत बना सकते हो।"

हमने यथास्थान उल्लेख किया है कि इससे पूर्व १६ दिसम्बर को ही स्वामीजी ने दूसरी बार इंग्लैण्ड व अमेरिका जाने की इच्छा प्रकट की थी। इस समय ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में समुद्र-यात्रा से सम्भवतः उनके स्वास्थ्य को लाभ होगा इसी आशा से उनके मित्र व चिकित्सकगण उन्हें यात्रा के लिए अनुरोध करने लगे। अन्त में १९ जून स्वामीजी का इंग्लैण्ड-यात्रा का दिन नियत हुआ। स्वामीजी के साग्रह अनुरोध से स्वामी तुरीयानन्दजी ने उनका साथी बनना स्वीकार किया। बालिका विद्यालय के आवश्यक कार्य के लिए भगिनी निवेदिता ने भी इंग्लैण्ड जाने की इच्छा प्रकट की।

बचपन से ही कठोर ब्रह्मचर्यव्रतधारी संयतमना साधक स्वामी तुरीयानन्दजी धर्म-प्रचार के उद्देश्य से जनसाधारण में भाषण देने के अनिच्छुक थे, परन्तु विवेकानन्द की सर्वविजयिनी प्रीति के सम्मुख उनकी सभी आपत्तियाँ बह गईं। अपनी अमेरिका-यात्रा की बात निश्चित हो जाने पर तुरीयानन्दजी ने प्रचार-कार्य की सुविधा के लिए वेदान्त-दर्शन सम्बन्धी कुछ संस्कृत ग्रन्थ साथ ले जाने की इच्छा प्रकट की। इस बात को सुनकर आचार्य देव स्नेह के साथ हँसते हुए बोले, "शास्त्र-ज्ञान व ग्रन्थ उन्होंने अनेक देखे हैं। उन्होंने क्षत्रिय शक्ति को काफी देखा है — मैं उन्हें ब्राह्मण दिखाना चाहता हूँ।" — अर्थात् तर्कयुक्ति, निर्भीक वादविवाद, भाषण इत्यादि रजोगुण के विकास को पाश्चात्य जगत् ने स्वामीजी में विशेष रूप से देखा है। इस समय वे सत्वगुणमूलक ध्यान, तपस्या, साधना इत्यादि के समवाय से गठित प्रकृत ब्राह्मण के पवित्र जीवन को उनके सम्मुख आदर्श के रूप में स्थापित करना चाहते हैं!

१९ जून को स्वामीजी व स्वामी तुरीयानन्दजी को विदाई का अभिनन्दन देने के लिए बेलुड़ मठ में एक छोटी सी सभा हुई। स्वामीजी ने 'संन्यासी का आदर्श व उसका साधन' शीर्षक अंग्रेजी में एक छोटा सा भाषण दिया। स्वामीजी बौद्ध व जैन धर्म-संस्कारकों के अनुयायी प्रबल संन्यासी-सम्प्रदाय के उत्थान व पतन के इतिहास की चर्चा करते हुए इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि अत्यन्त उच्च आदर्श राष्ट्र को पंगु व दुर्बल बना डालता है। इसलिए नवयुग के संन्यासियों को आदर्श समझाते हुए उन्होंने कहा,—

(१) साधारण लोग जीवन से प्रेम रखते हैं, तुम्हें मृत्यु से प्रेम रखना होगा। मृत्यु से प्रेम रखने का मतलब है — दूसरों के कल्याण की कामना से सदा आत्मविसर्जन के लिए तैयार रहना।

(२) गुफा में बैठकर ध्यान करते करते देह-त्याग करने के सदृश प्राचीन आदर्श की वर्तमान काल में आवश्यकता नहीं है। श्रेय के पथ पर खड़े होकर प्रत्येक मानव बन्धु की मुक्ति के लिए उसकी सहायता करनी होगी।

(३) गम्भीर भावपरायणता तथा प्रबल कर्मशीलता के समन्वय से जीवन का निर्माण करना होगा। तुम लोग सदैव गम्भीर ध्यान में निमग्न होने के लिए तैयार रहोगे — परन्तु दूसरे ही क्षण मठ से लगी हुई भूमि पर हल चलाने में भी हिचकोगे नहीं। शास्त्रों की कठिन समस्याओं की मीमांसा भी करोगे और मठ की भूमि में उत्पन्न अनाज को बाज़ार में ले जाकर बेचने के लिए भी तैयार रहोगे।

(४) तुममें से प्रत्येक को यह स्मरण रखना होगा, कि इस मठ का उद्देश्य है — मनुष्य तैयार करना। स्त्रियों की तरह कोमल हृदय हो, परन्तु शारीरिक व मानसिक दृढ़ता रहे, सर्वतोमुखी स्वाधीनता के आकांक्षी हो परन्तु साथ ही विनीत व आज्ञाकारी हो — ये ही मनुष्य के लक्षण हैं। दूसरों के दुःख में आँसू बहाना होगा — परन्तु साथ ही दृढ़चित्त होना होगा।

इस बात को समझकर कि हृदय की संकीर्णता तथा उच्छृंखल अबाध्यता

के कारण ही व्यक्तिविशेष सीमित सम्प्रदाय का निर्माण करता है, स्वामीजी ने नव प्रतिष्ठित संन्यासी-संघ को बार बार सावधान करके कहा, "यहाँ पर अबाध्यों का स्थान नहीं है। यदि कोई अबाध्य हो तो ममताशून्य होकर उसे भगा दो — विश्वासघातक कोई न रहे! वायु की तरह मुक्त व अबाध-गति बनो, परन्तु साथ ही इस लता और कुत्ते की तरह नम्र व आज्ञाकारी भी बनो।"

सप्तम अध्याय

मानवमित्र विवेकानन्द

(१८९९–१९०२)

" यदि स्वदेश व मनुष्यकुल का यथार्थ कल्याण हो तो श्रीगुरु की पूजा ही छोड़ना क्या, कोई उत्कट पाप करके मैं ईसाइयों का अनन्त नरक भोगने के लिए भी तैयार हूँ। "

—स्वामी विवेकानन्द।

२० जून को प्रातःकाल स्वामीजी गुरुभाइयों के साथ बागबाज़ार में श्री माताजी के निवासस्थान पर पधारे। दोपहर को श्री माताजी संन्यासी सन्तानों को सन्तोष के साथ भोजन कराकर सुखी हुईं। तीसरे प्रहर उनकी चरण-धूलि व आशीर्वाद लेकर विवेकानन्द तुरीयानन्दजी व भगिनी निवेदिता के साथ 'प्रिन्सेफ घाट' में उपस्थित हुए। वहाँ उनके शिष्य व प्रेमी अनेक व्यक्ति प्रतीक्षा कर रहे थे। स्वामीजी प्रसन्न मुख से सभी से बिदा लेकर 'गोलकुण्डा' जहाज़ पर चढ़े। २४ जून को जहाज़ मद्रास बन्दरगाह में पहुँचा। स्वामीजी के कलकत्ते से रवाना होने का समाचार यथासमय तार द्वारा मद्रास के भक्तों को सूचित कर दिया गया था। उस समय भी कलकत्ते में प्लेग का प्रकोप कम न हुआ था, इसलिए प्लेग-कानून के नियमानुसार कलकत्ते से आये हुए किसी भारतीय यात्री का मद्रास में उतरना निषिद्ध था। यह सोचकर कि इस कानून के कारण सरकारी अधिकारी मद्रास में स्वामीजी के शुभ पदार्पण में विघ्न उपस्थित करेंगे मद्रास के विशिष्ट व्यक्तियों ने सम्मिलित होकर माननीय पी० आनन्द चारलु महोदय के नेतृत्व में एक विराट सभा की और इस सभा की ओर से स्थानीय सरकार के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा गया कि सरकार

श्री स्वामी विवेकानन्द के लिए यह प्रतिबन्ध न लगाए। सभी ने आशा की थी कि कम से कम कुछ घण्टों के लिए स्वामीजी को मद्रास नगर में प्रवेश करने के लिए अधिकारियों की कोई आपत्ति न होगी। परन्तु अन्त में देखा गया कि स्वास्थ्य विभाग के बड़े अधिकारी ने बहुत विलम्ब करके यह निर्देश दिया कि स्वामीजी मद्रास में नहीं उतर सकेंगे। स्वामी विवेकानन्द के प्रति वैसे ही भारतीय शासकगण बहुत सन्तुष्ट न थे। यहाँ पर यह उल्लेख करने में कोई हानि न होगी कि इससे पूर्व काश्मीर में मठ-निर्माण-कार्य में भी बाधक होकर वहाँ के रेसिडेन्ट मि० टैबट ने जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया था, मद्रास के अधिकारियों का मनोभाव भी उसी प्रकार का था।

रविवार प्रातःकाल 'गोलकुण्डा' मद्रास बन्दरगाह में आ पहुँचा। हजारों उत्सुक दर्शक जेटी में सम्मिलित हुए थे। परन्तु जब उन्होंने निश्चित रूप से जान लिया कि स्वामीजी को किसी भी तरह बन्दरगाह में उतरने नहीं दिया जायगा तो अनेक व्यक्ति विरक्त व दुःखित चित्त से उक्त स्थान से चले गए और किसी किसी ने किराये पर नाव करके जहाज़ के पास जाकर स्वामीजी का पवित्र दर्शन प्राप्त किया। स्वामीजी डेक पर खड़े होकर प्रसन्न मुख से सभी को आशीर्वाद देने लगे और किसी किसी भक्त द्वारा लाए हुए नारियल तथा अन्य फल आनन्दपूर्वक ग्रहण करने लगे। इसमें सन्देह नहीं कि मद्रास में न उतर सकने के कारण स्वामीजी को भी दुःख हुआ था।

'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के संचालन के सम्बन्ध में स्वामीजी के साथ परामर्श करने के लिए तथा श्रीगुरु के पवित्र संग में कुछ दिन बिताने का लोभ संवरण करने में असमर्थ होकर नीरव कर्मी आलासिंगा पेरुमल मद्रास से कोलम्बो तक जाने के लिए स्टीमर में आए। स्टीमर मद्रास बन्दरगाह छोड़ चार दिन बाद कोलम्बो पहुँचा।

जयध्वनि से मुखरित समुद्र-तट पर उतरते ही स्वामीजी का हजारों नर-नारियों ने सादर स्वागत किया। हर्ष की बात है, कोलम्बो के अधिकारियों ने

प्लेग-कानून का भय दिखाकर नीच मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया। माननीय सर कुमार स्वामी तथा श्री० अरुणाचलम् महोदय को जनता के बीच उपस्थित देखकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। पुराने मित्र व भक्तमण्डली के साथ समयोचित वार्तालाप तथा आदर सम्भाषण के बाद स्वामीजी ने स्थानीय श्रीमती हिगन्स द्वारा स्थापित बौद्ध बालिका विद्यालय के छात्रानिवास तथा अपनी पूर्व परिचित काउन्टेस कैनोवारा द्वारा स्थापित विद्यालय व मठ का निरीक्षण किया। २८ जून को प्रातःकाल जहाज़ कोलम्बो छोड़ एडन की ओर चला। श्री गुरुदेव के साथ छः सप्ताह की समुद्र-यात्रा भगिनी निवेदिता के लिए परम शिक्षा की दृष्टि से मानो दैवी वरदान था। भारतीय रीति-नीति, धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास आदि की चर्चा के बीच निवेदिता अपने जगदाराध्य गुरुदेव के जीवन के उद्देश्य को तथा उनके द्वारा प्रचारित सत्य सम्बन्धी तत्वों को सदैव ही श्रद्धाविमुग्ध हृदय से समझने की चेष्टा करती थीं। इस समय के कुछ अमूल्य वार्तालापों को भगिनी अपने ‘ My master as I saw him ’ नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में सरल तथा स्पष्ट भाषा में लिपिबद्ध कर गई हैं। अपने गुरुदेव के साथ ‘ आधी पृथ्वी पार होने ’ के गौरवमय अधिकार की प्राप्ति को उन्होंने अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ घटना बताई है। यद्यपि इस समय गम्भीर व उदासीन विवेकानन्द बाह्य जगत् की घटनाओं से एक प्रकार अवसर ग्रहणकर आत्मस्थ योगी की तरह भावानन्द में मग्न रहने के लिए ही अधिकतर आग्रह प्रकट करते थे, फिर भी निवेदिता ने उनके साथ सम्भाषण के छोटे से छोटे अवसर की भी किसी दिन उपेक्षा नहीं की। उन्होंने लिखा है, “ इस समुद्र-यात्रा के प्रारम्भ से अन्त तक अनेक प्रकार के भाव व भावनाओं का अविराम स्रोत जारी था। क्या मालूम, किस शुभ मुहूर्त में सहसा स्वामीजी की उपलब्धि का द्वार उन्मुक्त हो जायगा और हम ज्वलन्त भाषा में सत्य के नए नए सन्देश सुन सकेंगे। समुद्र-यात्रा के प्रारम्भ के प्रथम दिन तीसरे प्रहर हम भागीरथी पर जहाज़ में बैठे बातें कर रहे थे, इतने में ही

स्वामीजी सहसा बोल उठे, 'देखो, जितने भी दिन बीत रहे हैं, उतना ही मैं स्पष्ट समझ रहा हूँ, मनुष्यत्व-प्राप्ति (Manliness) ही जीवन की सर्वश्रेष्ठ साधना है। इस नवीन वार्ता का ही मैं जगत् में प्रचार कर रहा हूँ। यदि अन्याय कर्म करना हो तो उसे भी मनुष्य की तरह करो। यदि दुष्ट ही बनना है तो एक महान् दुष्ट बनो।"

आचार्य देव यद्यपि अधिकांश समय मौन भाव से गम्भीर चिन्ता में निमग्न रहते थे, फिर भी समय समय पर एक प्रकार अज्ञात रूप से ही अपनी श्रेष्ठतम चिन्ता व अनुभूतियों को व्यक्त कर देते थे। कभी कभी ऐसी भी दो एक बातें कह देते थे जिसका युक्तिपूर्ण कारण खोज निकालना बहुत ही कठिन काम था।

एक दिन स्वामीजी डेक पर खड़े खड़े सूर्यास्त देख रहे थे। पास खड़ी थीं निवेदिता। उस समय सूर्यदेव अस्त नहीं हुए थे—पीले लाल रंग की किरणें छोटे छोटे मेघखण्डों पर सुनहरे स्वप्न की तरह बिखर गई थीं। नीचे विशाल समुद्र के वक्ष में उसका मनोरम प्रतिबिम्ब छोटी छोटी तरंगों के साथ हिलता हुआ काँप रहा था। पास ही एटना ज्वालामुखी के शिखर से थोड़ा थोड़ा धुआँ निकल रहा था। धीरे धीरे जहाज़ के मेसिना मुँहाने में प्रवेश करते ही चन्द्रोदय हुआ। स्वामीजी डेक पर टहलते हुए निवेदिता को सौन्दर्य की दार्शनिक व्याख्या सुनाने लगे। बाहर के जगत् में सौन्दर्य के जिस विकास को देख हम मुग्ध हो जाते हैं वह असल में हमारे मन में ही विद्यमान है, बाहर उसका कोई अस्तित्व नहीं—इस बात को समझाते समझाते आत्ममग्न होकर आचार्य देव नीरव हुए। इटैली के समुद्र-तट पर स्थित धूसरवर्ण पर्वतसमूह मानो उपेक्षामिश्रित भृकुटि के साथ गर्वोद्धत मस्तकों को उठाकर खड़े हैं। दूसरी ओर स्निग्ध चन्द्रालोक से उद्भासित हास्यमय सिसिली द्वीप—इस अपूर्व प्राकृतिक सौन्दर्य को देखते देखते स्वामीजी सहसा बोल उठे, "मेसिना मुझे धन्यवाद देगी, क्योंकि मैंने ही उसे यह अतुलनीय सौन्दर्य दिया है,"

दूसरे ही क्षण स्वामीजी अपने बाल्य जीवन की भगवत्प्राप्ति के लिए तीव्र व्याकुलता तथा उसके लिए कठोर साधनोद्यम इत्यादि का वर्णन करने लगे। थोड़ी ही देर पहले उच्चतम अनुभूति की लहर में आकर अनजान में उन्होंने जिस वाक्य को सहसा कह डाला था, मानो अब शिष्या को उसे भुला देने के लिए ही वे चेष्टा करने लगे। कई बार उनके श्रीमुख से इच्छा के विरुद्ध भी इस प्रकार की अनेक बातें निकल पड़ती थीं, जिनके लिए दूसरे क्षण में ही वे लज्जा से आरक्त होकर उस स्थान से चले जाते थे।

एक दूसरे दिन प्रातःकाल जहाज़ जिस समय जिब्राल्टर के मुँहाने के बीच में से जा रहा था, स्वामीजी डेक पर आत्ममग्न होकर खड़े थे, इसी समय निवेदिता उनके पास आकर खड़ी हुई। उन्हें देखते ही आचार्य देव तटभूमि की ओर निर्देश कर बोल उठे, "क्या तुमने उन्हें नहीं देखा ? क्या तुमने उन्हें नहीं देखा ? तट पर उतर कर वे 'दीन दीन' (विश्वास, विश्वास) ध्वनि से दिशाओं को मुखरित कर रहे हैं !"

इस बात को कहकर स्वामीजी ने भावावेग में लगभग आध घण्टे तक मुरीय विश्वासी मुसलमानों की स्पेन-विजय की कहानी कह सुनाई।

भगिनी निवेदिता यत्न के साथ आचार्य देव के अमूल्य उपदेशों को लिपिबद्ध कर गई हैं। ध्यानपूर्वक उनका अध्ययन करने पर हम देखते हैं, क्षीरभवानी के मन्दिर की उस देववाणी ने, जगन्माता की उस स्नेहकरुण मृदु भर्त्सना ने उनके चरित्र में विचित्र परिवर्तन ला देने पर भी सर्वत्यागी संन्यासी भारत के कल्याण की चिन्ता से क्षण काल के लिए भी विरत न हुए। भारत की पौराणिक व ऐतिहासिक कहानियों की चर्चा में प्रवृत्त होने के साथ ही उनका भावविमुग्ध हृदय मानो वर्तमान शोचनीय अधःपतन के निराशाव्यंजक दृश्यों को सम्पूर्ण रूप से भूल जाता था। गम्भीर श्रद्धा के साथ वे एक महिमासमुज्ज्वल भविष्य को प्रत्यक्ष सत्य की तरह चित्रित कर डालते थे — और यहीं पर हम उनके गौरवमय व्यक्तित्व के प्रभाव का स्पष्ट रूप से अनुभव करते

हैं। भारत के उत्थान व पतन के इतिहास तथा जगत् के हित के लिए आविर्भूत महापुरुषों की अलौकिक कार्यप्रणाली के बीच वे सदा ही जातीय जीवन के मूल उद्देश्य के एक घात-प्रतिघातमय विकास की सदा ही उपलब्धि करते थे। उन्होंने लक्ष्य किया था, "बाहर वाले राष्ट्रों के संघर्ष से भारत धीरे धीरे जग रहा है। इस स्वल्प जाग्रति के परिणाम में स्वाधीन चिन्ता का थोड़ा बहुत विकास हुआ है। एक ओर थी प्रत्यक्ष शक्तिभण्डार-रूपी आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान की चकाचौंध में डालनेवाली शतसूर्यों की ज्योति जैसी प्रभा, और दूसरी ओर थे स्वदेशी तथा विदेशी अनेक मनीषियों द्वारा उद्घाटित युगयुगान्तरों की सहानुभूतियोग से सभी को बल व आशा देनेवाले पूर्व-पुरुषों का अपूर्व वीर्य, अमानवी प्रतिभा तथा देवदुर्लभ आध्यात्मिक कथाएँ। एक ओर जड़ विज्ञान, प्रचुर धनधान्य, प्रभूत बलसंचय तथा तीव्र इन्द्रियसुख विजातीय भाषा द्वारा महा कोलाहल मचा रहे हैं, दूसरी ओर उस महा कोलाहल को भेदकर क्षीण परन्तु मर्मभेदी स्वर में प्राचीन देवों का आर्त नाद सुनाई पड़ रहा है।

"सम्मुख में विचित्र यान, विचित्र पान, सुसजित भोजन, विचित्र पोशाकों में लज्जाविहीन विदुषी नारियों की विचित्र भावभंगी अपूर्व वासना को जाग्रत कर रही है और बीच बीच में वह दृश्य लुप्त होकर व्रत, उपवास, सीता सावित्री, तपोवन, जटा-वल्कल, काषाय कौपीन, समाधि, आत्मानुसन्धान उपस्थित हो रहे हैं।" "एक ओर मिशनरी, दूसरी ओर ब्राह्म कोलाहल";—"एक ओर गतानुगतिक जड़ पिण्ड जैसा समाज, दूसरी ओर अस्थिर, धैर्यहीन आग उगलनेवाले संस्कारक"— इस भावविप्लव से उत्पन्न अभाव में रातदिन केवल पश्चिम की ओर हाथ पसारकर रहने के लिए ही क्या पृथ्वी के पूर्वी भाग में हमारे लिए स्थान नियत हुआ था? इसी समस्या के द्वारा विवेकानन्द का जीवन अन्दर व बाहर प्रबल आँधी से विशाल वटवृक्ष की तरह आलोड़ित हुआ है। उनके जीवन की आँधी ने पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों

ही समुद्रों में लहरें उठाई हैं। फिर भी कमर पर कौपीन लपेटकर यह व्यक्ति-शाली संन्यासी सूर्योदय की प्रतीक्षा में अपने देश की भूमि पर ही पूर्व की ओर मुँह किए खड़े हुए थे। विवेकानन्द ने ही अत्यन्त दुःसाहस के साथ पहले पहल हमें सुनाया था कि जातीय भाव व सभ्यता के प्रति विद्रोह करते हुए दूसरों की नकल उतारकर किसी राष्ट्र का अभ्युदय नहीं हो सकता। जाति के स्वभावधर्म से, स्वाभाविक विकास से विच्छिन्न होकर विजातीय शिक्षा-दीक्षा का असंयत आस्फालन—क्या यही अभिव्यक्ति है?—यह अनुकरण है, आत्मविस्मरण है, जातीय प्रकृति के विरुद्ध अत्यन्त निन्दनीय व्यभिचार है। इसी व्यभिचार के प्रतिकार का निर्देश करते हुए आचार्यदेव समय समय पर अपने जीवन के महान् उद्देश्य की बातें उत्साह के साथ व्यक्त करते थे। भगिनी निवेदिता ऐसे ही अवसरों पर तन्मय होकर अपने गुरुदेव के विचार, आशा व आकांक्षाओं को सुनती थीं। उनका विश्वास था कि निकट भविष्य में जो असंख्य महाप्राण भक्त व कर्मी जन्म ग्रहण कर विवेकानन्द के स्वप्नों को कार्य-रूप में परिणत करने की चेष्टा में जीवन का उत्सर्ग करेंगे, उनके व स्वामीजी के मध्य में 'वार्तावाही' (Transmitter) अथवा 'सेतु' के रूप में चिरकाल तक विराजमान रहने का गौरवमय अधिकार प्राप्त कर वह धन्य हुई हैं। इस प्रशंसनीय दायित्वबोध की प्रेरणा से एक दिन भगिनी निवेदिता ने स्वामीजी से प्रश्न किया था कि भारत के कल्याण के लिए वे जिन उपायों का निर्देश करते हैं उनके साथ किसी किसी विषय में दूसरे भारत-हितैषियों द्वारा प्रचारित आदर्श का प्रत्यक्ष रूप से विरोध देखा जाता है। भगिनी जानती थीं कि इस प्रकार सीधा प्रश्न पूछकर गुरुदेव के मन की बात निकाल लेना बहुत कठिन काम है, परन्तु उनके प्रश्न के उत्तर में जब स्वामीजी भिन्नमतावलम्बी नेताओं की कार्य-प्रणाली की विपरीत समालोचना न करके उनके चरित्र व प्रचेष्टा की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा ही करने लगे तो विस्मित होकर निवेदिता ने उस विषय में स्वामीजी की राय जानने के लिए उन्हें अधिक तंग करना उचित न समझा।

सहसा सायंकाल स्वामीजी फिर उस प्रसंग को उठाकर कहने लगे, "जो लोग अपने व्यक्तिगत कुसंस्कारों को हमारे स्वदेशवासियों के बीच में चला देना चाहते हैं, मैं पूर्ण अन्तःकरण से उनका तीव्र प्रतिवाद करता हूँ। मिश्र देश के पुरातत्वों की चर्चा करने वालों की उस देश के प्रति प्रीति की तरह किसी किसी के मन में भारत के प्रति एक स्वार्थपूर्ण प्रेमभाव रहना विचित्र नहीं है। सभी व्यक्ति अपनी अपनी शिक्षा, कल्पना व किताबी विचार के अनुसार भारत को देखना चाहते हैं। मेरी इच्छा है, प्राचीन भारत का जो भी कुछ गौरवमय है उसके साथ वर्तमान युग की भली वस्तुएँ स्वाभाविक रूप से एकत्रीभूत होकर नवीन भारत गढ़ उठे। और इस उन्नतिमूलक गठन-कार्य का सम्पादन सम्पूर्ण रूप से सभी बहिःशक्तियों की उपेक्षा करके होना ही वाञ्छनीय है।"

इस बात का निर्देश करते हुए कि प्राचीन व आधुनिक का इस प्रकार सम्मिलित होना कोई असम्भव अथवा काल्पनिक बात नहीं है, उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन के प्रति विशेष रूप से ध्यान दिलाते हुए कहा,—"वे ही इसके पथस्वरूप हैं—अद्भुत, अहंबुद्धिशून्य पथ!"—कहते कहते स्वामीजी कुछ दृढ़ स्वर से कह उठे, "वे ही यह असाधारण जीवन व्यतीत कर गए हैं—मैं केवल उसका व्याख्याकार हूँ।"

३१ जुलाई को आचार्य देव लन्दन पहुँचे। टिलबेरी डॉक में उतरकर अपने अंग्रेज शिष्य व शिष्याओं के बीच दो अमेरिकन शिष्याओं को स्वागत के लिए आए हुए देख स्वामीजी कुछ विस्मित व आनन्दित हुए। वे समाचार-पत्रों द्वारा स्वामीजी के इंग्लैण्ड-आगमन का संवाद पढ़कर गुरु-दर्शन की तीव्र आकांक्षा से डिट्राइट से लन्दन आई थीं। स्वामीजी लन्दन से कुछ दूरी पर विम्बलडन नामक स्थान में निवास करने लगे। इस बार स्वामीजी ने दर्शनार्थी जिज्ञासुओं के साथ धर्मालोचना करने के अतिरिक्त किसी सर्व-साधारण स्थान में कोई भाषण नहीं दिया। अन्त में अमेरिका से बार बार

बुलाए जाने पर १६ अगस्त को गुरुभाई तुरीयानन्द तथा दोनों अमेरिकन शिष्याओं के साथ उन्होंने न्यूयार्क की ओर यात्रा की। इस समुद्र-यात्रा के सम्बन्ध में स्वामीजी की शिष्या श्रीमती फ्रान्की ने लिखा है, "समुद्र पर व्यतीत किए हुए दस दिनों की स्मृति कभी भूलने की नहीं। प्रति दिन प्रातः-काल गीता का पाठ व व्याख्या होती थी। और कभी कभी हम लोग संस्कृत कविता व कहानियों की आवृत्ति तथा अनुवाद सुनते थे, कभी प्राचीन वैदिक प्रार्थना-मंत्रों का पाठ होता था। समुद्र शान्त था, मनोहर चाँदनी से रात्रि चमक रही थी — एक दिन गुरुदेव डेक पर टहलते हुए प्राकृतिक सौन्दर्य के सम्बन्ध में हमें समझा रहे थे। उज्ज्वल चाँदनी में उनका विशाल सुन्दर शरीर बड़ा ही मनोहर लग रहा था। इसी समय एकाएक खड़े होकर वे कह उठे, "माया के राज्य के दृश्य जब इतने सुन्दर हैं, तो सोचो इसके पीछे विद्यमान वे सत्यस्वरूप कितने सुन्दर होंगे!"

"एक दूसरे दिन ज्योत्स्नालोकित सन्ध्या के समय वे चुपचाप खड़े थे। अपूर्व सौन्दर्यमयी रजनी की उज्ज्वल रूपराशि, — तथा ऊपर से सुवर्ण-वर्ण पूर्ण चन्द्र हँस रहा था — तन्मय होकर इस दृश्य को देखते देखते वे हाथ उठाकर बोल उठे, 'कविता का सार सामने फैला हुआ है — कविता की आवृत्ति करने की क्या आवश्यकता है'!"

न्यूयार्क में पहुँचकर आचार्य देव को श्रीमान तथा श्रीमती लिगेट ने बड़े आदरपूर्वक अपना अतिथि बनाया। उनके साथ थोड़ी देर रहकर लिगेट दम्पति के अनुरोध से फिर उसी दिन तीसरे प्रहर गुरुभाई तुरीयानन्द के साथ न्यूयार्क से १५० मील दूर स्थित उनके गाँव के मकान 'रिजले मैनर' को वे चल दिए। स्वामीजी का गिरा हुआ स्वास्थ्य देखकर सहृदय लिगेट दम्पति ने एकदम उन्हें प्रचारकार्य प्रारम्भ करने नहीं दिया। इस भय से कि उनका बिगड़ा स्वास्थ्य अधिक परिश्रम से कहीं और न गिर जाय, उन्होंने स्वामीजी की चिकित्सा की व्यवस्था कर दी। एक मास के बाद निवेदिता इंग्लैण्ड से वहाँ

आ गईं। इधर स्वामी अभेदानन्दजी प्रचारकार्य के लिए किसी दूसरे स्थान पर थे, इसलिए न्यूयार्क में स्वामीजी के साथ उनका साक्षात्कार नहीं हो सका। कुछ दिन बाद वे भी वहाँ पर आए। स्वामीजी उनसे वेदान्तप्रचार-कार्य की सफलता का समाचार पाकर तथा यह जानकर कि न्यूयार्क में 'वेदान्त-समिति' के लिए एक स्थायी भवन की व्यवस्था हो रही है, बहुत ही आनन्दित हुए और गुरुभाइयों की निःस्वार्थ चेष्टा के लिए उन्हें धन्यवाद देने लगे। अभेदानन्दजी एक दिन बाद ही 'वेदान्त-समिति' सम्बन्धी कार्य के लिए न्यूयार्क लौट आए। १५ अक्टूबर को वेदान्त-समिति के नवीन भवन के उद्घाटन-कार्य को सम्पन्न करके, २२ ता० से वे नियमित रूप से व्याख्यान देना तथा प्रश्नोत्तर क्लास का कार्य चलाने लगे। कहना न होगा, जिस समय स्वामीजी भारत में थे उस समय स्वामी अभेदानन्दजी ने अथक परिश्रम व योग्यता के साथ प्रचार-कार्य को जारी रखा था। इधर स्वास्थ्य में सुधार होने के साथ ही स्वामी विवेकानन्दजी न्यूयार्क लौटने के लिए अधीर हो उठे। निदान ५ नवम्बर को अतिथिपरायण लिगेट दम्पति से विदा लेकर वे भगिनी निवेदिता व स्वामी तुरीयानन्दजी के साथ न्यूयार्क जा पहुँचे।

८ नवम्बर को वेदान्त-समिति के भवन में बुलाई गई एक प्रश्नोत्तर-सभा में स्वामी विवेकानन्द जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित हुए। स्वामी अभेदानन्दजी ने वेदान्त-समिति के नवीन सदस्यों के साथ उनका परिचय करा दिया। शत शत उत्सुक नर-नारियों के आग्रहपूर्ण आवेदन पर उस दिन स्वामीजी ने जिज्ञासु व्यक्तियों के प्रश्नों का उत्तर स्वयं देकर उन्हें कृतार्थ किया। १० नवम्बर को स्थानीय जनसाधारण की ओर से उन्हें अभिनन्दन-पत्र दिया गया। आचार्य देव ने पुराने मित्रों व शिष्य मण्डली के साथ सम्मिलित होने के आनन्द में मग्न होकर उक्त अभिनन्दन पत्र का समयोचित उत्तर दिया।

स्वामी तुरीयानन्दजी ने अभेदानन्दजी के साथ सम्मिलित होकर वेदान्त-

समिति का कार्यभार ग्रहण किया। थोड़े ही समय में उनके उदार व समुन्नत चरित्र के प्रभाव से जनता का हृदय आकृष्ट हुआ। कुछ सप्ताह के बाद ही वे आमंत्रित होकर न्यूयार्क के निकटवर्ती 'माउन्ट क्लेअर' नामक स्थान में गए। दिसम्बर मास में केम्ब्रिज के वेदान्त-प्रचारकार्य में उन्हें विशेष ख्याति व सम्मान प्राप्त हुआ। १० दिसम्बर को केम्ब्रिज कान्फरन्स की व्यवस्था के अनुसार उन्होंने 'शंकराचार्य' के सम्बन्ध में एक लेख पढ़ा। हारवर्ड यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर तथा अनेक अन्य दार्शनिक व धर्मोपदेशक ध्यान देकर नवागत संन्यासी का लेख सुनकर शतमुख से उनकी प्रशंसा करने लगे। इस प्रकार हिन्दू धर्म तथा दर्शन के प्रति श्रद्धासम्पन्न अमेरिकानिवासी नर-नारियों ने स्वामी तुरीयानन्दजी को भी अन्यतम आचार्य के रूप में ग्रहण किया।

अनेक शिक्षित नरनारी, जो स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें तथा भाषण आदि पढ़कर उनके प्रति श्रद्धासम्पन्न बने थे, इस समय उनके अमेरिका में आने का समाचार पाकर उनकी दर्शन की लालसा से न्यूयार्क आने लगे। स्वामीजी भी बिना किसी भेद-विचार के सभी व्यक्तियों का आदर के साथ स्वागत करते हुए उनकी धर्म सम्बन्धी समस्याओं को दूर कर देने में प्रसन्नता मानते थे। पुराने मित्र, शिष्य व शिष्याओं के आग्रहपूर्ण निमंत्रण पर वे न्यूयार्क के आसपास बोस्टन, डिट्राइट, ब्रुकलिन आदि कई स्थानों में गए। इस प्रकार अन्तरंग भक्त व मित्रमण्डली के साथ दो सप्ताह सानन्द बिताकर स्वामीजी ने कैलिफोर्निआ की ओर यात्रा की। उन्होंने पहले से ही अपने सुयोग्य गुरुभाइयों पर प्रचारकार्य की जिम्मेदारी छोड़ रखी थी। उनके आचार-व्यवहार में संन्यासी की सर्वतोमुखी स्वाधीनता इस प्रकार स्पष्ट रूप से प्रकट हो उठती थी कि उन्हें देखकर ऐसा लगता था मानो वे बाह्य जगत् के साथ सभी प्रकार जिम्मेदारी व कर्तव्य के बन्धनों को छिन्न करने के लिए उद्यत हुए हों। कैलिफोर्निआ के रास्ते में स्वामीजी को बाध्य होकर शिकागो में उतरना पड़ा। मित्र व भक्तमण्डली के श्रद्धापूर्ण आग्रह की वे उपेक्षा न कर

सके। शिकागोनिवासियों ने स्वामीजी के सम्मान के लिए अभ्यर्थना की तैयारी में कोई कमी नहीं की। स्वामीजी ने शिकागो में कुछ दिन रहकर नए व पुराने भक्तों की आकांक्षा को पूर्ण किया। अन्त में उनसे विदा लेकर दिसम्बर मास के प्रथम सप्ताह में वे कैलिफोर्निआ आ पहुँचे। सन् १९०० के जून मास से लगातार सात मास तक उन्होंने उक्त प्रान्त में निवास किया।

कैलिफोर्निआ की प्रधान नगरी लास एन्जेल्स में पदार्पण करने के साथ ही, स्वामीजी को श्रीमती बोल्डगेट्स ने अपने घर में आतिथ्य स्वीकार करने का निमंत्रण दिया। उनकी शिष्या कु० मैक्लिआड भी वहाँ पर पहले से ही निवास कर रही थीं। स्वामीजी के आगमन के थोड़े ही दिन बाद प्रतिदिन बहुसंख्यक नरनारी उनके दर्शनों के लिए आने लगे। स्वामीजी की पुस्तकों का अध्ययन कर अनेक व्यक्ति इस प्रकार मुग्ध हुए थे कि यह जानकर कि वे आजकल लास एन्जेल्स में पधारे हैं, दूर दूर से कितने ही लोग उनके पास आने लगे। प्रतिदिन प्रातःकाल व तीसरे प्रहर नियमित रूप से प्रश्नोत्तर सभा होने लगी। अन्त में सर्वसाधारण के आग्रहपूर्ण अनुरोध से उन्होंने फिर भाषण देना स्वीकार किया। ८ दिसम्बर को 'ब्लैन्कर्ड बुक' नामक विशाल भवन में हजार से अधिक श्रोताओं के सम्मुख उन्होंने वेदान्तदर्शन के सम्बन्ध में एक भाषण दिया। इस प्रकार फरवरी मास के मध्य तक लास एन्जेल्स के विभिन्न स्थानों में उन्होंने लगातार कई भाषण दिए, बल्कि यों कहा जाय कि उन्हें प्रतिदिन ही भाषण देना पड़ता था। सौभाग्य से स्थानीय जलवायु स्वामीजी के स्वास्थ्य के लिए अनुकूल थी। अत्यन्त अधिक कठोर परिश्रम के बावजूद भी वे पहले की तरह श्रान्त नहीं हो पड़ते थे। भाषण व वार्तालाप के अतिरिक्त वे प्रतिदिन प्रातः व सायंकाल कुछ अनुरागी शिष्य व छात्रों को राजयोग की शिक्षा देने लगे। स्थानीय 'होम आफ ट्रुथ' के सदस्यगण स्वामीजी के प्रति इस प्रकार आकृष्ट हुए कि वे स्वामीजी को अपने पूर्वोक्त भवन में ले गए तथा उन्होंने उनकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का

पूर्ण भार ग्रहण किया। उक्त समिति के सदस्यों का उत्साह व आग्रह देख स्वामीजी बड़ी प्रसन्नता से उनके बीच रहने लगे। स्वामीजी ने दो मास के अन्दर ही कैलिफोर्निआ के प्रचारकार्य में यथेष्ट सफलता प्राप्त की। स्थानीय समाचार-पत्र शतमुख से उनके पवित्र चरित्र व निःस्वार्थ प्रचारकार्य की प्रशंसा करने लगे।

इसके बाद फरवरी मास में स्वामीजी ओकलैण्ड के सर्वप्रधान युनिटेरियन चर्च के धर्माचार्य रे० डा० बेन्जामिन के० मिल्स महोदय द्वारा आमंत्रित होकर वहाँ गए। उक्त चर्च में स्वामीजी ने लगातार आठ भाषण दिए। प्रतिदिन लगभग दो सहस्र श्रोतागण बड़ी उत्सुकता के साथ उनके उदार धर्ममत को सुनने के लिए एकत्रित होते थे। स्थानीय समाचार-पत्रों में प्रतिदिन उनके भाषणों के सारांश व उद्देश्य आदि के बारे में चर्चा होने लगी। इस समय डा० मिल्स महोदय ने एक धर्मसभा (Congress of Religions) बुलाई। कैलिफोर्निआ के विभिन्न स्थानों से आये हुए सैकड़ों मिशनरी व धर्माचार्य उक्त सभा में सम्मिलित हुए थे। सभी व्यक्ति आचार्य देव के उदार धर्ममत तथा धर्म-समन्वय के अपूर्व सन्देश को श्रद्धापूर्वक सुनकर हार्दिक प्रशंसा करने लगे। डा० बेन्जामिन स्वामीजी के उन्नत पवित्र चरित्र तथा असीम आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का घनिष्ट परिचय पाकर इतने अधिक मुग्ध हुए कि एक दिन श्रोताओं के सामने स्वामीजी का परिचय देते हुए उन्होंने कहा था,—

"A man of gigantic intellect indeed, one to whom our greatest University Professors were as mere children."

("वास्तव में स्वामीजी ऐसे विशाल बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति हैं कि उनके सम्मुख हमारे विश्वविद्यालय के बड़े से बड़े अध्यापकगण भी शिशु जैसे लगते हैं।")

श्रीमती एनी बेसन्ट की भाषा में "इस अप्रतिद्वन्द्वी प्राच्य प्रचारक के अतुलनीय आध्यात्मिक सन्देश की महिमा" की चर्चा कैलिफोर्निआ प्रान्त के नगर नगर, गाँव गाँव में होने लगी। ओकलैण्ड से स्वामीजी फरवरी मास

के अन्त में कैलिफोर्निआ की राजधानी सान-फ्रान्सिस्को में पधारे। आने वाले उनके दर्शनार्थियों को किसी प्रकार असुविधा न हो इस बात की ओर ध्यान रखते हुए स्थानीय मान्य तथा शिक्षित व्यक्तियों ने 'टाकर स्ट्रीट' में एक विशाल भवन का प्रबन्ध कर दिया। थोड़े दिनों के बाद ही स्वामीजी ने स्थानीय 'गोल्डन गेट हॉल' में हजारों श्रोताओं के सम्मुख अपना प्रथम तथा प्रसिद्ध 'सार्वजनीन धर्म का आदर्श' शीर्षक भाषण दिया। मंत्रमुग्ध जैसी जनता ने एकाग्र चित्त हो श्रद्धा के साथ प्रायः दो घण्टे तक खड़े रहकर उनके श्रीमुख से निकली हुई अमृतमधुर सत्य की व.णी का श्रवण किया। भाषण के बाद स्वामीजी के आसन ग्रहण करने पर जनता उच्च कण्ठ से उन्हें धन्यवाद देने लगी। उस श्रेष्ठतम मुहूर्त में सभी ने मानो हृदय से अनुभव किया था कि जगत् के कल्याण को ही अपना सब कुछ माननेवाले महापुरुष स्वामीजी वास्तव में ईश्वर के दूत के रूप में मुक्ति का नवीन सन्देश देने के लिए ही पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं।

मार्च मास में स्वामीजी ने कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महा-पुरुषों के सम्बन्ध में कुछ धारावाहिक भाषण दिए। इसके अतिरिक्त जनता के आग्रह से उन्हें प्रायः राजयोग के सम्बन्ध में भाषण देना पड़ता था। इस समय स्वामीजी ने जो अमूल्य भाषण दिए थे उनमें से अधिकांश अप्राप्य हो गए हैं। यदि गुरुभक्त श्री० गुडविन जीवित होते तो स्वामीजी के श्रीमुख से उच्चारित साधारण सी बात भी ज्यों की त्यों लिपिबद्ध रहती।

प्रातःकाल योगशिक्षार्थी छात्रों को शिक्षा देने एवं धर्मचर्चा तथा तीसरे प्रहर में भाषण आदि के कार्यों से स्वामीजी को थोड़ा भी विश्राम नहीं मिलता था। परन्तु कर्म के इस प्रवाह के बीच में भी समय समय पर उनका समाधि द्वारा पवित्र मन एक अज्ञात अव्यक्त भावराज्य में डूब जाता था। इस प्रकार उच्च भाव से अभिभूत होकर स्वामीजी ने अपनी शिष्या कु० मैकलिआड को १८ अप्रैल १९०० को लिखा था,—

"मैं पैदा हुआ था इससे खुश हूँ — इतना जो दुःख भोगा है उस पर भी खुश हूँ, जीवन में कभी कभी बड़ी बड़ी भूलें की हैं, इस पर भी खुश हूँ। फिर अब जो निर्वाण के शान्त समुद्र में डुबकी लगाने जा रहा हूँ, इसमें भी खुश हूँ। मेरे लिए संसार में फिर लौटना होगा ऐसे बन्धन में किसी को छोड़कर जा नहीं रहा हूँ — अथवा इस प्रकार का बन्धन मैं किसी से लेकर भी नहीं जा रहा हूँ। देह जाने के बाद मुझे मुक्ति हो अथवा रहे रहते ही मुक्त हो जाऊँ, परन्तु वह पुराना विवेकानन्द चला गया है, चिर काल के लिए चला गया है, और नहीं लौटेगा। शिक्षादाता, गुरु, नेता, आचार्य चला गया — पड़ा हुआ है केवल पहले वाला वही बालक, प्रभु का वही चिरशिष्य, चिर पदाश्रित दास!

"अनेक दिनों से नेतृत्व मैंने छोड़ दिया है। किसी भी विषय में 'यह मेरी इच्छा है' ऐसा कहने का अब और मेरा अधिकार नहीं है। जिस समय मैं उनकी इच्छा के स्रोत में सम्पूर्ण निश्चेष्ट होकर बहता जाता था, वही समय जीवन भर में मेरा परम आनन्दमय मुहूर्त लग रहा है। अब फिर उसी प्रकार बहने लगा हूँ। ऊपर सूर्य निर्मल किरणें फैला रहा है — पृथ्वी चारों ओर शस्यशालिनी बनकर शोभित हो रही है — दिवस के उत्ताप से सभी प्राणी व पदार्थ इस समय निःस्तब्ध, स्थिर व शान्त हैं और मैं भी उन्हींके साथ अब धीर स्थिर भाव से अपनी थोड़ी भी इच्छा न रखता हुआ प्रभु की इच्छारूपी स्रोतस्विनी के शीतल वक्ष पर बहता जा रहा हूँ। ज़रा भी हाथ पैर हिलाकर इस स्रोत की गति को तोड़ने में मेरी प्रवृत्ति व साहस नहीं हो रहा है — कहीं प्राणों की यह अद्भुत निःस्तब्धता व शान्ति फिर भंग न हो जाय। प्राणों की यह शान्त निःस्तब्धता ही जगत् को माया के रूप में स्पष्ट समझा देती है। इससे पूर्व मेरे कर्म में मान-यश की भावना भी उठती थी, मेरे प्रेम में व्यक्ति-विचार आ जाता था, मेरी पवित्रता के पीछे फलभोग की आकांक्षा रहती थी, मेरे नेतृत्व में प्रभुत्व की स्पृहा जाग उठती थी। अब

वह सब अदृश्य हो रहे हैं और मैं सभी विषयों में उदासीन होकर उनकी इच्छारूपी स्रोत में बहता जा रहा हूँ। आता हूँ, माँ, आता हूँ! अपने स्नेहमय वक्ष में धारण करके, जहाँ तुम ले जाना चाहती हो, उस अशब्द, अस्पर्श, अज्ञात, अद्भुत राज्य में — अभिनेता का भाव सम्पूर्ण रूप से छोड़कर केवल द्रष्टा या साक्षी की तरह डूब जाने में और मेरी दुविधा नहीं है।"

इस पत्र को पढ़कर दुन्दुभी-निनाद से कर्मयोग का प्रचार करनेवाले विवेकानन्द के स्थान पर सोलह वर्ष पूर्व पागल पुजारी के पैरों तले बैठे बालक नरेन्द्रनाथ की बात ही हमारे स्मृति-पट पर आ जाती है। याद आ जाती है उस आकुल समाधि-तृष्णा की, उस तीव्र वैराग्य की प्रेरणा से जगद्धिताय कर्म में अग्रसर होने में अनिच्छा की, श्रीरामकृष्ण की स्नेहपूर्ण भर्त्सना, मौन अनुरोध, असीम अनुकम्पा की! इस महा-मानव की पवित्र जीवनकथा की आलोचना करते हुए हमें अनेक बार आचार्य, शिक्षादाता, गुरु, नेता विवेकानन्द के भीतर उसी समाधिकामी संन्यासी श्री नरेन्द्रनाथ का भलीभाँति परिचय प्राप्त हुआ है। हमने देखा है, कर्म की प्रबल प्रेरणा, विश्वव्यापी प्रसिद्धि, सम्मान व प्रतिपत्ति के बीच में भी उनका अनासक्त अन्तरपुरुष एक निरुद्विग्न प्रशान्ति में आत्मस्थ होकर रहा है। इस पत्र की वाणी उसी अन्तरपुरुष की ही वाणी है!

अप्रैल मास के मध्य में स्वामीजी के उत्साही शिष्यगण कैलिफोर्निआ में स्थान स्थान पर 'वेदान्त-समिति' व प्रचार-केन्द्रों की स्थापना करके वेदान्त-प्रचार करने लगे। लास एन्जेल्स से निमंत्रण आया, परन्तु सान्फ्रान्सिस्को तथा उसके निकटवर्ती स्थानों में प्रारम्भ किये हुए कार्य को एकाएक छोड़कर चले जाना स्वामीजी ने ठीक न समझा। अन्यतम शिष्या श्रीमती हैन्सबोरा दृढ़ उद्यम के साथ लास एन्जेल्स में नियमित रूप से वेदान्त क्लासों को चलाने लगीं। इधर सान्फ्रान्सिस्को की नवप्रतिष्ठित वेदान्त-समिति के सभापति डा० एम० एच० लोगन तथा स्वामीजी के कुछ अन्य शिष्य व

शिष्याओं ने इस बात को समझ लिया कि शायद वे शीघ्र ही किसी दूसरे स्थान को चले जायँगे, अतः इस समिति को प्रतिष्ठित रखने के लिए एक भारतीय संन्यासी आचार्य की आवश्यकता है। तदनुसार उन्होंने स्वामीजी से अनुरोध किया। स्वामीजी ने भी स्वीकार करके उसी समय स्वामी तुरीयानन्दजी को कैलिफोर्निआ आने के लिए एक पत्र लिख दिया। न्यूयार्क वेदान्त-समिति का भार तुरीयानन्दजी पर छोड़ स्वामी अभेदानन्दजी संयुक्त राज्य में स्थान स्थान पर व्याख्यान दे रहे थे। अतः उनके न लौटने तक तुरीयानन्दजी सानफ्रान्सिस्को की ओर प्रस्थान न कर सके।

स्वामीजी के कैलिफोर्निया छोड़ने के कुछ दिन पूर्व कु० मिन्नी सी० बुक नामक उनकी एक भक्तिमती शिष्या ने एक स्थायी मठ की स्थापना के उद्देश्य से १६० एकड़ के लगभग एक बड़ा भूमिखण्ड दान दिया। स्वामीजी ने आनन्द के साथ इस दान को ग्रहण किया। बाद में स्वामी तुरीयानन्दजी ने जाकर वहाँ पर एक आश्रम की स्थापना की। यद्यपि स्वामीजी के जीवित काल में ही उक्त स्थान पर 'शान्ति आश्रम' की स्थापना हुई थी, परन्तु उसे वे आगे पूर्ण रूप में देख न सके।

वसन्त ऋतु के प्रारम्भ में स्वामीजी प्रचार-कार्य से अवकाश लेकर 'कॅम्प टेलर' नामक गाँव में विश्राम के लिए गए। तीन सप्ताह बाद यद्यपि वे सान्फ्रान्सिस्को में लौट आए, परन्तु उनकी शारीरिक स्थिति को देख शिष्यों ने उनसे भाषण देने के लिए अनुरोध न किया। स्वामीजी के प्रति गम्भीर श्रद्धा रखनेवाले डा० विल्यम फॉस्टर नामक स्थानीय विख्यात चिकित्सक सदा उनकी देखभाल करने लगे। अत्यधिक शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद भी मई मास के अन्त में स्वामीजी ने श्रीमत् भगवद्गीता के सम्बन्ध में लगातार चार आकर्षक भाषण दिए। नियमित रूप से भाषण देना छोड़ देने पर भी प्रतिदिन लोगों का आना-जाना बन्द न हुआ था। बालक की तरह परिहास-प्रिय, वाक्पटु विवेकानन्द के मधुर चरित्र से आकर्षित हुए बिना रहना वास्तव

में असम्भव था। मित्रवत्सल, सरल, उदार, महाज्ञानी विवेकानन्द की चरित्र-चर्चा प्रतिदिन ही स्थानीय समाचार-पत्रों में लगातार प्रकाशित होती थी। उन सब को एकत्रित करने पर एक सुबृहत् ग्रन्थ बन जाता है। यहाँ पर केवल 'पैसिफिक वेदान्तिन्' ने स्वामीजी के सम्बन्ध में जो मन्तव्य प्रकाशित किया था उसके कुछ वाक्यों का उद्धरण मात्र ही पर्याप्त होगा।—

"स्वामीजी ने अपने गम्भीर भावों के द्वारा समग्र पृथ्वी को स्पन्दित किया है, उनके ये भाव तथा विचार प्रलय तक सदा ही प्रतिध्वनित होते रहेंगे। क्या शिशु, क्या भिक्षुक, राजा, क्रीत दास, और क्या वेश्या — सभी लोग समानाधिकार के साथ उनसे वार्तालाप कर सकते हैं। उनका कथन है, 'ये सभी लोग एक ही परिवार के अन्तर्गत हैं। मैं उन सभी में अपना 'मैंपन' देखता हूँ और अपने में भी मैं उनके स्वरूप का अनुभव करता हूँ। यह पृथ्वी एक परिवार जैसी है, युगयुगान्तरों में व्याप्त होकर सत्यस्वरूप अनन्त ब्रह्मसमुद्र ही विराजमान है।"

मई मास के अन्त में स्वामीजी को लन्दन से लिगेट दम्पति का पत्र प्राप्त हुआ कि वे जुलाई मास में पैरिस जायेंगे और उन्होंने प्रार्थना की कि स्वामीजी भी वहाँ पहुँच जायँ। इधर पैरिस-प्रदर्शनी की धर्मेतिहास-सभा के वैदेशिक प्रतिनिधियों के लिए स्वागत-समिति की ओर से स्वामीजी को उक्त सभा में भाषण देने के लिए निमंत्रण प्राप्त हुआ। इन दो कारणों से वे कैलिफोर्निआ के शिष्य व भक्तों से विदा लेकर न्यूयार्क पहुँचे। रास्ते में अवश्य ही अपने पुराने मित्र व शिष्यों से भेंट करने के लिए उन्हें शिकागो व डिट्राइट में उतरना पड़ा था।

न्यूयार्क में आकर वे 'वेदान्त-समिति' के स्थायी भवन में निवास करने लगे। भाषण देना अथवा लोक-शिक्षा इत्यादि कार्यों में उनका ज़रा भी आग्रह न देखा गया। हाँ, कभी कभी अपने पुराने मित्र, शिष्य व भक्तगणों के साथ भेंट करने की उनकी इच्छा होती थी। वेदान्त-समिति का कार्य भली-

भाँति चल रहा था। वेदान्त-समिति के सर्वप्रथम सभापति श्री० लिगेट महोदय ने कुछ अन्य कार्यों के कारण पदत्याग कर दिया था, और उनके स्थान पर कोलम्बिया कालेज के डा० हर्शेल पार्कर महोदय सर्वसम्मति से नियुक्त हुए थे। स्वामी तुरीयानन्दजी अप्रैल मास से उक्त समिति में नियमित रूप से भाषण व योग-शिक्षा देते थे। स्वामीजी भी प्रति रविवार को गीता पर भाषण देने लगे। स्वामी तुरीयानन्दजी को शीघ्र कैलीफोर्निया जाने के लिए उन्होंने अनुरोध किया।

इस बीच में भगिनी निवेदिता न्यूयार्क आ पहुँची। वेदान्त-समिति के सदस्यों के आग्रह से उन्होंने शनिवार व रविवार को तीसरे प्रहर भारतवर्ष के सम्बन्ध में नियमित रूप से कुछ भाषण दिए। १७ जून को उन्होंने 'हिन्दू स्त्री का जीवनादर्श' विषय पर एक विविध तथ्यपूर्ण भाषण दिया। उस दिन समिति का हॉल न्यूयार्क की उच्चवंशीय तथा शिक्षित स्त्रियों से भर गया था। सभी स्त्रियाँ बड़ी उत्सुकता के साथ भारतीय स्त्रियों की दैनिक जीवनप्रणाली को सुनकर आनन्दित हुई थीं। भाषण के बाद सभी की जिज्ञासा इतनी बढ़ गई थी कि उन्होंने बहुत देर तक उस विषय पर निवेदिता से अनेक प्रकार के प्रश्न किए। दूसरे रविवार को भगिनी ने 'प्राचीन भारत की शिल्पकला' विषय पर एक सारगर्भित भाषण दिया।

३ जुलाई को स्वामीजी न्यूयार्क से डिट्राइट पहुँचे। उस दिन स्वामी तुरीयानन्दजी भी गुरुभाई की इच्छा व सम्मति से कैलीफोर्निआ चले गये। स्वामीजी गुरुभाई को आश्रम की स्थापना सम्बन्धी उपदेश आदि देकर विदा देते हुए गम्भीर स्वर से बोले, "जाओ वीर, कैलिफोर्निआ में आश्रम की स्थापना करो, वेदान्त का झण्डा फहराओ। आज से भारत की चिन्ता स्मृति से मिटा दो। आदर्श जीवन व्यतीत करो, जगजननी की कृपा से सारे काम सफल होंगे।"

अन्तरंग भक्त व मित्रों में लगभग एक सप्ताह बिताकर स्वामीजी १०

जुलाई को न्यूयार्क लौट आए। अन्त में कुछ दिन विश्राम करके २० जुलाई को उन्होंने पैरिस की ओर यात्रा की।

पैरिस में पहुँचकर स्वामीजी ने लिगेट दम्पति का आतिथ्य स्वीकार किया। इस समय श्रीमती ओली बुल ब्रिटानी प्रान्त के लानिओन नामक स्थान में निवास कर रही थीं। उनके आग्रहपूर्ण आमंत्रण पर स्वामीजी थोड़े दिनों के लिए वहाँ पधारे। श्रीमती बुल के निवासस्थान पर फ्रान्स के प्रसिद्ध दार्शनिक व लेखक मॉ० जूल बोआ के साथ स्वामीजी का परिचय हुआ। इनके साथ सदा ही दर्शन, साहित्य व ऐतिहासिक गवेषणा के सम्बन्ध में चर्चा होती थी, जिससे स्वामीजी को फ्रान्सीसी भाषा सीखने का अवसर प्राप्त हुआ था।

लिगेट दम्पति अपने श्रद्धेय अतिथि की सब प्रकार की सुखसुविधाओं के प्रति लक्ष्य रखते हुए मुक्त हस्त हो अर्थ व्यय करने लगे। प्रतिदिन विख्यात दार्शनिक, साहित्यिक, चित्रकार, भास्कर (संगतराश), धर्माचार्य व वैज्ञानिकगण उनके भवन में आमंत्रित होते थे। पैरिस की विराट प्रदर्शनी व धर्मेतिहास सभा के उपलक्ष्य में अनेक पण्डितगण संसार की इस सर्वश्रेष्ठ नगरी में एकत्रित हुए थे।

स्वामीजी ने लिखा है, "कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक, समाजसेवक, गायक, गायिका, शिक्षक, शिक्षिका, चित्रकार, शिल्पकार, संगतराश, वादक आदि नाना प्रकार के व्यक्तियों का समावेश श्री० लिगेट के अतिथि-सत्कार के आकर्षण से उनके घर में होता था। उनके घर में होने वाला अविराम वार्तालाप, चारों ओर के नाना प्रकार के भावों का विकास, मनमोहक संगीत, विद्वानों की गम्भीर विचारधारा, सभी को देश-काल भुलाकर मुग्ध बना देती थी।"*

* श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित स्वामी विवेकानन्द कृत 'परिव्राजक' पुस्तक से उद्धृत।

उदारहृदय, परमत-सहिष्णु, मित्रवत्सल विवेकानन्द सभी के साथ सम-भाव से मिलते थे और पारस्परिक भाव व चिन्ताराशि के लेनदेन के साथ ही जगत् के पास जिस सन्देश को पहुँचाने के लिए श्री गुरुदेव ने उन्हें नियुक्त किया था उसका प्रचार निःसंकोच करते थे। जगत् के विभिन्न स्थानों से आए हुए प्राच्य विद्याविशारद, दार्शनिक, कवि तथा साहित्यिकों को वेदान्त के प्रभाव से थोड़ा बहुत प्रभावित देख स्वामीजी बड़े आनन्दित हुए। पिछले कुछ वर्षों से अत्यन्त साहसपूर्ण उद्यम के साथ वेदान्त-प्रचार के कार्य में उन्होंने जो आश्चर्यजनक परिश्रम किया है, उसने इस बीच में ही धीरे धीरे प्रतिभाशाली व्यक्तियों के मस्तिष्क को अभिभूत कर लिया है और अभी भी उसकी क्रिया जारी है। विवेकानन्द ने देखा, दो एक व्यक्ति यद्यपि अपनी मौलिकता को कायम रखने के लिए वेदान्त के प्रभाव को अस्वीकृत करते हैं, परन्तु अधिकांश पण्डितगण इस बात को स्वीकार करते हैं कि पाश्चात्य जगत् का आधुनिक साहित्य व दर्शन धीरे धीरे वेदान्त के भाव में अनुप्राणित हो रहा है।

शिकागो-महासभा के अनुकरण पर पैरिस प्रदर्शनी के उपलक्ष्य में एक धर्म-महासभा का अधिवेशन होने की चर्चा चली थी, परन्तु रोमन कैथलिक ईसाई सम्प्रदाय की प्रबल आपत्ति से वह न हो सका। शिकागो-महासभा में कैथलिक सम्प्रदाय बड़े ही उत्साह के साथ सम्मिलित हुआ था। उनका विश्वास व धारणा यह थी कि ईसाई धर्म जगत् के सम्मुख अपने मत की श्रेष्ठता प्रमाणित कर सकेगा। इस उद्देश्य से कैथलिक धर्म की महिमा को उच्च स्वर से संसार में घोषित करने के लिए वे सर्वधर्म-सम्मेलन में सन्नद्ध हुए थे। परन्तु ईश्वरेच्छा से परिणाम विपरीत हुआ। इसलिए अब सार्वजनीन धर्मसभा के अनुष्ठान के सम्बन्ध में वे उत्साहहीन तथा प्रतिवादी बन गए। कट्टर ईसाई मण्डली में विवेकानन्द व वेदान्त का भय इतना प्रबल हो उठा था कि धर्मसभा का प्रस्ताव उठने के साथ ही सब मिलकर सम स्वर से उसका प्रतिवाद करने लगे। फ्रान्स के अधिकांश निवासी कैथलिक सम्प्रदाय के हैं

तथा जनसाधारण पर पादरियों का प्रभुत्व साधारण नहीं है। उनकी उपेक्षा कर धर्मसभा का आयोजन करने का साहस प्रदर्शनी के अधिकारीगण न कर सके। अन्त में धर्मेतिहास-सभा बुलाने का ही निश्चय हुआ। "उक्त सभा में अध्यात्मविषयक तथा मतामत सम्बन्धी किसी चर्चा का स्थान न था। केवल विभिन्न धर्मों का इतिहास अर्थात् उनके विभिन्न अंगों के तथ्यों का अनुसन्धान ही उसका उद्देश्य था। इस विषय पर इस सभा में विभिन्न धर्मप्रचारक सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों का एकान्त अभाव था। इस सभा में कुछ ऐसे पण्डित उपस्थित थे जो विभिन्न धर्मों की उत्पत्ति के विषय में चर्चा करते हैं।"*

स्वामीजी उक्त सभा में यथोचित सम्मान के साथ ले लिए गए थे। इस उपलक्ष्य में उन्होंने जो भाषण आदि दिया तथा समालोचना आदि की थी उसका एक संक्षिप्त विवरण उन्होंने स्वयं लिखकर उद्बोधन में प्रकाशनार्थ भेज दिया था। पाठकों की जानकारी के लिए हम नीचे उसे उद्धृत करते हैं:—

"वैदिक धर्म — अग्नि, सूर्य आदि प्राकृतिक विस्मयकर जड़ वस्तुओं की आराधना से उत्पन्न हुआ है, — यह अनेक पाश्चात्य संस्कृतज्ञों की राय है।

"स्वामी विवेकानन्द इस मत का खण्डन करने के लिए पैरिस धर्मेतिहास-सभा के अधिकारियों द्वारा आमंत्रित हुए थे। और उक्त विषय पर एक निबन्ध पढ़ने का वचन उन्होंने दिया था। परन्तु शारीरिक प्रबल अस्वस्थता के कारण वे निबन्ध लिख न सके। वे किसी प्रकार से सभा में केवल उपस्थित ही हो सके थे। उनके उपस्थित होने पर यूरोप के सभी संस्कृतज्ञ पण्डितों ने उनकी सादर अभ्यर्थना की थी। उन्होंने इससे पूर्व स्वामीजी द्वारा रचित पुस्तकादि का पठन किया था।

"उस समय उक्त सभा में ओपर्ट नामक एक जर्मन विद्वान ने शालिग्राम शिला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक निबन्ध पढ़ा था जिसमें

* स्वामी विवेकानन्द कृत 'भाववार कथा' (चिन्तन योग्य बातें) पुस्तक से उद्धृत।

उन्होंने बतलाया कि शालिग्राम की उत्पत्ति योनि-चिह्न से है। उनके मतानुसार शिवलिंग पुल्लिंग का चिह्न है और इसी तरह शालिग्राम शिला स्त्रीलिंग का चिह्न है। शिवलिंग व शालिग्राम दोनों ही लिंग-योनि-पूजा के अंग हैं।

"स्वामी विवेकानन्द ने उपरोक्त दोनों मतों का खण्डन करके कहा कि शिवलिंग की नर-लिंगता के सम्बन्ध में अनेक विचारविहीन मत प्रचलित हैं। परन्तु शालिग्राम के सम्बन्ध में यह नवीन मत मैं आज ही सुन रहा हूँ। स्वामीजी ने कहा कि शिवलिंग की पूजा की उत्पत्ति अथर्ववेद संहिता के यूप-स्तम्भ के प्रसिद्ध स्तोत्र से है। उक्त स्तोत्र में अनादि अनन्त स्तम्भ अथवा स्कम्भ का वर्णन है और यही प्रतिपादित हुआ है कि उक्त स्कम्भ ही ब्रह्म है। जिस प्रकार यज्ञ की अग्नि, शिखा, धूम, भस्म, सोमलता व यज्ञकाष्ठ का वाहक वृष, महादेव की पिंगल जटा, नीलकण्ठ, अंगकान्ति व वाहन आदि में परिणत हुए हैं उसी प्रकार यूपस्कम्भ भी श्रीशंकर में लीन होकर महिमान्वित बना है। अथर्ववेद संहिता में इसी प्रकार से यज्ञोच्छिष्ट की भी ब्रह्मत्व-महिमा प्रतिपादित हुई है।

"लिंगादि पुराण में उक्त स्तव के ही वार्तालाप के सिलसिले में महास्तम्भ की महिमा तथा महादेव की प्रधानता की व्याख्या की गई है।"

* * * *

"बौद्धस्तूप का दूसरा नाम है धातुगर्भ। स्तूप के बीचवाले शिलाकरण्ड में प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुकों की भस्मादि रखी जाती थी। उसके साथ सोना आदि धातु भी गाड़ दिए जाते थे। शालिग्राम शिला उक्त अस्थि, भस्म आदि रखने की शिला का प्राकृतिक प्रतिरूप है। अतः वह पहले बौद्धों द्वारा पूजित होकर बौद्ध धर्म के दूसरे अंगों की तरह वैष्णव सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गई है। तथापि नर्मदा के तट पर तथा नेपाल में बौद्धों की प्रबलता दीर्घस्थायी हुई थी। यह भी विचारणीय है कि प्राकृतिक नर्मदेश्वर शिवलिंग तथा नेपाल के शालिग्राम का ही विशेष आदर होता है।

"शालिग्राम के सम्बन्ध में यौन व्याख्या पहले कभी नहीं सुनी गई थी और प्रारम्भ से ही अप्रासंगिक है। शिवलिंग के सम्बन्ध में यौन व्याख्या भारतवर्ष में बहुत ही अर्वाचीन काल से प्रचलित है और उक्त बौद्ध सम्प्रदाय की घोर अवनति के समय की गई है। उस समय के घोर बौद्ध तंत्र अभी भी नेपाल व तिब्बत में विशेष प्रचलित हैं।"*

दूसरे भाषण में स्वामीजी ने भारतीय धर्ममत के विस्तार के विषय में हिन्दू व बौद्ध धर्म के प्राचीन ऐतिहासिक तत्वों की चर्चा की। विशेष रूप से भारतीय सभ्यता, साहित्य दर्शन, ज्योतिष आदि पर ग्रीक प्रभाव के विषय में जो कुछ कहा जाता है, इसका उन्होंने प्रतिवाद किया। कुछ विद्वानों ने कहा था कि भारतीय सभ्यता पर ग्रीस देशनिवासियों का विशेष प्रभाव है। उनके प्रति लक्ष्य करके स्वामीजी ने उपसंहार में कहा था कि वे धीर भाव से प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन करें, तो समझ जायँगे कि उसमें ग्रीक प्रभाव की छाया तक का अंश नहीं है, बल्कि अनेकांश में यह बात सत्य है कि ग्रीसनिवासियों ने ही हिन्दुओं से अनेक विषयों की शिक्षा प्राप्त की थी।

हमने इसके पहले बताया है कि पैरिस-प्रदर्शनी के उपलक्ष्य में आये हुए अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों के साथ स्वामीजी का परिचय हुआ था। इनमें से जो सज्जन स्वामीजी के विशेष मित्रों में गिने जाते थे उनमें से मॉ० जुल बोआ, एडिनबरा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पैट्रिक गेडिस, विख्यात कैथलिक पादरी पेअर-या-स्यँन्थ, विख्यात तोपनिर्माता मि० हिरम मैक्सिम, यूरोप की सर्वश्रेष्ठ गायिका मैडम कैल्वे, सुप्रसिद्ध तथा सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री सारा बर्नहर्ड, प्रिन्सेस डेमिडफ तथा उनके स्वदेशवासी वैज्ञानिक डा० सर जगदीश-चन्द्र बोस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डा० बोस के सम्बन्ध में स्वामीजी ने अपनी 'परिव्राजक' नामक पुस्तक में गर्व के साथ लिखा है, "आज २३ अक्टूबर है और कल सायंकाल पैरिस से विदा। इस वर्ष यह

* 'भावबार कथा' (चिन्तन योग्य बातें) पुस्तक से उद्धृत

पैरिस सभ्य जगत् का एक केन्द्र है,—इस वर्ष महा प्रदर्शनी हुई। अनेक देशों से आए हुए सज्जनों का संगम हुआ। आज इस पैरिस में देशदेशान्तरों के मनीषियों ने अपनी अपनी प्रतिभा प्रकट कर स्वदेश की महिमा का विस्तार किया है। महा केन्द्र की भेरी-ध्वनि आज जिनके नाम का उच्चारण करेगी, वह नाद-तरंग साथ ही साथ उनके स्वदेश को भी गौरवान्वित करेगी। और मेरी जन्मभूमि—इस जर्मन, फ्रान्सीसी, अंग्रेज, इटैलिअन आदि विद्वद् मण्डली द्वारा शोभित महा राजधानी में तुम कहाँ हो बंगभूमि? कौन तुम्हारा नाम लेता है? कौन तुम्हारे अस्तित्व की घोषणा करता है? इन अनेक गौर-वर्ण विद्वद् मण्डली के बीच में से जिस एक मात्र युवा यशस्वी वीर ने बंगभूमि की,—हमारी मातृभूमि की घोषणा की है,—वह वीर है विश्वविख्यात वैज्ञानिक डा० जगदीशचन्द्र बोस। अकेले इस युवक बंगाली वैद्युतिक ने आज बिजली के वेग से पाश्चात्य मण्डली को अपनी प्रतिभा की महिमा से मुग्ध कर दिया है—बिजली के इस संचालन से मातृभूमि के मृतप्राय शरीर में नव-जीवन तरंग का सञ्चार हुआ है। सभी वैद्युतिक मण्डली के आज शिरोमणि हैं जगदीश बोस—भारतवासी! बंगवासी! धन्य वीर! श्रीमान बोस तथा उनकी सती साध्वी सर्वगुणसम्पन्ना धर्मपत्नी जिस देश में जाते हैं, वहीं भारत के मुख को उज्ज्वल करते हैं, बंगाल के गौरव को बढ़ाते हैं। धन्य है यह दम्पति।"

लगभग तीन मास पैरिस में बिताकर स्वामीजी २४ अक्टूबर की रात को अपने साथियों के साथ विएना की ओर रवाना हुये। विएना नगरी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक देखने योग्य स्थानों का दर्शन कर हंगेरी, सर्विया, रुमा-निया, बल्गेरिया होकर उन्होंने कन्स्टैन्टिनोपल में प्रवेश किया। कन्स्टैन्टिनो-पल नगर को बहुत कुछ प्राच्य भावापन्न देख स्वामीजी प्रसन्न हुए और दूसरे ही दिन अपनी शिष्या कु० मैक्लिऑड के साथ नगर देखने को गए। तोप-निर्माता मैक्सिम साहब के दिए हुए परिचय-पत्र की सहायता से स्वामीजी का

स्थानीय अनेक विख्यात व्यक्तियों के साथ परिचय हुआ। स्वामीजी के साथी अन्यतम प्रसिद्ध वक्ता पादरी लयसन को वहाँ भाषण देने का अधिकार प्राप्त न हुआ। स्वामीजी को भी कन्स्टेंन्टिनोपल में प्रकाश्य रूप से भाषण देने का अधिकार न मिला। कुछ स्वल्पसंख्यक उच्चशिक्षित मान्य व्यक्तियों ने अपने बैठकघर में स्वामीजी के लिए प्रश्नोत्तर-सभा का आयोजन किया था और विशेष आग्रह से उन्होंने वेदान्त-चर्चा में भाग लिया। इस प्रकार कुछ दिन आनन्दपूर्वक बिताकर स्वामीजी प्राचीन ग्रीक सभ्यता की समाधिभूमि एथेन्स में पधारे। एथेन्स नगरी का परिदर्शन कर उन्होंने अपने स्त्री तथा पुरुष साथियों के साथ मिश्र देश की ओर यात्रा की। कैरो शहर में पहुँचकर स्वामीजी म्युजियम में रखी हुई प्राचीन सामग्रियों को उत्सुकता से देखने लगे और अपने साथियों को मिश्र के अतीत इतिहास से अद्भुतकर्मा फेरो राजवंश का विवरण सुनाने लगे। पैरामिड, स्फिन्क्स आदि को देखकर उनके सम्बन्ध में विशेष बातें स्वामीजी अपने साथियों को सुनाने लगे। साथियों को यह देखकर बड़ा विस्मय हुआ कि स्वामीजी प्राचीन मिश्र के सम्बन्ध में इतनी अधिक बातें जानते हैं कि मानो वे समग्र जीवन भर मिश्र के प्राचीन तत्वों की ही चर्चा करते रहे हों।

पैरिस, विएना, कन्स्टैन्टिनोपल, एथेन्स, कैरो आदि नगरों के ऐश्वर्य, सौन्दर्य, विलास आदि को देखकर मानो स्वामीजी मन ही मन विरक्त हो उठे थे। पार्थिव सम्पद् से गर्वित पाश्चात्य राष्ट्रों का उद्धत अहंकार उनके चित्त को सदैव ही पीड़ित करता रहता था। इन्द्रिय-सुख को ही अपना एक मात्र लक्ष्य माननेवाले बहिर्मुख राष्ट्रों की नई नई भोग्य वस्तुओं के आवि-ष्कार के लिए सदा आप्राण चेष्टा तथा उसे प्राप्त करने की कामना से पग पग पर न्याय, नीति व धर्म को लापरवाही के साथ पैरों तले कुचलना — यही यूरोप की नित्य नैमित्तिक घटना है। निर्लिप्त संन्यासी, द्रष्टा अथवा साक्षी की तरह सर्वत्र विचरण करते थे। मिश्र में पहुँचने के बाद ही भारत में लौटने के

लिए उनका मन अत्यन्त व्याकुल हो उठा। इस बीच में समाचार आया, मायावती मठ के संस्थापक श्री० सेविअर परलोक सिधार गए हैं। इस मर्मान्तिक समाचार को पाते ही स्वामीजी ने भारत में लौट आने का निश्चय कर लिया।

माँ० बोआ, मैडम कैल्वे, कु० मैक्लिओड दुःखित अन्तःकरण से स्वामीजी को विदा देने के लिए बाध्य हुए। जहाज़ पर से भारत की तटभूमि देखते ही स्वामीजी के आनन्द की सीमा न रही। बम्बई बन्दरगाह में उतरकर वे कलकत्ते की ओर चले। इस बार अभिनन्दन, भाषण, लोकशिक्षा, प्रचारकार्य इत्यादि की ओर उनकी ज़रा भी इच्छा न थी और इसीलिए अत्यन्त गुप्त रूप से वे गाड़ी पर चढ़े।

स्वामीजी के पूर्वयूरोप-भ्रमण की अन्यतम संगिनी, यूरोप की विश्व-विख्यात गायिका मैडम कैल्वे का थोड़े दिन हुए देहान्त हो गया है। उनका आत्मजीवनचरित्र न्यूयार्क की 'सैटर्डे इविनिंग पोस्ट' नामक प्रसिद्ध पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होकर अन्त में पुस्तकाकार में मुद्रित हुआ है। उसमें से हम स्वामी विवेकानन्द सम्बन्धा अंश का अनुवाद नीचे दे रहे हैं—

"यह मेरे परम आनन्द व सौभाग्य की बात है कि मैंने एक ईश्वर को जाननेवाले व्यक्ति के साथ परिचित होने का गौरव प्राप्त किया था। वे उन्नत व उदार साधु पुरुष दार्शनिक तथा एक विश्वस्त मित्र हैं। मेरे धर्म-जीवन पर उनका प्रभाव बहुत ही गम्भीर है, उन्होंने मुझे एक नवीन भाव-राज्य का पता दिया है। मेरे जीवन की धर्म-सम्बन्धी धारणा व आदर्श को उन्होंने नवीन प्रेरणा द्वारा संजीवित किया है तथा सत्य को उपलब्धि करने के एक महान् उपाय का सन्धान दिया है। मेरी आत्मा सदैव के लिए उनके निकट अनन्त कृतज्ञता के बन्धन से आबद्ध है। यह असाधारण पुरुष एक वेदान्तवादी संन्यासी हैं। सर्वसाधारण में वे स्वामी विवेकानन्द नाम से परिचित हैं। धर्मप्रचारक के रूप में अमेरिका देश में उनका यश सुप्रतिष्ठित है।

जिस वर्ष उन्होंने शिकागो में भाषण दिया था उस समय मैं वहीं थीं और कई कारणों से मानसिक अवसाद-ग्रस्त तथा दुर्बल हो पड़ी थी। मैंने स्वामीजी के साथ साक्षात्कार करने का संकल्प कर लिया। मन में आकांक्षा हुई, एक बार देख आऊँ कि किस शक्ति के बल पर उन्होंने मेरे कुछ मित्रों के हृदय में शान्ति प्रदान की है।

"साक्षात्कार का समय निश्चय कर लिया गया। नियत समय पर मैं उनके निवास-स्थान पर पहुँच गई। उसी समय मुझे उनके पठनागार में ले जाया गया। जाने से पूर्व मुझसे कहा गया, 'स्वामीजी द्वारा जिज्ञसित न होने तक मैं कुछ न कहूँ। अतः मैं कक्ष में जाकर चुपचाप खड़ी हो गई। वे फर्श पर भारतीय प्रथा से बैठे थे, उनका उज्ज्वल गैरिक वस्त्र भूमि पर लोट रहा था। मस्तक की गैरिक पगड़ी सामने की ओर थोड़ी झुक गई थी। वे आँखें नीचे किए स्थिर बैठे थे। थोड़ी देर बाद मेरी ओर बिना देखे ही वे कह उठे, 'वत्से! तुम्हारा मन बहुत ही उत्कण्ठित व चंचल है। शान्त हो! सबसे पहले मानसिक प्रशान्ति आवश्यक है।'

"उसके बाद शान्त गम्भीर स्वर में उदास भाव से वे (जो मेरा नाम तक न जानते थे) मेरे जीवन के ऐसे सभी गुप्त अभिप्राय तथा मेरी अशान्ति के कारणों को सहज भाव से बताने लगे जिसके बारे में मेरे अन्तरंग मित्रगण तक कुछ न जानते थे। मुझे यह एक रहस्यपूर्ण अस्वाभाविक घटना प्रतीत हुई। मैं बोल उठी, 'आपको इन बातों का कैसे पता चला? मेरे विषय में आपसे किसने कहा?'

"करुणापूर्ण हँसी के साथ उन्होंने मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखा, मानो मैं एक सरल, अज्ञ शिशु की तरह प्रश्न पूछ रही थी। बाद में धीर भाव से बोले, 'तुम्हारे विषय में किसी ने भी मुझसे कुछ नहीं कहा। क्या किसी से सुनना ही चाहिए, ऐसी बात तो नहीं है। मैंने तुम्हारे हृदय का पुस्तक की तरह पाठ किया है।'

"विदा लेते समय वे खड़े होते होते बोले, 'तुम पिछली बातें भूलने की चेष्टा करो। विमर्श भाव को दूर कर चित्त को सदा प्रसन्न रखो। सब प्रकार से यत्न करके स्वास्थ्य की रक्षा करो। नीरव रहकर अपने दुःख के कारणों को अपने हृदय में छिपाए न रखो। अपने रोके हुए भावों के आवेग को दूसरे पथ से बाहर निकाल दो। धर्मजीवन की स्वाभाविक स्वच्छन्दता के लिए यही सब से पहले आवश्यक है। तुम संगीत-कला में निपुण हो, संगीत के लिए भी इसकी आवश्यकता है।

"मैं उनके वाक्य तथा प्रखर व्यक्तित्व के असाधारण प्रभाव से अभिभूत होकर लौट आई। मैंने अनुभव किया, जो जटिल समस्याएँ अस्वाभाविक उत्तेजना द्वारा मेरे मस्तिष्क को क्लान्त व पीड़ित कर रही थीं वे अदृश्य हो गई हैं और उनके स्थान पर स्वामीजी के सरल, शान्त भावों का प्रभाव विद्यमान था।

"मैं फिर से नवीन भाव में संजीवित व हर्षोत्फुल्ल हो उठी। यह उन्हीं की असीम इच्छा-शक्ति का परिणाम था। उन्होंने तथाकथित संमोहिनी विद्या अथवा तदनुरूप किसी प्रक्रिया का मुझ पर प्रयोग नहीं किया था। यह उनका सुदृढ़ चरित्र-बल तथा पवित्र व अदम्य सत्संकल्प था, जिसने मेरे हृदय में विश्वास व श्रद्धा का संचार किया था। बाद में उनके साथ घनिष्ठ परिचय होने पर मैंने देखा, वे सहज ही में उत्तेजित तथा चिन्ताकुल भाव को दूर कर श्रोता को शान्त कर देते थे, जिससे कि उनकी बातों को वह एकाग्र चित्त होकर सुन सके तथा उन्हें धारण कर सके।

"स्वामीजी हमारे प्रश्नों के उत्तर में छोटी छोटी कहानियों, कविताओं आदि की सहायता से अपने वक्तव्य विषय को हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी तथा साथ ही सरल बना देते थे। हम एक दिन मुक्ति व व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चर्चा कर रहे थे। वे अपने धर्ममत के पुनर्जन्मवाद नामक एक विशेष मत की व्याख्या करके उसे समझा रहे थे, इतने में ही मैं सहसा बोल उठी, 'नहीं,

यह मैं नहीं सोच सकती। मेरा 'मैं पन' मुझे चाहिए। एक अनन्त के बीच में चिर विलय-प्राप्ति की प्रार्थना मैं नहीं करती। उसका विचार तक मुझे डरा देता है।'

"स्वामीजी ने उत्तर दिया, एक दिन जल का एक बूँद समुद्र में पड़कर तुम्हारी ही तरह रोने लगा और ठीक तुम्हारी ही तरह अपने स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए सोचकर व्याकुल होने लगा। महासमुद्र उसकी ओर देखता हुआ बोला, 'तुम रोते क्यों हो? मुझे तो इसका कारण ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल रहा है। मेरे साथ सम्मिलित होकर तुम अपने भाई-बहिनों के साथ मिल गए हो — मैं तो इन्हीं की समष्टि हूँ। अब तो तुम स्वयं ही समुद्र हो। यदि तुम मुझसे स्वतंत्र होना चाहते हो तो तुम्हें सूर्य-किरणों की सहायता से ऊपर उठकर बादल का सहारा लेना पड़ेगा। वहाँ से तुम कल्याणप्रद आशीर्वाद के रूप में पृथ्वी की प्यासी छाती पर उतर आ सकते हो।'

"स्वामीजी के कुछ शिष्य व मित्रों के साथ उन्हें लेकर हम टर्की, ग्रीस व मिश्र देश में भ्रमण करने गए थे। हमारे साथ फादर हयसिन्थ लयसन्, उनकी धर्मपत्नी तथा स्वामीजी की अनुरागिनी व शिष्या शिकागो की कु० मेक्लिऔड थी। यह बहुत ही मधुर स्वभाववाली तथा अदम्य उत्साही थी और मैं थी इस दल की गायिका पक्षिणी! क्या ही सुन्दर थी यह तीर्थयात्रा! विज्ञान, दर्शन, इतिहास — मानो स्वामीजी को कुछ भी अज्ञात नहीं है। मैं सदा तल्लीन होकर उनकी ज्ञानपूर्ण वचनावली सुना करती थी। परन्तु उनके तर्क में सम्मिलित न होती थी। केवल गाना गाते समय मैं सदा उपस्थित रहती थी। स्वामीजी धार्मिक तथा विद्वान फादर लयसन् के साथ अनेक विषयों की चर्चा करते थे। ईसाई धर्म के इतिहास पर तर्क करते समय स्वामीजी ने एक प्राचीन उद्धरण को ज्यों का-त्यों कण्ठस्थ कह सुनाया और एक ऐसे चर्च कौन्सिल की तिथि बता दी, जिसके सम्बन्ध में फादर लयसन् भी निश्चित रूप से बोल न सके थे।

"हमने ग्रीस में युलिसिस देखा। स्वामीजी ने इसके रहस्य की व्याख्या की, हमें वेदी व मन्दिरों को दिखाया, किस स्थान पर क्या होता था समझा दिया, पुरोहितों की उपासना तथा पूजा की विशेष प्रणाली की व्याख्या की तथा प्राचीन मंत्र व कहानियों को कह सुनाया।

"दूसरे एक दिन मिश्र देश में,— एक चिरस्मरणीय रात में वे हमें सुदूर अतीत में ले गए, स्फिन्क्स की छाया में बैठकर रहस्यपूर्ण भाषा में कितने ही इतिहास बताने लगे।

"स्वामीजी सदा ही हमारी जिज्ञासा को जाग्रत रखते थे। यहाँ तक कि, जब वे सहज भाव से वार्तालाप करते थे उस समय भी वे अच्छे लगते थे। उनके कण्ठस्वर में मोहिनी-शक्ति थी जो श्रोताओं को मंत्रमुग्ध बना देती थी। स्टेशन के विश्राम गृह में स्वामीजी को घेरकर बैठे हुए अपूर्व उपदेशों का श्रवण करते करते कितने ही बार हमारी गाड़ी छूट गई। इसका लेखा-जोखा नहीं है — यहाँ तक कि, दल में सब से धीर स्थिर कु० मैक्लिओड तक आत्मविभोर हो जाती थीं। प्रायः वे ही नियत समय पर हमें सतर्क कर देती थीं और हमें वही आशा भी रहती थी परन्तु वे भी कभी कभी भूल जाती थीं और फल यह होता था कि हमें उस अपरिचित स्थान में पड़े रह-कर नाना प्रकार की असुविधाएँ भोगनी पड़ती थीं।

"एक दिन हम कैरो में रास्ता भूल गए। सम्भव है उस दिन विशेष रूप से आत्मविभोर होकर हम वार्तालाप कर रहे थे। एक मैली दुर्गन्धपूर्ण गली में प्रवेश कर देखा, कुछ अर्ध नग्न औरतें खिड़की में से झाँक रही हैं और कोई कोई दरवाजे पर खड़ी हैं। स्वामीजी ने पहले कुछ भी ध्यान नहीं दिया। एक टूटे महल के सामने बेंच पर बैठी कुछ औरतों ने उच्च हास्य के साथ उन्हें बुलाया और उसी समय उन पर स्वामीजी की दृष्टि पड़ी। हमारे दल की एक महिला शीघ्रातिशीघ्र उस स्थान को छोड़ जाने के लिए उद्यत हुई। स्वामीजी सहसा आगे बढ़कर उन स्त्रियों के सामने चले गए।

" स्वामीजी बोले, ' हा: ! अभागिनी सन्तानो ! ये बेचारी अपने रूप की उपासना में ईश्वर को भूल गई हैं। अहा ! इनकी ओर ज़रा देखो तो सही !' पतित नारी के सम्मुख खड़े ईसा मसीह की ही तरह, स्वामीजी की आँखों से आँसू झरने लगे। वे स्त्रियाँ निर्वाक् तथा लज्जित होकर एक दूसरे की ओर ताकने लगीं। एक नारी अग्रसर होकर उनके वस्त्राग्र भाग को चूमती हुई गद्‌गद कण्ठ से स्पेनिश भाषा में बोलने लगी, ' Hombre de Dios—Hombre de Dios— (ईश्वर को जानने वाला व्यक्ति)।' एक दूसरी नारी ने विस्मय तथा संभ्रम के साथ अपने दोनों हाथों से मुँह को छिपा लिया मानो उसकी संकुचित आत्मा स्वामीजी की पवित्र दृष्टि को सह न सकती थी।

" इस अपूर्व भ्रमण में ही स्वामीजी के साथ मेरा अन्तिम साक्षात्कार हुआ। थोड़े ही दिनों के बाद उन्होंने स्वदेश में लौटने की इच्छा प्रकट की। अपने महाप्रस्थान का समय निकट जान उन्होंने अपने स्वदेशी शिष्य व गुरु-भाइयों से मिलना चाहा।

" एक वर्ष के बाद हमने सुना, वे एक अपूर्व जीवन-लीला की रचना कर उसके पन्ने पन्ने की प्रत्येक पंक्ति में अमर कहानी लिखकर इस लोक से विदा हो गए हैं। उन्होंने हिन्दू योगशास्त्रोक्त समाधि द्वारा देहत्याग किया है तथा देहत्याग के पूर्व ही निर्दिष्ट दिन बता दिया था।

" कुछ वर्षों के बाद जब मैं भारतवर्ष गई तो मेरी इच्छा हुई कि जिस मठ में स्वामीजी ने अपने अन्तिम कुछ दिनों को व्यतीत किया है उसे एक बार देख आऊँ। मैं स्वामीजी की माताजी के साथ वहाँ पर गई थी। स्वामीजी की अमेरिकन मित्र (जो स्वामीजी से सन्तान जैसा स्नेह करती थी और जिन्हें स्वामीजी ' माँ ' कहकर पुकारते थे) श्रीमती लिगेट ने उनकी चिताशय्या पर जिस संगमर्मर की समाधि का निर्माण करवा दिया था उसका मैंने दर्शन किया। मैंने देखा कि समाधि पर स्वामीजी का कोई नाम खुद-वाया नहीं गया है। स्वामीजी के एक संन्यासी भाई से मैंने इसका कारण

पूछा। उन्होंने विस्मित होकर मेरी ओर देखते हुए सम्भ्रम को जाग्रत करनेवाले मनोरम इशारे के साथ कहा (वह आज तक मेरी स्मृति में जाग्रत है)—'वे इहलोक छोड़ गए हैं।' (सम्भव है कि संन्यासी के कहने का मतलब यही था कि स्वामीजी इस समय नामरूप से परे हो गए हैं।)

"वेदान्त में ही हिन्दू धर्म का समस्त सार मौलिक आकार में विद्यमान है। वैदान्तिकों का कोई विशेष मन्दिर नहीं है, वे साधारण गृह में भी उपासना कर सकते हैं। वहाँ पर धर्मभाव को जगाने वाले किसी चित्र या दूसरी चीज़ की आवश्यकता नहीं है। वे केवल उस अव्यक्त अनिर्वचनीय परब्रह्म की उपासना किया करते हैं।

"स्वामीजी ने मुझे प्राणायाम करना सिखाया था। उन्होंने कहा था कि ईश्वरीय शक्ति समग्र विश्व में ओतप्रोत रूप से विद्यमान है। उसमें से तेज व वीर्य का संग्रह करना होगा।

"बेलुड़ मठ के संन्यासियों ने बिना किसी आडम्बर तथा सरल भाव से हमें अतिथि-सत्कार द्वारा प्रसन्न किया था। उन्होंने वृक्षों के नीचे मेज पर वस्त्र बिछाकर हमें खाने के लिए फलमूल दिए थे तथा पुष्पगुच्छों का उपहार दिया था। हमारे सामने निर्मलसलिला भागीरथी बह रही थी, संन्यासीगण मेरे अपरिचित यंत्र के साथ अभिनव स्वर में संगीत गा रहे थे। यद्यपि मैं उसकी भाषा समझ न सकी थी फिर भी उस संगीत ने मेरे हृदय को स्पर्श किया था। एक युवक कवि ने करुण स्वर में स्वामीजी के परलोक-गमन के उपलक्ष्य में एक कविता पढ़ी थी। उस दिन का तीसरा प्रहर मैंने शान्त गम्भीर भाव से एक अपूर्व शान्ति में बिताया था।

"उन सब शान्त धीर प्रकृतिवाले संन्यासियों के साथ मैंने जो कुछ घण्टे बिताए थे उन्हें इस दीर्घ काल के बाद भी मैं भूली नहीं। मानो वे सभी लोग इस जगत् के नहीं हैं, वे एक उच्चतर ज्ञान-राज्य में निवास कर रहे हैं।"

१९०० ई० के ९ दिसम्बर की रात को स्वामीजी अप्रत्याशित रूप

से बेलुड़ मठ में उपस्थित हुए। उस समय रात हो गई थी — मठ के संन्यासी तथा ब्रह्मचारीगण भोजन के लिए बैठे थे, उसी समय बगीचे के माली ने दौड़ते हुए आकर समाचार दिया कि एक साहब आए हैं, फाटक खोलने के लिए चाभी चाहिए। फाटक खोलकर देखा गया, गाड़ी खाली है, साहब उसमें नहीं है। इधर साहब माथे की टोपी को ज़रा खींचकर भोजनालय के सामने आकर खड़े थे — स्वामी प्रेमानन्दजी ने हाथ में दिया लेकर देखा, साहब और कोई नहीं — उन्हीं के प्रियतम श्री विवेकानन्द हैं। स्वामीजी ने बालक की तरह उच्च हास्य करते हुए कहा, "बाहर से खाने की घण्टी सुनकर सोचा कि यदि जल्दी न जाऊँ तो रात को फिर भोजन न मिलेगा। इसी लिए दीवार फाँदकर आ गया। बहुत भूख लगी है, मुझे कुछ खाने के लिए दो।" स्वामीजी की बात सुनकर तथा उन्हें पाकर श्रीरामकृष्ण-शिष्यों में एक प्रीतिपूर्ण आनन्द का स्रोत बहने लगा। स्वामीजी आग्रह व आनन्द के साथ अनेक दिनों के बाद खिचड़ी खाते खाते अनेक प्रकार का वार्तालाप करने लगे। उस दिन रात में मठ में जिस आनन्द — जिस उत्साह से सभी के चित्त नृत्य करने लगे थे, वह अवर्णनीय है।

बेलुड़ मठ पहुँचकर ही स्वामीजी मायावती जाने की तैयारी करने लगे। मायावती मठ के अध्यक्ष श्री० सेविअर के अभाव में आश्रम का कार्य कैसा चल रहा है, यह देखना तथा श्रीमती सेविअर को सान्त्वना देना ही स्वामीजी का उद्देश्य था। तदनुसार वे २७ दिसम्बर को कलकत्ते से मायावती की ओर चले। काठगोदाम से मायावती के पथ पर भयंकर ओले तथा बरफ गिरने के कारण स्वामीजी को बहुत ही कष्ट हुआ! एक तो अस्वस्थ देह, उस पर पथ-श्रम की क्लान्ति — शिष्यगण विशेष यत्न के साथ स्वामीजी की सेवा करने लगे। स्वामीजी ने एक दिन वार्तालाप के प्रसंग में श्रीमती सेविअर से कहा, "वास्तव में मेरा स्वास्थ्य अब टूट गया है, परन्तु मेरा मस्तिष्क अभी भी पहले जैसा सबल व कार्यक्षम है।"

एक दिन स्वामीजी ने शिष्य स्वामी स्वरूपानन्द को बुलाकर आश्रम प्रचार-कार्य तथा 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के संचालक के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के उपदेश दिए। स्वामी स्वरूपानन्द ने श्रीगुरुदेव के आशीर्वाद से इस बीच में ही आशातीत सफलता प्राप्त कर ली थी। गुरुदेव का अभिप्राय समझकर स्वरूपानन्दजी ने परहित के लिए कार्य को ही सर्वश्रेष्ठ साधना मानकर कर्मप्रवाह में अपने को बहा दिया था। स्वामीजी यह समझकर कि अस्वस्थ शरीर लेकर प्रचार-कार्य के निमित्त इधर उधर घूमना अब उनके लिए सम्भव न हो सकेगा, वे अपने प्रत्येक शिष्य को बड़े उत्साह के साथ 'सेवाव्रत' तथा कर्मयोग के प्रचार के सम्बन्ध में उपदेश देने लगे। हिमालय पर स्थित उस सुनसान मठ का उद्वेगविहीन जीवन स्वामीजी को बहुत ही शान्तिपूर्ण लगने लगा। एक दिन शिष्यों के साथ भ्रमण करते करते वे बोले—

"अन्य सब प्रकार के कर्मों को छोड़ मैं अपने जीवन के शेष दिनों को इसी मठ में व्यतीत करूँगा, निश्चिन्त तथा स्थिर होकर अध्ययन करूँगा और पुस्तक आदि लिखूँगा, बालक की तरह आनन्द से ह्रद के तट पर घूमता फिरूँगा!" पर हा! शान्ति व विश्राम के इच्छुक संन्यासी! भगवान के विशेष कर्मी हो तुम,— तुम्हारे विश्राम का स्थान तो धरती की धूलिमय गोद नहीं है — जगन्माता की स्नेहशीतल गोदी पहले से ही तुम्हारे विश्राम के एक मात्र स्थान के रूप में निर्दिष्ट हो चुकी है। यहाँ तुम्हें अवसर कहाँ?

आश्रम के कुछ संन्यासियों ने मिलकर एक कमरे में श्रीरामकृष्ण की मूर्ति की स्थापना की थी — वहाँ पर रोज पूजा, भोग, भजन आदि होता था। सहसा एक दिन उस पर स्वामीजी की दृष्टि पड़ी। इस बाह्य पूजा को देख उन्होंने भलाबुरा कुछ न कहा, परन्तु सायंकाल जब अग्निकुण्ड के सम्मुख सब लोग एकत्रित हुए तो उस समय वे ओजस्वी भाषा में बाह्य पूजा की असारता प्रमाणित करने लगे। उन्होंने बहुत दिन पहले ही अपना यह उद्देश्य व्यक्त किया था कि अद्वैत आश्रम में किसी प्रकार की बाह्य पूजा का अनुष्ठान न रहे।

परन्तु आज इसके विपरीत भाव को देखकर स्वामीजी कुछ क्षुब्ध हुए। उन्होंने अद्वैत आश्रम में बाह्य पूजा की अनावश्यकता के सम्बन्ध में तीव्र भाषा में बहुत कुछ तो कहा, परन्तु सहसा ठाकुर-घर को उठा देने का निर्देश न दिया। अधिकार का प्रयोग करना अथवा किसी के मन पर आघात करना उन्होंने उचित न समझा। स्वामीजी के मन में यही इच्छा थी कि जिन्होंने श्रीरामकृष्ण देव की स्थापना की है वे अपनी भूल समझकर उसका संशोधन कर लेंगे। स्वामी स्वरूपानन्द तथा श्रीमती सेविअर ने स्वामीजी के उद्देश्य को भलीभाँति समझकर अद्वैत आश्रम के नियमानुसार श्रीरामकृष्ण देव की पूजा बन्द कर दी। जो लोग द्वैत भाव से साकार उपासना करना चाहते हैं, उनके लिए अद्वैताश्रम योग्य स्थान नहीं है—इस सत्य की उपलब्धि कर इसमें किसी ने किसी प्रकार की आपत्ति प्रकट नहीं की। परन्तु एक व्यक्ति का इसमें फिर भी कुछ सन्देह रह गया। उन्होंने अवसर के अनुसार परमाराध्या श्री माताजी के पास इस घटना का वर्णन कर उनकी राय जानने की इच्छा प्रकट की। श्री माताजी ने उत्तर दिया, "श्री गुरुदेव अद्वैतवादी थे, और उन्होंने अद्वैत साधना का प्रचार किया है। उनके शिष्य होकर तुम अद्वैत साधना के विरुद्ध क्यों खड़े होगे? उनका प्रत्येक शिष्य ही अद्वैतवादी है।" श्री माताजी की यह मीमांसा सुन उनके सभी सन्देह दूर हो गए। बेलुड़ मठ में लौटकर स्वामीजी ने इस घटना के प्रसंग में कहा था, "मेरी इच्छा थी कि कम से कम हमारा एक ऐसा मठ रहेगा जिसमें किसी प्रकार की बाह्य पूजा तथा श्रीरामकृष्ण की मूर्ति आदि न होगी। परन्तु मायावती में जाकर देखा कि वह वृद्ध वहाँ पर भी आसन जमाकर बैठे हैं, अच्छा, अच्छा!"

मनुष्य के सच्चे महत्व का विचार करना हो तो उसके बड़े बड़े कार्यों को न देख छोटे छोटे कार्यों की ही जाँच करनी चाहिए। स्वामीजी के मायावती में रहते समय लगभग प्रत्येक दिन ही इस प्रकार की घटना होती थी जिससे उनके हृदय की असली सरलता, गम्भीर मानव-प्रीति तथा शिष्यों के

प्रति असीम स्नेह का परिचय होता था। एक दिन मध्याह्न भोजन में विलम्ब देखकर स्वामीजी कुछ विरक्त हो उठे और कुछ अधीर से होकर सभी को डाँटने लगे। अन्त में स्वामी विरजानन्द को डाँटने के लिए स्वयं रसोईघर की ओर चल पड़े। इधर स्वामी विरजानन्द बड़े परिश्रम से चेष्टा कर रहे थे, भीगी लकड़ी अच्छी तरह जल नहीं रही थी—सारा रसोईघर धुएँ से भर गया था। स्वामीजी विरजानन्द की स्थिति को देखकर वे और अधिक न बोले,—चुपचाप अपने कमरे में लौट आए। काफी देर बाद जब उनके पास भोज्य सामग्री लाई गई तो वे बालक की तरह अभिमान के साथ बोले, "यह सब यहाँ से ले जाओ, मैं नहीं खाऊँगा।" गुरुदेव के स्वभाव को शिष्यगण जानते थे। वे स्वामीजी के सम्मुख भोजन-पात्र को रख चुपचाप प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी देर बाद स्वामीजी अभिमानी बालक की तरह मुँह बनाकर धीरे धीरे बैठकर भोजन करने लगे। खाद्य सामग्री मुँह में रखते ही उनके चेहरे पर से क्रोध का गम्भीर भाव दूर हो गया। थोड़ी देर बाद उन्होंने शिष्य को लक्ष्य करके प्रफुल्लित होकर हँसते हुए कहा, "मुझे क्यों क्रोध आया था, जानता है? बड़ी ज़ोर से भूख लगी थी, इसीलिए।"

मायावती मठ में स्वामीजी बड़े व्यस्त रहते थे। प्रतिदिन उन्हें अनेक पत्रों का उत्तर देना पड़ता था। इस पर शास्त्र-चर्चा तो प्रायः सदा ही चलती रहती थी। इसके अतिरिक्त इस समय उन्होंने 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के लिए 'आर्य व तामिल', 'सामाजिक सभा में श्री. रानडे के भाषण की समालोचना' तथा 'थिओसफी पर मन्तव्य' ये तीन गम्भीर निबन्ध भी लिखे थे।

१९०० ई० के लाहौर-सम्मेलन के सभापति के रूप में न्यायमूर्ति श्री० रानडे ने जो भाषण पढ़ा था उसे आपत्तिजनक मानकर स्वामीजी ने उसका निर्भीक प्रतिवाद तथा समालोचना की थी। बंगाल के ब्राह्म संस्कारकों की ही तरह श्री० रानडे संन्यासाश्रम के विरोधी थे और समय, सुयोग तथा सुविधा पाते ही वे संन्यासियों पर आक्षेप किया करते थे। भाषण के प्रारम्भ

ही में श्री० रानडे ने कहा था कि वैदिक युग में जातिभेद प्रथा न थी। विवाहित ऋषिगण समाज के नेता व धर्माचार्य थे। उस समय संन्यासी सम्प्रदाय नहीं था, स्त्री-पुरुष सभी स्वतंत्रता (?) का उपभोग करते थे और " Asceticism had not overshadowed the land and life and its sweets were enjoyed in a spirit of joyous satisfaction " अर्थात् " कठोर संयम का भाव (जिसे योगीगण धर्मसाधना का अंग मानते हैं) नहीं था। अतः मानव जीवन की मधुरता का सभी लोग परिपूर्ण तृप्ति के साथ उपभोग कर सकते थे। " श्री० रानडे का मत इस प्रकार का था—

(१) प्राचीन युग में जाति-भेद न था और ऋषिगण विवाहित होते थे। इसके प्रमाण के रूप में उन्होंने क्षत्रिय राजकुमारियों के साथ ऋषियों के विवाह अर्थात् असवर्ण विवाहों की एक लम्बी सूची दी थी।

(२) सिक्ख-धर्म के प्रवर्तक आचार्यगण भी विवाहित थे। अतः हमें भी विवाहित आचार्यों का एक दल संगठित करना होगा। असम्पूर्ण जीवन वाले संन्यासी आचार्य वैदिक युग में नहीं थे व अभी भी न रहने चाहिए। *

---

* " A movement which has been recently started in the Punjab may be accepted as the sign that you have begun to realise the full significance of the need of creating a class of teachers who may be well-trusted to take the place of the Gurus of the old. " आर्य समाज के निर्माता स्वामी दयानन्द सरस्वती संन्यासी थे। इसीलिए रानडे महोदय ने उक्त समाज को संन्यासी आचार्य के बजाय गृहस्थ आचार्य तैयार करने के लिए अनुरोध किया है, क्योंकि उनके मतानुसार—

" Our Teachers must enable their pupils to realise the dignity of man as man, and to apply the necessary correctives to tendencies towards exclusiveness, which have grown in us with the growth of ages. * * * We must at the same time be careful that this class of teachers does not

स्वामीजी ने श्री रानडे के प्रतिवाद के रूप में लिखा है:—

(१) संन्यासी गुरु व गृहस्थ गुरु — कुमार ब्रह्मचारी व विवाहित धर्माचार्य दोनों प्रकार के आचार्य उतने ही प्राचीन हैं जितने वेद हैं। अतः तथाकथित पाश्चात्य संस्कृतज्ञ पण्डितों की सूक्ष्म कल्पना की सहायता न लेकर स्वाधीन भाव से इस समस्या की मीमांसा करना आवश्यक है। संन्यासी आचार्यगण गृहस्थों से नितान्त पृथक् ब्रह्मचर्यरूपी नींव पर खड़े हुए थे और इसीलिए वे उपनिषदों के वक्ता तथा ब्रह्मज्ञान के अधिकारी हुए हैं।

(क) "एक ओर विवाहित गृहस्थ ऋषि कुछ अर्थविहीन अद्भुत, केवल यही नहीं, भयानक अनुष्ठानों को लिए बैठे हैं — कम से कम इतना तो कहना ही होगा कि उनका नीतिज्ञान भी ज़रा मैला सा है और दूसरी ओर

---

form a new order of monks. Much good, I am free to admit, has been done in the past and is being done in these days, in this as well as other countries by those who take the vow of lifelong celibacy and who consecrate their lives to the service of man and the greatest glory of our Maker. But it may be doubted how far such men are able to realise life, all its fulness and all its varied relations, and I think our best examples in this respect are furnished by Agastya with his wife Lopamudra, Atri with his wife Anusuya and Vasishtha with his wife Arundhati among the ancient Rishis, and in our own times by men like Dr. Bhandarkar on our side, Diwan Bahadur Raghunath Row in Madras, Maharshi Devendra Nath Tagore, the late Keshav Chandra Sen, Babu Pratap Chandra Mazumdar, Pandit Shivanath Shastri in Bengal, and Lala Hans Raj and Lala Munshi Ram in your own province. A race that can ensure a continuance of such teachers can in my opinion never fail, and with the teachings of such man to guide and instruct and inspire us, I, for one, am confident that the time will be hastened when we may be, vouchsafed the sight of the Promised Land."

हैं अविवाहित ब्रह्मचर्यपरायण संन्यासी ऋषिगण, जो मानवोचित अभिज्ञता की कमी के बावजूद भी इस प्रकार उच्च धर्म, नीति तथा आध्यात्मिकता का प्रस्रवण खोल गए हैं जिसके अमृतवारि को संन्यास के विशेष पक्षपाती जैनी तथा बौद्धों ने और उसके बाद शंकर, रामानुज, कबीर, चैतन्य तक ने आकण्ठ पान करके अद्भुत आध्यात्मिक तथा सामाजिक संस्कारों को चलाने की शक्ति प्राप्त की थी, और जो पाश्चात्य देशों में जाकर वहाँ से कई रूपों में रूपान्तरित होकर हमारे समाज-संस्कारकों को संन्यासियों की समालोचना करने की शक्ति तक दे रहा है।"

(ख) हिन्दू जाति ने अनादि काल से जड़ के बदले चैतन्य को, भोग के बदले त्याग को ही शान्ति व मुक्ति देनेवाला माना है। अतः "जितने दिन समग्र हिन्दू जाति का मनोभाव इस प्रकार रहेगा, — और हम श्रीभगवान से प्रार्थना करते हैं कि यही भाव चिरकाल तक स्थायी रहे, —उतने दिन हमारे पाश्चात्य भावापन्न स्वदेशवासी क्या भारतीय नरनारियों की 'आत्मनो मोक्षाय जगद्धिताय च' सर्वस्व त्याग देने की प्रवृत्ति को रोकने की आशा कर सकते हैं?"

(ग) "और संन्यासी सम्प्रदाय पर वही बाबा आदम के ज़माने के आरोप पहले पहल प्रोटेस्टण्ट सम्प्रदाय द्वारा यूरोप में भी किए गए थे। बाद में बंगाली संस्कारकों ने उनसे उसे उधार ले लिया — और अब फिर हमारे बम्बई-निवासी भाइयों ने उसे अकड़कर पकड़ रखा है, — संन्यासीगण अविवाहित रहने के कारण नाना प्रकार की सभी अभिज्ञताओं के साथ जीवन को सम्पूर्ण रूप से भोग करने से वंचित रहते हैं। * * * साथ ही संन्यासाश्रम के विरोधियों के मुँह में यह बात तो बनी ही रहती है कि ईश्वर ने हमें सभी वृत्तियाँ दी हैं — किसी न किसी उपयोग के लिए। अतः संन्यासी जब वंशवृद्धि नहीं कर रहे हैं, तो वे अन्याय कर रहे हैं — वे पापी हैं। बहुत अच्छा, तब तो काम, क्रोध, चोरी-डकैती, ठगी आदि सभी वृत्तियाँ ईश्वर ने

हमें दी हैं — और इनमें से प्रत्येक की ही संस्कृत अथवा असंस्कृत सामाजिक जीवन की रक्षा के लिए आवश्यकता है। इनके सम्बन्ध में विरुद्धवादियों का क्या कहना है? जीवन में सभी अभिज्ञताओं का संचय करना चाहिए — इस मत का अवलम्बन कर क्या उन कार्यों को पूर्णोद्यम से चलाते रहना होगा? निश्चय ही समाज-संस्कारकों के साथ जब सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की विशेष घनिष्ठता है तथा जब वे उनकी इच्छा से भी भलीभाँति परिचित हैं तो उन्हें इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देना ही होगा।"

(२) स्मरणातीत काल से जगत् के प्रत्येक सम्प्रदाय में सर्वत्यागी संन्यासियों ने ही समाज के शिरमौर रहकर जाति को उन्नति के पथ में परिचालित किया है। संन्यासी की कठोर संयत जीवन-यात्रा तथा भोग-वितृष्णा ने युग-युग में कितने ही मानवों को उच्छृंखल लालसा का संयमन सिखाया है। इस भारत में जो भी कुछ उदार भाव, प्राणप्रद, वीर्यप्रद तथा उच्च चिन्तन है उनका अधिकांश संन्यासियों के ब्रह्मचर्य द्वारा पुष्ट मस्तिष्कों से ही उत्पन्न हुआ है। समाजरूपी नौका के कर्णधार का आसन भारत ने प्राचीन काल से ही संन्यासी को सम्मानपूर्वक अर्पित किया है और आज भी केवल इसीलिए कि संन्यासीगण जाति की जीवन-नौका का सूत्र पकड़े हुए हैं, सहस्रों आँधियाँ भी उसका नाश नहीं कर सकीं। भारत के प्राचीन व आधुनिक इतिहास के पन्ने पन्ने पर संन्यासियों की इस निःस्वार्थ चेष्टा की महिममय कहानियाँ सुवर्णाक्षरों में लिखी हुई हैं। समाज पर तथा जाति की विचारधारा पर संन्यासी के अमोघ प्रभाव को श्री० रानडे अस्वीकार नहीं कर सके, परन्तु फिर भी उन्होंने कहा, 'हमारे आचार्यगण किसी नवीन संन्यासी-सम्प्रदाय की स्थापना न करें, क्योंकि वे जीवन की विविध प्रकार की अभिज्ञताओं का रसास्वादन करने में असमर्थ हैं।' भविष्य भारत के निर्माण के लिए उन्होंने संन्यासियों की आवश्यकताओं को सम्पूर्ण रूप से अस्वीकार किया है और आशा प्रकट की है कि भारत ने जब आचार्यों के रूप में — प्राचीन काल के अगस्त्य, अत्रि, वसिष्ठ

आदि ऋषियों की तरह — वर्तमान काल में भी 'डा० भाण्डारकर, दि० ब० रघुनाथराव, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, स्वर्गीय केशवचन्द्र सेन, बाबू प्रतापचन्द्र मजुमदार तथा पं० शिवनाथ शास्त्री, लाला हंसराज, लाला मुन्शीराम आदि ऋषियों को प्राप्त किया है, तो इनके उपदेश तथा आदर्श जीवन का अनुसरण करते हुए चलने पर ही भारत की उन्नति अवश्यम्भावी है।'

(क) दूसरी ओर स्वामीजी का इस बात पर ज़रा भी विश्वास न था कि इन सब आधुनिक पाश्चात्य भावों से प्रभावित ऋषियों के द्वारा भारत की कोई भी स्थायी उन्नति हुई है अथवा होगी। इसीलिए उन्होंने कम से कम एक सहस्र शक्तिमान चरित्रवान तथा बुद्धिमान संन्यासी प्रचारकों को तैयार करने का संकल्प किया था,— जो आचार्य बनकर समग्र भारत का भ्रमण करते हुए मुक्ति, सेवा, सामाजिक जीवन के उन्नततर आदर्श, समता के सन्देश का द्वार-द्वार पर प्रचार करेंगे और लौकिक व अर्थकरी विद्या का शिक्षा-दान देंगे। उनके मत में संन्यासी आचार्यों की अवनति के साथ भारत की दुर्दशा का इतिहास अंगांगी रूप से मिला हुआ है। अतः भावी भारत के उद्बोधन के लिए सर्वप्रथम समाज के नियन्ता, जाति के चालक के रूप में एक दल शक्तिशाली आचार्यों की आवश्यकता है — और इनमें से प्रत्येक व्यक्ति सर्व-त्यागी संन्यासी होगा।

(३) संन्यास के उच्चतम आदर्श को धारण करने में असमर्थ होकर किसी किसी ने त्याग द्वारा पवित्र गैरिक वस्त्र को कलंकित किया है, इस प्रकार दृष्टान्त विरले नहीं हैं, परन्तु खेद की बात है कि कुछ ऐसे दुर्बल तथा असत्प्रकृति संन्यासियों का उदाहरण देकर ये सुधारकगण तमाम संन्यासियों और यहाँ तक कि संन्यासाश्रम पर ही अनुचित आक्रमण करने में नहीं हिचकते। संन्यास के कठिन मार्ग पर चलते हुए यदि किसी का कभी पदस्खलन हो जाय — फिर भी वह एक साधारण गृहस्थ से सौ गुना उच्च व श्रेष्ठ है — क्योंकि कहावत ही है कि —'प्रेम करके न पाना, प्रेम न करने से कहीं अच्छा है।'

जिसने कभी उन्नत जीवन प्राप्त करने की चेष्टा ही नहीं की उस कापुरुष की तुलना में तो वह संन्यासी वीर ही है।

"हमारे संस्कारकों की भीतर की बातों की यदि भलीभाँति खबर ली जाय, तो संन्यासी व गृहस्थों के बीच में प्रति शत भ्रष्टों की संख्या कितनी है इसकी गिनती देवताओं को भी ध्यान से करनी होगी और जो देवता हमारे सभी कार्यों का बारीक से बारीक हिसाब रख रहे हैं वह तो हमारे अपने ही हृदय में हैं; परन्तु इधर संन्यासी को देखो — यह एक अद्भुत अभिज्ञता है। अकेला खड़ा है — किसी से कुछ सहायता नहीं चाहता है — जीवन में सैकड़ों मुसीबतें आ रही हैं, छाती खोलकर सब का सामना कर रहा है — काम कर रहा है, किसी पुरस्कार की आशा नहीं — यहाँ तक कि, कर्तव्य के लम्बे नाम से साधारण में परिचित वह सड़ा-गला भाव भी नहीं है, सारे जीवन भर काम चल रहा है, आनन्द के साथ स्वाधीन भाव से काम चल रहा है — क्योंकि, उसे क्रीत दासों की तरह जूते की ठोकर मारकर काम कराना नहीं पड़ रहा है — अथवा उस कार्य के मूल में झूठा मानव प्रेम अथवा उच्च आकांक्षा भी नहीं है।

"यह केवल संन्यासी में ही सम्भव है, धर्म की बात क्या कहते हो? वह रहना चाहिए या एकदम लुप्त होगा? धर्म यदि रहे तो धर्म-साधन में विशेष रूप से अभिज्ञ एक दल मनुष्यों की आवश्यकता है — धर्मयुद्ध के लिए योद्धा की आवश्यकता है। संन्यासी ही धर्म के विशेष रूप से अभिज्ञ व्यक्ति हैं, क्योंकि उन्होंने धर्म को ही अपने जीवन का मूल लक्ष्य बनाया है। वे ही ईश्वर के सैनिक हैं। जब तक एकनिष्ठ संन्यासियों का सम्प्रदाय मौजूद है, तब तक धर्म के विनाश का भय कैसा?

"प्रोटेस्टन्ट इंग्लैण्ड व अमेरिका, कैथोलिक संन्यासियों के प्रबल प्लावन से क्यों कम्पित हो रहे हैं?

"जीवित रहे रानडे तथा समाज-संस्कारकों का दल! परन्तु हे भारत!

—हे पाश्चात्य भाव में अनुप्राणित भारत! इस बात को न भूलो, कि इस समाज में ऐसी समस्याएँ बर्तमान हैं जिनका अर्थ तक अभी तुम या तुम्हारे पाश्चात्य गुरु समझ नहीं पाए हैं,—मीमांसा करना तो दूर रहा।"

प्रबल तुषार-पात के कारण स्वामीजी को अधिकांश समय अपने कमरे में बन्दी की तरह रहना पड़ता था, विशेषतः हिमालय का घोर शीत उन्हें असहनीय लगने लगा। अन्त में १९०१ ई० की २४ जनवरी को स्वामीजी बेलुड़ मठ लौट आए। मठ का काम-काज भलीभाँति चल रहा था। प्रतिदिन ब्रह्मचारीगण व्यायाम, शास्त्रों की चर्चा, ध्यान, साधना आदि नियमित रूप से कर रहे थे। स्वामीजी के आगमन से उनका कर्मोत्साह सौ गुना बढ़ गया। स्वामीजी इस नवीन संन्यासी सम्प्रदाय का त्याग, विवेक, वैराग्य आदि देखकर विशेष सन्तुष्ट हुए। कभी कभी समयानुसार आलोचना-सभा में स्वयं उपस्थित रहकर शिक्षा-दान के साथ ही साथ भविष्य कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में भी वे अपना मत व्यक्त करते थे। इधर ढाका से स्वामीजी के पास लगातार आमंत्रण पत्र आने लगे। स्वामीजी की जननी ने पहले से ही पूर्व बंग तथा आसाम के तीर्थों का दर्शन करने के लिए इच्छा प्रकट की थी। उस बात का स्मरण कर अपनी माता तथा उनकी अन्य संगिनियों को साथ लेकर स्वामीजी ढाका जाने की तैयारी करने लगे। स्वामीजी की शारीरिक स्थिति दिनोंदिन खराब हो रही थी, परन्तु उसकी परवाह न करते हुए १८ मार्च को कुछ संन्यासी शिष्यों के साथ उन्होने ढाका की ओर यात्रा की। स्टीमर गोआलन्द से नारायणगंज में पहुँचते ही ढाका अभ्यर्थना-समिति के कुछ भद्र महोदयों ने उनकी अभ्यर्थना की। अन्त में तीसरे प्रहर में जिस समय गाड़ी ढाका स्टेशन में प्रविष्ट हुई उस समय स्थानीय प्रसिद्ध वकील बाबू ईश्वरचन्द्र घोष तथा बाबू गगनचन्द्र घोष महोदयों ने जनसाधारण की ओर से स्वामीजी की अभ्यर्थना की। सहस्र सहस्र व्यक्ति विवेकानन्द के दर्शन की इच्छा से स्टेशन में एकत्रित हुए थे। उन्होंने स्वामीजी को देखते ही 'श्रीरामकृष्ण की

जय' ध्वनि से स्टेशन को मुखरित कर डाला। घोड़े की गाड़ी में चढ़ाकर विराट जुलूस के साथ स्वामीजी को स्थानीय प्रसिद्ध जमींदार बाबू मोहिनी-मोहन दास महाशय के विशाल भवन में ले जाया गया।

थोड़े दिनों के बाद बुधाष्टमी के उपलक्ष्य में ब्रह्मपुत्रा में स्नान के लिए स्वामीजी ने ढाका से नाव पर सवार होकर यात्रा की। २५ मार्च को जननी तथा अन्य महिलागण नारायणगंज में आकर स्वामीजी के साथ सम्मिलित हुईं। साथियों के साथ लांगलबन्ध में उपस्थित होकर ब्रह्मपुत्रा के पवित्र जल में स्नान कर स्वामीजी विशेष आनन्दित हुए। उस दिन रात को स्वामीजी को थोड़ा सा ज्वर आ गया था। अस्तु, वे बिना विघ्न के ही ढाका लौट आए।

ढाका रहते प्रतिदिन अनेक व्यक्ति उपदेश व आशीर्वाद के प्रार्थी बन-कर उनके पास आते थे। स्वामीजी प्रायः सदैव ही उनका सादर स्वागत कर उन्हें मधुर वार्तालाप से सन्तुष्ट करते थे। तीसरे प्रहर लगभग दो-तीन घण्टों तक त्याग, वैराग्य, कर्मयोग, भक्ति, ज्ञान आदि विविध विषयों पर वे चर्चा करते थे। स्वामीजी के मधुर व्यवहार तथा मिष्ट भाषण से सभी लोग मुग्ध होते थे।

स्थानीय शिक्षित सम्प्रदाय के आग्रह व अनुरोध पर स्वामीजी ने ढाका में दो भाषण दिए। ३० मार्च को स्थानीय वकील बाबू रमाकान्त नन्दी महाशय के सभापतित्व में जगन्नाथ कालेज में एक सभा बुलाई गई। स्वामीजी ने लगभग दो हजार श्रोताओं के सम्मुख अंग्रेजी भाषा में 'मैंने क्या सीखा है' विषय पर एक घण्टे तक भाषण दिया। दूसरे दिन पोगज स्कूल के विशाल प्रांगण में प्रायः तीन सहस्र श्रोताओं के सम्मुख 'मेरा जन्म-प्राप्त धर्म' के सम्बन्ध में दो घण्टों तक एक भाषण दिया। श्रोतागण स्वामीजी के भाषण की संमोहिनी शक्ति से मानो आविष्ट होकर मंत्रमुग्ध जैसे निःस्तब्ध रहते थे। दोनों भाषणों में ही स्वामीजी ने ब्राह्म संस्कारकों द्वारा अवलम्बित कार्य-प्रणाली का तीव्र प्रतिवाद किया। उन्होंने कहा कि ये संस्कारक सम्प्रदाय जो हमारे धर्म में वैदेशिक भाव को चलाने के विशेष पक्षपाती हैं तथा मूर्तिपूजा को

नितान्त दोषजनक मानते हैं, इसका कारण यह है कि उन्होंने मूर्तिपूजा के भले-बुरे किसी भी दृष्टिकोण का अच्छी तरह अनुसन्धान किये बिना ही सम्पूर्ण हिन्दू समाज को ग़लतियों की समष्टि मान ली है। मूर्तिपूजा के समर्थन के लिए अपने अनेक भाषणों में दार्शनिक सूक्ष्म युक्तियाँ पेश करने में स्वामीजी ने कमी न की,—उन्होंने अकाट्य युक्तियों द्वारा प्रमाणित किया कि धर्म-जीवन की विशेष स्थितियों में उसकी आवश्यकता है। परन्तु शेषोक्त भाषण के उपसंहार में अपनी मर्मस्पर्शी भाषा में उन्होंने जो कुछ कहा है वह हिन्दू तथा ब्राह्म सभी के लिए विशेष रूप से मनन करने का विषय है। स्वामीजी ने कहा, "यदि इस मूर्तिपूजा में नाना प्रकार के कुत्सित भाव भी प्रविष्ट हो गए हों फिर भी मैं उसकी निन्दा नहीं करता। यदि मुझे उस मूर्तिपूजक ब्राह्मण की पदधूलि प्राप्त न होती तो मैं कहाँ होता! जो संस्कारकगण मूर्ति-पूजा की निन्दा किया करते हैं उनसे मैं यही कहूँगा,—"भाई, यदि तुम निराकार की उपासना के योग्य हो तो वही करो, परन्तु दूसरों को गाली क्यों देते हो? संस्कार केवल पुराने मकान का जीर्ण-संस्कार मात्र है। जीर्ण-संस्कार हो जाने पर और उसकी क्या आवश्यकता है? संस्कारक एक स्वतंत्र सम्प्रदाय का निर्माण करना चाहते हैं, उन्होंने महत्कार्य किया है। उन पर भगवान के आशीर्वाद की वर्षा हो। परन्तु तुम अपने को अलग क्यों करना चाहते हो? हिन्दू नाम लेने से लज्जित क्यों होते हो?"

बंगाल के संस्कारकों में स्वजाति तथा स्वधर्म के प्रति विद्वेष को देख विश्व-प्रेमी संन्यासी ने कितने ही बार क्षुब्ध हृदय से कहा है, "हम तो उन्हें गोदी में उठा लेने के लिए बाँह पसारे हुए हैं। वे ही यदि नहीं आते तो हम क्या करें?" परन्तु खेद की बात है कि आना तो दूर ही रहा बल्कि कोई कोई ब्राह्म नेता उनके प्रभाव तथा प्रतिपत्ति द्वारा हतप्रभ होकर ईर्ष्या से विशुद्धकर्मा संन्यासी के पवित्र चरित्र पर कलंक का आरोप करने में भी बिल-कुल लज्जित नहीं हुए। जिन लोगों ने आपस में विवाद करते हुए एक

निन्दनीय तथा लज्जास्पद साहित्य की सृष्टि की है, वे स्वामी विवेकानन्द के प्रति द्वेष रखेंगे यह तो स्वाभाविक है, परन्तु जो कुछ स्वाभाविक है वही उचित नहीं है,—परन्तु अक्षम व्यक्ति ईर्ष्या प्रकट करने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है?

दूसरी ओर स्वामीजी उन व्यक्तियों के साथ भी एकमत न हो सके जो हमारे प्रत्येक कुसंस्कार तथा ग्राम्य आचार आदि की वैज्ञानिक व्याख्या करके उनका समर्थन करने की चेष्टा करते हैं। स्वामीजी ने कहा, "इनके अतिरिक्त दल—प्राचीन सम्प्रदाय हैं, जो कहते हैं, हम तुम्हारी उतनी लम्बी बातें नहीं समझते—समझना चाहते भी नहीं, हम चाहते हैं ईश्वर को, हम चाहते हैं आत्मा को—चाहते हैं जगत् को छोड़, सुख दुःख को छोड़ उनके परे चले जायँ;—जो कहते हैं, विश्वास के साथ गंगास्नान करने पर मुक्ति होती है;—जो कहते हैं, शिव, राम आदि जिनके ही प्रति क्यों न हो, ईश्वर-बुद्धि से उपासना करने पर मुक्ति होती है,—मैं इसी प्राचीन सम्प्रदाय का हूँ।"

उन दिनों जब स्वामीजी ढाका में रहते थे एक दिन एक वेश्या सज-धज कर अपनी माता के साथ स्वामीजी के दर्शन की इच्छा से आई। घोड़े की गाड़ी से उतरकर जब उसने कहा कि वह स्वामीजी के दर्शन की इच्छुक है तो उपस्थित भक्तों में से अनेक व्यक्ति सोच-विचार करने लगे। इस समाचार को पाकर स्वामीजी ने उन दोनों स्त्रियों को कमरे में लाने का निर्देश दिया। स्वामीजी को प्रणाम कर जब वे खड़ी हो गई तो स्वामीजी ने स्नेहपूर्ण स्वर से उन्हें बैठने के लिए कहा। इसके बाद उक्त नर्तकी की माता ने अपनी कन्या को दमा-रोगग्रस्त बताकर स्वामीजी से कुछ औषध तथा आशीर्वाद की भिक्षा माँगी। स्वामीजी सहानुभूति-मिश्रित व्यथा तथा करुणा से पूर्ण स्वर में बोले, "माँ, देखो मैं स्वयं ही दमा रोग से पीड़ित हूँ, अपने ही रोग को दूर नहीं कर सकता। मेरी इच्छा होती है, तुम्हारा रोग

दूर हो, यदि शक्ति होती तो दूर कर देता।" स्वामीजी के इस सरल स्नेहपूर्ण वार्तालाप पर वे दोनों स्त्रियाँ तथा अन्य उपस्थित दर्शकगण मोहित हुए। अन्त में उन स्त्रियों ने स्वामीजी का आशीर्वाद पाकर धन्य हो विदा ली।

स्वामीजी छुआछूत के विरोधी थे, वे सभी के हाथ से खाद्यद्रव्य ग्रहण कर लेते थे। इसलिए ढाका के अनेक कट्टर पन्थी हिन्दू आपत्ति प्रकट करते थे। स्वामीजी ने एक दिन एक व्यक्ति को सम्बोधित करके कहा था, "भाई! मैं फकीर संन्यासी हूँ — फिर मेरा जाति-विचार तथा आचार-नियम कैसा? शास्त्र कह रहे हैं, संन्यासी मधुकरी भिक्षा करके जीवन धारण करेगा — यहाँ तक कि भिन्न धर्मावलम्बी के घर से भी खाद्य द्रव्य की भिक्षा माँगना संन्यासी के लिए निषिद्ध नहीं है।"

ढाका से स्वामीजी साधु नाग महाशय की जन्मभूमि देवभोग का दर्शन करने गए। नाग महाशय ने १८९९ ई० के दिसम्बर मास में ही देह त्याग किया था! इससे पूर्व स्वामीजी ने देवभोग में आने का वचन दिया था, इतने दिनों बाद आज उनका वह संकल्प पूर्ण हुआ, परन्तु आज नाग महाशय नहीं हैं! यदि आज वे जीवित होते तो उन्हें कितनी प्रसन्नता होती! देवभोग में उपस्थित होकर स्वामीजी को उस तपस्वी, जनकतुल्य साधु की कितनी ही पवित्र स्मृतियों का स्मरण हुआ। उस पवित्र ऋषि की साधन-कुटी में उपस्थित होकर विवेकानन्द का हृदय श्रद्धा व सम्भ्रम से भर उठा। सती साध्वी नाग महाशय की सहधर्मिणी के आनन्द की आज सीमा न थी। उनके इष्टदेव की दूसरी मूर्ति के रूप में स्वामीजी उनकी कुटिया में अतिथि हैं! वह समझ न सकी कि किस प्रकार वह उनकी अभ्यर्थना करे। श्रीरामकृष्ण देव के प्रियतम पार्श्वदों की सेवा के लिए भक्ति व आनन्द में गद्गद होकर वह अनेक प्रकार के व्यंजन तैयार करने लगी। इसी बीच में स्वामीजी अपने साथियों के साथ तालाब में स्नान करने चले गए। वे बालकों की तरह कूद कूद कर तैरने लगे, जल छिटकाकर खेल करने लगे। इस दृश्य को देख कौन समझेगा कि

यही वे कीर्तिमान संन्यासी विवेकानन्द हैं जिन्होंने वेदान्त की सिंहगर्जना से जगत् को कँपा दिया है; — यह तो वही श्रीरामकृष्ण के लाड़-प्यार का किशोर चपल बालक है। स्नान के बाद स्वामीजी सो गए। निद्रा — गम्भीर निद्रा! बहुत दिनों के बाद गाँव की सूनसान गोद में आकर आज विवेकानन्द को सुषुप्ति प्राप्त हुई। बहुत दिनों से उनकी अच्छी नींद नहीं हुई थी, — क्योंकर होती? दिन के कर्म-कोलाहल के बाद जब वे बिस्तर पर लेटते थे तो कितनी ही चिन्ताएँ उनके हृदय में जाग्रत होती थीं। समस्त भारत के दुःख, दीनता, अधःपतन आदि के शोचनीय चित्र एक के बाद एक उनके मानस-पट पर उदित होते थे। जिस समय समग्र विश्व विश्राम लेता हुआ शान्त और स्तब्ध होता था उस समय उनके व्यथित चित्त में वेदना का क्या ही आलोड़न होता था! आँखें बन्द करके विवेकानन्द सोचते थे, "तुम्हारे दुःखों को मिटाने के लिए क्या करूँ माँ? हाय! आत्मविस्मृत भारत-सन्तान! इतना पुकारकर भी जो जवाब नहीं मिला माँ! पंजाब, बंगाल, बम्बई, मद्रास जिधर देखता हूँ उधर ही जराजीर्ण स्थविरता दिखाई देती है। राष्ट्र की इस जड़ता को मिटा दूँगा — इस चेष्टा में प्राण दे डालूँगा, सभी को 'उत्तिष्ठत, जाग्रत' की अभय वाणी सुनाऊँगा — निराशा के घनान्धकार में भी आशा का आलोक लाने की चेष्टा करूँगा — चेष्टा व्यर्थ हो, शत बार विफल हो, — उद्देश्य को न छोड़ूँगा।" जिनके मस्तिष्क में इतनी चिन्ताओं का भार है, भला उनकी नींद कैसे हो सकती है?

दिन के ढाई बजे जगकर ही विवेकानन्द ने भोजन की इच्छा प्रकट की। सभी कुछ तैयार था। केवल उनके विश्राम में विघ्न न हो इसीलिए सब लोग प्रतीक्षा कर रहे थे। बहुत दिनों के बाद उन्हें निद्रा प्राप्त हुई। अब आनन्दपूर्वक विवेकानन्द भोजन करने बैठे। आनन्द के साथ भोजन कर उन्हें परम तृप्ति प्राप्त हुई। इसके बाद नाग महाशय की सहधर्मिणी द्वारा दिये हुए वस्त्र को बड़े आदर के साथ मस्तक पर लपेटकर सानन्द वे ढाका से लौटे।

बेलुड़ मठ में लौटकर स्वामीजी अनेक बार संन्यासी व ब्रह्मचारियों को देव-भोग की कहानी सुनाकर आनन्द का अनुभव करते थे।

एक दिन धर्मोन्मत्तता के सम्बन्ध में चर्चा के सिलसिले में स्वामीजी ने कहा था, "ढाका के मोहिनी बाबू के मकान पर एक दिन एक लड़के ने न जाने किसका एक फोटो लाकर मुझे दिखाकर कहा, 'महाराज! कहिए तो ये कौन हैं? अवतार हैं या नहीं?' मैंने उसे अनेक प्रकार से समझाकर कहा, 'यह भाई मैं कैसे जानूँ?' तीन-चार बार कहने पर भी मैंने देखा कि वह लड़का किसी भी तरह अपनी जिद नहीं छोड़ रहा है। अन्त में मुझे बाध्य होकर कहना पड़ा, 'भाई, अब आगे से अच्छी तरह भोजन किया करो, इससे मस्तिष्क का विकास होगा — पुष्टिकर खाद्य के अभाव से तुम्हारा माथा सूख सा गया है भाई।' इस बात को सुनकर सम्भव है वह लड़का असन्तुष्ट हुआ हो। लेकिन इसमें मैं क्या करूँ? लड़कों से इस प्रकार न कहने से वे तो धीरे धीरे पागल बन जायँगे। गुरु को लोग अवतार कह सकते हैं, जो मन में आए धारणा करने की चेष्टा कर सकते हैं, परन्तु भगवान का अवतार — जहाँ तहाँ सभी जगह नहीं होता। मैंने सुना, एक ढाका में ही तीन-चार अवतार खड़े हो गए हैं!"

ढाका से स्वामीजी ने कामाख्यापीठ व चन्द्रनाथ के दर्शन के लिए यात्रा की। रास्ते में गोआलपाड़ा व गौहाटी में कुछ दिन विश्राम करना पड़ा। गौहाटी में स्वामीजी ने तीन भाषण दिए। परन्तु खेद है कि कोई योग्य व्यक्ति न होने के कारण उनको कोई लिपिबद्ध न कर सका।

ढाका में भी स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक न था। रोग क्रमशः बढ़ने लगा। कामाख्या से स्वामीजी जिस समय गौहाटी लौटे, उस समय उनकी स्थिति इतनी खराब थी कि साथी भक्त व शिष्यगण बहुत ही चिन्तित हो गए। यह सोचकर कि शिलाँग की आबहवा स्वामीजी के स्वास्थ्य के लिए

अनुकूल होगी, सभी ने उनसे शिलाँग जाने का अनुरोध किया। स्वामीजी सहमत होकर अपने साथियों के साथ शिलाँग की ओर चले।

आसाम के उस समय के चीफ कमिश्नर भारतहितैषी सर हेनरी कॉटन स्वामीजी के आगमन का समाचार पाकर उनके दर्शन के लिए विशेष उत्सुक हुए। कॉटन साहब के अनुरोध से स्वामीजी ने एक दिन एक भाषण दिया। स्थानीय यूरोपियनों में से सभी व्यक्ति उस सभा में सम्मिलित हुए थे और देशीय शिक्षित समाज के प्रत्येक व्यक्ति ने श्रद्धापूर्वक उक्त सभा में सहयोग दिया था। भाषण के बाद कॉटन साहब ने स्वामीजी को कृतज्ञता के साथ धन्यवाद दिया। सारे साहब एक स्वर से कहने लगे, भारतीय शिक्षा व सभ्यता की इस प्रकार सुन्दर व युक्तिपूर्ण व्याख्या हमने और कहीं भी नहीं सुनी।

सर हेनरी कॉटन पहिले से ही स्वामीजी के सम्बन्ध में अनेक बातें जानते थे तथा स्वदेशप्रेमी संन्यासी के भाषण आदि पढ़कर उनके प्रति यथेष्ट श्रद्धा रखने लगे थे। एक दिन जब वे स्वामीजी के निवासस्थान पर उनसे साक्षात्कार करने के लिए आए तो वार्तालाप के सिलसिले में कॉटन साहब बोले, " स्वामीजी, यूरोप-अमेरिका के प्रसिद्ध स्थानों का दर्शन कर अन्त में आप इस जंगल में क्या देखने आए हैं ? " स्वामीजी उच्च हास्य के साथ उन्हें बाहुओं से जकड़कर बोले, " आप जैसे ऋषि जहाँ पर निवास करते हैं, वह तीर्थस्थान है — मैं तीर्थदर्शन के लिए आया हूँ ! " स्वामीजी व कॉटन साहब के आपस में हास्य-परिहासयुक्त सरल वार्तालाप को सुन उपस्थित सभी लोग मन ही मन समझने लगे कि दोनों में वर्षों का परिचय होगा, संकोच या सम्भ्रम की कोई भावना न थी, मानो दो बचपन के मित्र अनेक दिनों के बाद आपस में मिले हों ! स्वामीजी की शारीरिक स्थिति को देख कॉटन साहब ने उनकी चिकित्सा के लिए स्थानीय सिविल सर्जन को नियुक्त कर दिया। वे प्रतिदिन दोनों समय स्वामीजी की देखरेख करने लगे।

शिलाँग स्वास्थ्यकर स्थान होने पर भी स्वामीजी के स्वास्थ्य में सुधार

का कोई लक्षण देखने में न आया, बल्कि उनका स्वास्थ्य अधिकाधिक गिरने लगा। एक दिन रात को उनका दमा इतना बढ़ गया कि उनके शिष्यगण निराश होकर प्रति क्षण डरने लगे कि कहीं उनका देहत्याग ही न हो जाय। स्वामीजी भी मानो जीवन की आशा छोड़ बड़े कष्ट के साथ सिरहाने के सहारे अन्तिम निःश्वास छोड़ने की प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी ही देर बाद मन ही मन बोल उठे, "यदि देहत्याग ही हो जाय, फिर भी क्या? मैंने जगत् को वर्षों तक सोचने योग्य साधन दिए हैं।"

धीरे धीरे रात हुई — रात्रि गम्भीर हुई, यंत्रणा का ज़रा भी उपशम न हुआ। एक बाल ब्रह्मचारी दोनों हाथों से उनके मस्तक को सीधी तरह से पकड़कर खड़े थे। महापुरुष की इस रोग-यंत्रणा को देख उनका हृदय विदीर्ण होने लगा, वे केवल यही सोचने लगे कि किस प्रकार इस यंत्रणा का उपशम हो। सरलचित्त, भक्तिमान बालक कातर भाव से श्रीभगवान के चरणों में प्रार्थना करने लगा, "हे भगवन्, दया करके यह रोग मुझे दे दीजिए, स्वामीजी स्वस्थ हो उठें।" सहसा स्वामीजी की पद्म जैसी दोनों आँखें खुल गईं, करुणार्द्र दृष्टि से बालक की ओर ताकते हुए वे बोले, "वत्स! मैंने तो दुःख-कष्ट भोगने ही के लिए देह धारण की है, अधीर न हो।" सम्भव है बालक की सकरुण मौन प्रार्थना श्रीभगवान ने सुन ली। प्रभात होने के साथ ही साथ स्वामीजी कुछ स्वस्थ हुए — श्वास-कष्ट दूर हुआ। चिन्ताग्रस्त शिष्य-गण उस घोर विपत्ति से मुक्त होकर कुछ निश्चिन्त हुए।

पूर्व बंग व आसाम का भ्रमण समाप्त कर स्वामीजी बेलुड़ मठ में लौट आए। बहुमूत्रता के रोग से स्वामीजी पहले से ही कष्ट पा रहे थे। अब उसके परिणाम में सूजन भी दिखने लगी। भयभीत होकर गुरुभाइयों ने शीघ्र ही उचित चिकित्सा की व्यवस्था की और सर्व प्रकार के कार्यों से अवकाश लेने के लिए वे उनसे अनुरोध करने लगे। उनके आग्रह से स्वामीजी प्रचारकार्य को छोड़ मठ में रहने लगे — वैद्य की चिकित्सा होने लगी। आयुर्वेद-चिकित्सा

से कुछ कुछ उपकार तो हुआ, परन्तु इस साधारण जड़ देह के लिए चिकित्सकों के आज्ञानुवर्ती होकर कठोर नियमों का पालन करना उन्हें बहुत ही कष्टप्रद प्रतीत होने लगा। जब कोई उनसे पूछता था, रोग कुछ कम हुआ या नहीं, तो वे उत्तर देते थे, " उपकार अपकार नहीं जानता। गुरुभाइयों की आज्ञा का पालन किए जा रहा हूँ। " अपनी शारीरिक अस्वस्थता के कारण सभी को चिन्तित देख स्वामीजी समय समय पर विचलित हो उठते थे। हास्य तथा वार्तालाप आदि द्वारा वे सदा ही प्रकट करने की चेष्टा करते थे कि उनका रोग जैसा प्रतीत हो रहा है वैसा भयानक नहीं है। यह उन्हें किसी भी तरह पसन्द न था कि उनके लिए दूसरों को कष्ट हो।

इस समय अनेक व्यक्ति उनके दर्शन तथा आशीर्वाद के प्रार्थी बनकर मठ में आते थे। स्वामीजी प्रत्येक के साथ वार्तालाप करते हुए धर्मोपदेश देते थे, देश के कल्याण की कामना से सेवा का व्रत ग्रहण करने के लिए युवकों को उत्साहित करते थे। विश्वविद्यालय के छात्रों के आने पर तो पूछना ही क्या था! स्वामीजी बड़े आनन्द से उनके सम्मुख ओजपूर्ण भाषा में शक्ति-साधना की महिमा का कीर्तन करते थे,—सबल, शक्तिमान, जितेन्द्रिय बनने के लिए व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक को उपदेश देते थे। कभी कभी वे घण्टों तक देश की दुर्दशा तथा उसके प्रतिकार के उपाय के सम्बन्ध में शिक्षित युवकों के साथ चर्चा करते थे। इस प्रकार की चर्चाओं को उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक जानकर उनके गुरुभाई बहुधा उन्हें उससे निवृत्त करने की चेष्टा करते थे। कभी कभी स्वामीजी उनके अनुरोध को मान जाते थे और कभी कभी विरक्त होकर बोलते थे, " रख दे तेरे नियम-फियम। इनमें से यदि एक भी व्यक्ति आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार हो तो मेरा सारा श्रम सार्थक होगा। दूसरों के कल्याण के लिए, होने दो देहपात, क्या आता जाता है इससे। चुपचाप घर का दरवाज़ा बन्द करके जिन्दा रहकर भी क्या लाभ? ये लोग कितनी दूर से कितना कष्ट सहकर मेरी दो बातें सुनने के लिए आए हैं

और यों ही लौट जाएँगे ? तुम लोगों से जो कुछ बन सके करो, मैं जड़ की तरह चुपचाप न रह सकूँगा।" अभी भी इन सब भाग्यवान युवकों में से अनेक व्यक्ति स्वामीजी की अपार दया, सस्नेह व्यवहार की बातें कृतज्ञ चित्त से व्यक्त करते हैं। पतित, अधम, या दुर्बल जानकर स्वामीजी किसी की हँसी या अवज्ञा नहीं करते थे। उनकी दृष्टि में कोई भी अनधिकारी न था। यदि कोई अपने पूर्व जीवन में किए हुए पाप-कार्यों को व्यक्त करके उनके लिए अनुताप करता तो स्वामीजी भर्त्सना करते हुए उससे कहते थे, "छिः, तुम अपने को दुर्बल या दोषी क्यों मान रहे हो! जो कुछ किया है, अच्छा ही किया है। अब और अच्छे बनो।" जिन्होंने जीवन में कम से कम एक बार भी इस महापुरुष का दर्शन किया है, थोड़ी देर के लिए भी उनके श्रीमुख से निकलती हुई आशा व भरोसा की वाणी सुनी है, उनमें से अनेकों को हमने अनेक बार कहते सुना है, "कितने ही बड़े बड़े विद्वान व्याख्यानदाता साधु-संन्यासी देखे, परन्तु विवेकानन्द जैसा दयालु, दुखी का दुख समझनेवाला, दीन व पतितों का मित्र दूसरा और कोई भी आज तक न देखा।"

विवेकानन्द जैसे व्यक्ति को सर्व प्रकार के परिश्रम से मुक्त रखना वास्तव में असम्भव कार्य था। दूसरी बात तो दूर रही, इस समय वे केवल पुस्तकों का अध्ययन करने के लिए जो कठोर परिश्रम करते थे, उसका चिन्तन करने पर भी विस्मित होना पड़ता है। 'विवेकानन्दजी के संग में' के संकलन-कर्ता शिष्य श्री० शरच्चन्द्र चक्रवर्ती ने उक्त पुस्तक में लिखा है—

"कविराजी औषधियों के कठोर नियमों का पालन करते हुए स्वामीजी का आहार तथा निद्रा छूट चुकी थी। निद्रादेवी ने तो उन्हें बहुत दिनों से ही एक प्रकार से मानो त्याग ही दिया था। परन्तु इस अनाहार तथा अनिद्रा में भी स्वामीजी को विश्राम नहीं था। कुछ दिनों से मठ में नवीन Encyclopœdia Britannica खरीदा गया है। नई चमकनेवाली पुस्तकों को देख शिष्य स्वामीजी से बोले, 'इतनी पुस्तकें एक जीवन में पढ़ना कठिन

है।' शिष्य उस समय तक नहीं जानते थे कि स्वामीजी ने उन पुस्तकों में से इसी बीच में दस खण्डों का अध्ययन समाप्त कर ग्यारहवें खण्ड को पढ़ना प्रारम्भ किया है।

स्वामीजी बोले,—'क्या कहता है? इन दस पुस्तकों में से तेरी जो इच्छा हो मुझसे पूछ ले—सब कह दूँगा।' शिष्य ने विस्मित होकर पूछा, 'क्या आपने इन पुस्तकों को पढ़ लिया है?'

स्वामीजी बोले,—'क्या बिना पढ़े ही कह रहा हूँ?' इसके बाद स्वामीजी का आदेश पाकर शिष्य उन पुस्तकों में से चुन चुन कर कठिन विषयों में प्रश्न करने लगा। आश्चर्य की बात है—स्वामीजी ने उन विषयों का पुस्तक में लिखित मर्म तो बताया ही—उस पर स्थान स्थान में उस पुस्तक की भाषा तक ज्यों की त्यों बोलने लगे। शिष्य ने उन बड़े बड़े दस खण्डों में से प्रत्येक से ही एक दो विषयों पर प्रश्न किया और स्वामीजी की असाधारण बुद्धि तथा स्मृतिशक्ति को देख विस्मित होकर पुस्तकों को उठाकर रखते हुए कहा, 'यह मनुष्य की शक्ति नहीं है!'

स्वामीजी बोले, 'देखा, एक मात्र ब्रह्मचर्य का पालन ठीक ठीक कर सकने पर सभी विद्याएँ एक मुहूर्त में ही सीख ली जा सकती हैं—मनुष्य श्रुतिधर, स्मृतिधर बन जाता है। इस ब्रह्मचर्य के अभाव से ही हमारा देश विनष्ट हो गया।'

धीरे धीरे जुलाई व अगस्त मास बीत गए। स्वामीजी के स्वास्थ्य में इस समय पहले की तुलना में काफी सुधार हुआ था। वे प्रतिदिन प्रातः व सायंकाल मठ से निकलकर बड़े रास्ते पर घूमने जाते थे। इस प्रकार भ्रमण करते समय कभी कभी उनके गुरुभाई अथवा शिष्यगण उनके साथ जाते थे। स्वामीजी उनके साथ नाना प्रकार की चर्चा करते थे और कभी कभी गम्भीर चिन्ता में मग्न होकर साथियों के साथ उदासीन जैसा व्यवहार करते थे। मठ के संन्यासी तथा ब्रह्मचारियों के लिए स्वामीजी की उपस्थिति ही प्रचुर शिक्षा

तथा सतत आनन्द की बात थी। वे कभी कभी तो मठ के किसी किसी घरेलू काम को भी अपने हाथ से कर दिया करते थे, कमरे में झाड़ू देते थे, जमीन खोदकर फल-फूल के बीज बोते थे और अनेक समय उत्साह के साथ रसोई बनाकर संन्यासियों को भोजन कराते हुए आनन्द का अनुभव करते थे। मठ में स्वामीजी की आडम्बरविहीन जीवनप्रणाली तथा इन सब छोटे छोटे कार्यों के अनुष्ठानों को नवीन संन्यासियों ने परम शिक्षा की दृष्टि से ही ग्रहण किया था।

बेलुड़ मठ की स्थापना के साथ ही साथ हिन्दू समाज की दृष्टि भी इस संस्था पर पड़ी। संन्यासियों का उदार भाव, देशाचार तथा लोकाचार के अनेक नियमों के प्रति उदासीनता — विशेष रूप से खान-पान के सम्बन्ध में जन्मगत तथा जातिगत भेदबुद्धि का बिलकुल परित्याग — आदि विषयों पर अनेक स्थानों में चर्चा चलने लगी। विलायत से लौटे हुए विवेकानन्द तथा उनके साथियों के कार्यों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ जनता में फैलायी जाने लगीं। इन सब निन्दावादों पर विश्वास करके शास्त्रों से अनभिज्ञ देशाचार को ही सब कुछ माननेवाले अनेक व्यक्ति स्वामीजी के महान् उद्देश्य को समझने में असमर्थ होकर व्यर्थ में उनकी निन्दा करते थे। "चलती नावों के यात्रीगण बेलुड़ मठ को देखते ही नाना प्रकार के व्यंग करने लगते थे और यहाँ तक कि समय समय पर झूठी अश्लील कहानियों का उल्लेख कर निष्कलंक स्वामीजी के पवित्र चरित्र की आलोचना करने से भी बाज न आते थे।" अनेक भक्त मठ में आते हुए इन सब समालोचनाओं को सुनते थे। कोई कोई व्यथित हृदय से वह सब स्वामीजी के सम्मुख व्यक्त भी करते थे। स्वामीजी उपेक्षा के साथ उत्तर देते थे, "हाथी चले बाजार में कुत्ते भौंके हजार। साधुन को दुर्भाव नहीं जब निन्दे संसार।" कभी कहते थे, "देश में किसी नवीन भाव का प्रचार होते समय उसके विरुद्ध प्राचीनपन्थियों का उठ खड़ा होना प्रकृति का नियम ही है। जगत् के सभी धर्म-

संस्थापकों को इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ा। Persecution (अन्याय-अत्याचार) न होने पर जगत् के कल्याणप्रद भाव समाज-हृदय के अन्तस्तल में सरलता के साथ प्रविष्ट नहीं हो सकते।" अतः साधारण लोगों की तीव्र समालोचना तथा निन्दा-प्रचार से स्वामीजी ज़रा भी विचलित नहीं हुए और उन निन्दाओं को अपने नव-भाव के प्रचारकार्य में सहायक मानकर वे उसके विरुद्ध किसी प्रकार प्रतिवाद तक न करते थे, यहाँ तक कि अपने पदाश्रित संन्यासी व गृहस्थों तक को किसी प्रकार प्रतिवाद करने से निषेध करते थे। वे केवल कहा करते थे, "फल की आशा को छोड़ काम करते जाओ। एक दिन उसका फल प्राप्त होगा ही। 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति'।"

स्वामीजी के देहावसान के पूर्व ही हिन्दू समाज का यह भ्रम दूर हुआ था। इसी वर्ष स्वामीजी ने मठ में शास्त्रमत के अनुसार श्री दुर्गा पूजा कराई थी जिससे अनेक अज्ञ साधारण व्यक्ति अपनी भूल को समझकर अनुतप्त हुए थे।

स्वामीजी वर्तमान समाज की संकीर्णता से उत्पन्न कुछ शास्त्र-विरुद्ध आचार-नियमों की तीव्र समालोचना किया करते थे और उन सब आचार-नियमों की सीमा को तोड़ उदार तथा अधिकतर प्रशस्त नींव पर सामाजिक जीवन को स्थापित करने के लिए शिष्यों को उपदेश दिया करते थे। निरर्थक 'छुआछूत' पर उनका ज़रा भी विश्वास न था। सामाजिक आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में उदारमतावलम्बी होने पर भी धर्म सम्बन्धी सभी अनुष्ठान शास्त्रों के निर्देशों के अनुसार सम्पन्न हो, इस विषय पर वे विशेष दृष्टि रखते थे। १९०१ ई० में स्वामीजी की इच्छा से मठ में श्री दुर्गा-पूजा से लेकर प्रायः अधिकांश पूजाओं का अनुष्ठान हुआ। इस उद्देश्य से स्वामीजी ने अपने शिष्य शरच्चन्द्र के हाथों रघुनन्दन द्वारा रचित 'अष्टाविंशति तत्व' की एक प्रति मँगवा ली थी। कहना न होगा कि पूजा स्मृति के विधानों के अनुसार सम्पन्न हो, इसी उद्देश्य से ही उन्होंने उक्त पुस्तक को मँगवाया था।

स्वामीजी के संकल्प की बात जानकर स्वामी ब्रह्मानन्दप्रमुख उनके गुरुभाई तथा अन्य शिष्यगण बड़े उत्साह के साथ पूजा के सामान जुटाने लगे। किसी प्रकार की पूजा अथवा धार्मिक कृत्य को 'संकल्प' पूर्वक करने का अधिकार संन्यासी का नहीं होता, इसलिए स्वामीजी ने श्री माताजी की अनुमति माँगी। माताजी ने अनुमति दी कि उन्हीं के नाम पर संकल्प होगा। इससे स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। यथासमय कुमारटुली से प्रतिमा मठ में लाई गई। पूजा के पूर्व दिन श्री माताजी ने अपने बागबाज़ार वाले निवासस्थान से मठ में आगमन किया। उनकी अनुमति लेकर ब्रह्मचारी कृष्णलालजी महाराज सप्तमी के दिन पूजक के आसन पर बैठे। कौलाग्रणी तंत्रशास्त्रविशारद पण्डित ईश्वरचन्द्र भट्टाचार्य महाशय ने भी श्री माताजी के निर्देश पर देवगुरु बृहस्पति की तरह तंत्रधारक का आसन ग्रहण किया। यथाशास्त्र श्री दुर्गामाता की पूजा समाप्त हुई। श्री माताजी की इच्छा के अनुसार मठ में पशु का बलिदान नहीं हुआ। बलि के अनुकल्प के रूप में चीनी का नैवेद्य तथा स्तूपाकार मिष्टान्नों के ढेर प्रतिमा की दोनों ओर शोभायमान थे।

"गरीब, दुःखी तथा असहायों को देहधारी ईश्वर मानकर सन्तोषपूर्वक भोजन कराना इस पूजा का विशेष अंग माना गया था। इसके अतिरिक्त बेलुड़, बाली तथा उत्तरपाड़ा के परिचित तथा अपरिचित अनेक ब्राह्मण पण्डितों को भी निमंत्रित किया गया था और वे सभी आनन्दपूर्वक सम्मिलित हुए थे। उस समय से मठ के प्रति उनका पूर्व विद्वेष दूर होकर यह विश्वास हो गया कि मठ के संन्यासीगण यथार्थ में हिन्दू संन्यासी हैं।" *

श्री दुर्गा-पूजा के बाद स्वामीजी की इच्छा के अनुसार मठ में प्रतिमा के सहयोग से श्री लक्ष्मी-पूजा तथा श्री काली-पूजा भी शास्त्रविधि के अनुसार अनुष्ठित हुई। श्री श्यामा-पूजा के बाद स्वामीजी अपनी जननी के साथ

---

* 'विवेकानन्दजी के संग में' पुस्तक से उद्धृत।

कालीघाट गए। बाल्यकाल में एक बार स्वामीजी को कोई कठिन रोग हुआ था। उस समय उनकी जननी ने 'मनौती' मानी थी कि पुत्र के रोगमुक्त होने पर कालीघाट में विशेष पूजा दूँगी और श्री मन्दिर में उसे लोटपोट करा लाएगी। बाद में वे यह बात भूल गई थीं। इस समय स्वामीजी की अस्वस्थता की बात सुनकर उन्होंने अपना मनोभाव व्यक्त करके पुत्र के पास समाचार भेजा। जननी के आदेश के अनुसार कालीघाट की आदिगंगा में स्नान करके भीगे वस्त्र के साथ वे श्री काली माता के पदकमलों के सम्मुख तीन बार लोटपोट हुए। इसके बाद सात बार मन्दिर की प्रदक्षिणा समाप्त कर उन्होंने सभामण्डप के पश्चिम भाग में खुले आँगन में बैठकर होम करना प्रारम्भ किया। यज्ञ की पवित्र अग्नि प्रज्ज्वलित हुई। होमकुण्ड में घृत की आहुति देते हुए कामदेव सदृश कान्तिवाले संन्यासी मानो दूसरे ब्रह्मा के सदृश प्रतीत होने लगे! अनेक व्यक्ति स्वामीजी को घेरकर उनके यज्ञ-सम्पादन का दर्शन करने लगे। स्वामीजी मठ में लौटकर आनन्द के साथ बोले, "कालीघाट में अभी भी कैसा उदार भाव देखा! मुझे विलायत से लौटा हुआ 'विवेकानन्द' जानकर भी मन्दिर के अध्यक्षों ने मन्दिर में प्रवेश करने में किसी प्रकार बाधा न की, बल्कि बड़े आदर के साथ मन्दिर में ले जाकर इच्छा के अनुसार पूजा करने में मेरी सहायता की।"

अद्वैतवादी संन्यासी होकर भी स्वामीजी ने इस प्रकार शास्त्रोक्त विधि के अनुसार मूर्तिपूजा तथा देव-देवी की आराधना करके दिखाया है कि उसमें भी गम्भीर सत्य विद्यमान है। उन्होंने कभी हिन्दू शास्त्र को तथा धर्म को काट छाँटकर तथा इधर उधर जोड़-जाड़ कर अपने मन के अनुसार गढ़ने की चेष्टा न की, बल्कि वे दृढ़तापूर्वक कहते थे, "मैं शास्त्रमर्यादा को विनष्ट करने के लिए नहीं — पूर्ण करने के लिए ही आया हूँ।"— I have come to fulfil, not to destroy, इस कथन के साथ उनके कर्म की एकता हमने उनके जीवन में अनेक बार देखी है।

अक्टूबर मास में फिर से रोग का प्रकोप बढ़ गया — स्वामीजी शय्या पर फिर पड़ गए। कलकत्ते के उस समय के प्रसिद्ध डाक्टर मि० सॅन्डर्स चिकित्सा करने लगे। सभी प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम निषिद्ध हुए। जिससे स्वामीजी किसी गम्भीर तथा कठिन तत्व की चर्चा न कर सकें इस बात के बारे में मठ के संन्यासी बहुत सावधान हो गए। कुछ दिनों के बाद कुछ स्वस्थ होने पर भी स्वामीजी पग पग पर गुरुभाइयों द्वारा बाधा प्राप्त होने के कारण अपनी इच्छा के अनुसार कार्य न कर सकते थे। वे आगन्तुक सज्जनों के साथ स्वामीजी को अधिक देर तक वार्तालाप आदि भी न करने देते थे। स्वामीजी का शरीर रहने से भविष्य में जगत् का विशेष कल्याण होगा, इसी विश्वास से ही यथेष्ट सावधानता का अवलम्बन किया था। परन्तु विवेकानन्द निश्चेष्ट होकर बैठे रहनेवाले नहीं थे,— अवसर व सुभीता पाते ही मठ के घरेलू छोटे छोटे कार्यों को अपने हाथ से करके आनन्द का अनुभव करते थे। कभी मधुर कण्ठ से आध्यात्मिक संगीत गाकर श्रोताओं के हृदय में भगवत्प्रेम उद्दीपित करते थे, कभी प्रातः व सायंकाल गम्भीर मंत्र से प्राचीन युग के ऋषियों की तरह पवित्र वेद-मंत्रों का उच्चारण करते थे और कभी बालकों की तरह चपलता के साथ हँसी-खेल किया करते थे। कभी कभी वे काफी देर तक पद्मासन में बैठकर ध्यानमग्न रहा करते थे।

शारीरिक अस्वस्थता के कारण वे पूर्ण उद्यम के साथ नवयुग के सन्देश का प्रचार नहीं कर सकते थे, इसलिए गम्भीर क्षोभ के साथ कभी कभी हतोत्साह होकर बैठे रहते थे। उनका विश्वास था कि कुछ चरित्रवान, बुद्धि-वान, दूसरों के लिए सर्वस्व त्यागने वाले आज्ञाकारी युवक पाने पर वे देश की चिन्ता व चेष्टा को नवीन पथ पर चला सकते थे। चेहरा तामसिकता से पूर्ण, हृदय उद्यम से शून्य, शरीर अपटु तथा मन साहस से रहित,— युवकों में से अधिकांश की ही इस प्रकार शोचनीय स्थिति देख वे अफसोस करते हुए कितनी ही बातें कहा करते थे — विशेष रूप से वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का

उल्लेख कर वे कहते थे कि इससे युवकों की तीक्ष्ण बुद्धिवृत्ति इस प्रकार गठित की जाती है कि वह उच्च भावों को धारण करने के लिए सम्पूर्ण अयोग्य बन जाती है। कोई कोई उच्च भावों को धारण करने में समर्थ होने पर भी मज्जागत दुर्बलता के कारण कार्यक्षेत्र में उन भावों का विकास नहीं कर सकते। वीरता की कठोर महाप्राणता के आदर्श को देश के युवकों के सम्मुख उपस्थित कर उन्हें नवीन रूप में तैयार करना होगा। अत्यधिक कल्पनाप्रिय, विलासप्रिय, विकृतबुद्धियुक्त दुर्बल मस्तिष्कों को सतेज सबल बनाना होगा। व्यायाम आदि शारीरिक परिश्रम की सहायता से देह को बलवान, स्वस्थ तथा मांसपेशियों को लोहे की तरह सुदृढ़ बनाना होगा। पुरुष पुरुष की ही तरह होंगे, चेष्टा करके औरत क्यों बनेंगे?— मर्मान्तिक दुःख के साथ विवेकानन्द यही सोचा करते थे। वीरता की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने बंगाल प्रान्त में महावीर हनुमान की पूजा चलाना चाहा था। स्वामीजी कहते थे, "महावीर के चरित्र को ही अब तुम्हें अपना आदर्श बनाना होगा। देखो न, राम की आज्ञा से समुद्र फाँदकर चले गए!— जीने-मरने की परवाह नहीं — महा जितेन्द्रिय, महा बुद्धिमान! दास्यभाव के उसी महान् आदर्श पर तुम्हें जीवन गठित करना होगा। दुविधाविहीन होकर गुरु की आज्ञा का पालन तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा — यही है सफलता का एक मात्र गुप्त उपाय!— नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। (अवलम्बन करने योग्य दूसरा पथ नहीं है।) हनुमानजी का एक ओर जिस प्रकार सेवा का भाव — दूसरी ओर उसी प्रकार तीनों लोकों को कँपा देने वाला सिंहविक्रम। श्रीरामचन्द्रजी के कार्य के लिए जीवन का विसर्जन कर देने में भी वे ज़रा भी दुविधा नहीं रखते। राम-सेवा के अतिरिक्त अन्य सभी बातों की उपेक्षा! केवल रघुनाथजी के आदेश का पालन ही जीवन का एक मात्र व्रत है! उसी प्रकार एकाग्रनिष्ठ होना चाहिए। खोल करताल बजाकर उछलकूद मचाते मचाते देश बरबाद हो गया। एक तो यह पेटरोगियों (Dyspeptic) का दल है — उस पर फिर उतनी उछलकूद

कैसे सहन होगी? कामगंधहीन उच्च साधना का अनुकरण करने के प्रयास में देश घोर तमोगुण से आच्छन्न हो गया। देश देश में, गाँव गाँव में — जहाँ भी जाओ, देखोगे खोल करताल बज रहे हैं। क्या नगारे देश में तैयार नहीं होते? तूरी-भेरी क्या भारत में नहीं मिलती? लड़कों को वे सब गुरुगम्भीर आवाज़ सुनाओ। बचपन से औरतों का सा बाजा सुन-सुनकर देश औरतों का देश बन गया है। इससे बढ़कर और अधःपतन क्या होगा? कवि की कल्पना भी इस चित्र को खींचने में असमर्थ होती है। डमरू-सिंगा बजाना होगा। नगारे के ब्रह्मरुद्र ताल का दुंदुभीनाद उठाना होगा। 'महावीर महावीर' की ध्वनि से तथा 'हर हर व्योम व्योम' की गर्जना से दिशाओं को कम्पित कर देना होगा। जिन सब गीत वाद्यों से मनुष्य हृदय के कोमल भावसमूह उद्दीपित होते हैं उन सभी को थोड़े दिनों के लिए बन्द रखना होगा। ख्याल, टप्पा बन्द करके लोगों को ध्रुपद गान सुनाने का अभ्यास कराना होगा। वैदिक छन्दों की गुरुगम्भीर ध्वनि से देश में प्राण का संचार करना होगा। सभी विषयों में वीरता की कठोर महाप्राणता लानी होगी।"

१९०१ ई० के दिसम्बर मास के अन्त में कलकत्ते में राष्ट्रीय महासभा का एक अधिवेशन हुआ। इस अवसर पर भारत के विभिन्न स्थानों से प्रतिनिधि कलकत्ता पधारे थे। यह जानकर कि स्वामीजी बेलुड़ मठ में हैं वे प्रतिदिन काफी संख्या में मठ में आने लगे। कांग्रेस के विशिष्ट प्रतिनिधियों में से अनेक व्यक्ति उन्हें नवीन भारत का अन्यतम नेता मानकर उन पर श्रद्धा रखते थे। इन सब नेताओं के साथ स्वामीजी ने अंग्रेजी के बजाय हिन्दी भाषा में वार्तालाप किया था। देश की वर्तमान दुर्दशा तथा अभाव और उनके प्रतिकार के उपाय के सम्बन्ध में स्वामीजी के विचारों से अनेक व्यक्ति प्रभावित हुए थे। सभी जानते हैं कि स्वामीजी का दृढ़ विश्वास था कि उस समय के राजनैतिक आन्दोलन द्वारा शक्तिक्षय के अतिरिक्त और कोई विशेष लाभ न होगा। इसी समय एक व्यक्ति ने पूछा था, "स्वामीजी,

कांग्रेस के बारे में आप की क्या राय है?" उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ, जिससे समग्र भारत में एकता स्थापित हो ऐसी संस्था बुरी नहीं है।"

स्वामीजी की महासमाधि के बाद इस समय की बात का उल्लेख कर लखनऊ के 'एडवोकेट' पत्रिका के सम्पादक ने लिखा था —

"गत कांग्रेस के अवसर पर मैंने उन्हें अन्तिम बार कलकत्ते में देखा था। विशुद्ध व उच्च श्रेणी की हिन्दी में उन्होंने बड़ी आसानी से वार्तालाप किया था। उनकी हिन्दी भाषा किसी भी उत्तर-पश्चिमांचलनिवासी के लिए गौरव की बात हो सकती थी। जिस समय वे भारत के पुनरभ्युत्थान के बारे में अपने विचार व्यक्त कर रहे थे उस समय उनका मुखमण्डल उत्साह से उद्दीप्त हो उठा था।"

स्वामीजी ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों से प्रधानतः एक वेद-विद्यालय की स्थापना के विषय पर चर्चा की थी। उनका विचार था कि इस विद्यालय में प्राचीन आर्यों के आदर्श के अनुसार आचार्य व प्रचारक संन्यासी तैयार किये जायँ; संस्कृत साहित्य, दर्शन, वेद, उपनिषद इत्यादि की शिक्षा दी जाय। स्वामीजी द्वारा प्रस्तावित इस वेद-विद्यालय की स्थापना के प्रति बहुत से लोगों ने सहानुभूति प्रकट की तथा वचन दिया कि वे यथासाध्य सहायता करेंगे। इस विषय का उल्लेख कर कांग्रेस के एक अन्य प्रतिनिधि ने लिखा है,—

"कलकत्ते में एक वेद-विद्यालय की स्थापना करने की उनकी (स्वामीजी की) अन्तिम आशा अभी असम्पूर्ण रही है। उनके देहावसान से कुछ मास पूर्व बड़े दिनों की छुट्टियों में कलकत्ते में राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन हुआ था। उसमें भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों से प्रतिनिधि, संस्कारक, अध्यापक तथा अन्य विभागों के अनेक महान् व्यक्ति पधारे थे। उनमें से अनेक व्यक्ति कलकत्ते में रहते समय स्वामीजी के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए प्रतिदिन तीसरे प्रहर बेलुड़ मठ में जाया करते थे। स्वामीजी समाज-नीति, राजनीति आदि विभिन्न विषयों पर यथेष्ट शिक्षादान करते थे। वास्तव

में वे सभाएँ कांग्रेस जैसी ही होती थीं, यहाँ तक कि आदर्श की दृष्टि से तो उससे भी उन्नत तथा कल्याणकर होती थीं। कलकत्ते में वेद-विद्यालय की स्थापना करने के प्रस्ताव पर उपस्थित सभी ने उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिये यथाशक्ति सहायता देने का वचन दिया था, परन्तु संकल्प के कार्यरूप में परिणत होने से पूर्व ही उन्होंने अपनी इहलोक की लीला समाप्त कर दी।"

वेद-विद्यालय की स्थापना करने का उनका संकल्प बहुत दिनों से ही था। उक्त कार्य में यथेष्ट धन तथा कुछ चरित्रवान धार्मिक तथा वेदज्ञ अध्यापकों की आवश्यकता समझकर स्वामीजी सहसा इस कालेज की स्थापना में अग्रसर न हुए थे। परन्तु जीवन के अन्तिम भाग में इस विषय में उनका झुकाव विशेष बढ़ गया था। गुरुभाइयों के साथ परामर्श कर कुछ अर्थ-संग्रह करके मठ में ही छोटे रूप में एक योग्य पण्डित की देखरेख में एक शिक्षालय स्थापन करने का निश्चय उन्होंने किया; यहाँ तक कि उन्होंने स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को 'उद्बोधन' प्रेस बेच डालने का उपदेश दिया। प्रेस बेचकर जो धन प्राप्त हुआ वह उक्त वेद-विद्यालय की स्थापना के लिए जमा रखा गया। उन्होंने निश्चय किया कि स्वास्थ्य कुछ अच्छा होते ही वे इस संकल्प को लेकर जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित होंगे। परन्तु कुछ ही महीनों के बाद उनका देहत्याग हो जाने से सारी व्यवस्था बिगड़ गई। अस्तु,—

अब कुछ वर्षों से बेलुड़ मठ के भूतपूर्व सहकारी अध्यक्ष श्री स्वामी प्रेमानन्द के यत्नों से एक संस्कृतज्ञ विद्वान को मठ-भवन में रखा गया है। उनसे ब्रह्मचारीगण नियमित रूप से संस्कृत भाषा व शास्त्रादि का अध्ययन करते हैं। स्वामीजी के संकल्प की तुलना में यह संस्था छोटी होने पर भी नगण्य नहीं है और हमारा विश्वास है, महापुरुष का संकल्प कभी व्यर्थ न होगा।

इसी वर्ष के अन्तिम भाग में जापान से दो विख्यात विद्वान बेलुड़ मठ में पधारे। जापान में एक धर्ममहासभा बुलाने का संकल्प लेकर वे विशेष रूप से स्वामीजी से ही मिलने के लिए आये थे। जापान के एक बौद्ध मठ के

अन्यतम नायक रे० ओड़ा स्वामीजी से बोले, "आप जैसे विख्यात व्यक्ति यदि इस कार्य में सहायक हों तो हमारा उद्देश्य अवश्य ही सफल होगा। जापान में इस समय धर्म का संस्कार विशेष आवश्यक हो गया है। आप जैसे शक्तिशाली आचार्य के अतिरिक्त यह कार्य और किसके द्वारा सम्पन्न हो सकेगा?" उक्त महोदय के साथ ही डा० ओकाकुरा भी जापान की वर्तमान स्थिति का वर्णन कर स्वामीजी से अनुरोध करने लगे। जड़ सभ्यता की दृष्टि से तेजी के साथ उन्नति करने वाले जापान में धर्मभाव की कमी की बात सुन स्वामीजी के हृदय में जोश भर आया। शारीरिक अस्वस्थता की बात भूलकर वे जापान जाने के लिए तैयार हुए।

स्वामीजी के अलौकिक चरित्र तथा उदारता से मुग्ध होकर वे लोग मठ ही में निवास करने लगे। स्वामीजी प्रतिदिन भगवान बुद्ध देव तथा बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में इनके साथ चर्चा किया करते थे। पाश्चात्य पण्डितों ने बौद्ध दर्शन को हिन्दू दर्शनों के नितान्त विपरीत बताकर जो मन्तव्य प्रकट किये हैं, स्वामीजी उनका खण्डन कर दिखा देते थे कि बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म की विद्रोही सन्तान होने पर भी बुद्ध देव के अधिकांश उपदेशों के साथ उपनिषदों का काफी मेल है। फलतः उपनिषद के ज्ञानकाण्ड पर ही बौद्ध दर्शन की नींव है। जापानी पण्डितगण स्वामीजी के बौद्ध धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों को सुनकर विस्मित हुए। उन्होंने देखा, इस सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली संन्यासी ने बौद्ध धर्म सम्बन्धी अधिकांश ग्रन्थों का यत्नपूर्वक अध्ययन किया है। वे समय समय पर यह नहीं समझ पाते थे कि स्वामीजी को बौद्ध श्रमण कहेंगे या हिन्दू संन्यासी!

कुछ दिनों बाद १९०२ ई० के जनवरी मास में स्वामीजी डा० ओकाकुरा का आमंत्रण स्वीकार कर उनके साथ बुद्ध गया में जाने के लिए तैयार हुए। यह भी निश्चय हुआ कि वे वहाँ से काशीधाम में जाकर कुछ दिन विश्राम करेंगे। स्वामीजी के परिव्राजक जीवन का यही अन्तिम भ्रमण था।

बहुत दिनों के बाद विवेकानन्द आज फिर उसी पवित्र बोधिद्रुम के

नीचे पद्मासन में ध्यानमग्न हैं ! तीव्र वैराग्य से प्रेरित हो बालक श्री नरेन्द्रनाथ एक दिन इसी बोधिद्रुम के नीचे सत्य-प्राप्ति की इच्छा से ध्यानमग्न हुए थे। उनकी वह साधना सिद्ध हुई थी। उन्होंने समझा था,—उन्मत्त की तरह भटकने से कुछ प्राप्त न होगा। जिस महापुरुष का संग छोड़ वे इतने दूर दौड़े हुए आए हैं उसी पागल पुजारी के पैरों तले फिर लौट जाना होगा। उनकी विश्वशोषी पिपासा की निवृत्ति के लिए एक मात्र वहीं पर अमृत-वारि है। वह एक दिन था—जब उन्होंने अपने जीवन के प्रथम प्रभात के धुँधले आलोक में जिस सत्य की उपलब्धि की थी, आज इस शान्त, स्तब्ध, महिममय जीवनसन्ध्या में क्या उसकी स्मृति नहीं जाग उठी है ? उनके जीवन का जो उद्देश्य था, वह तो पूर्णतया सिद्ध हो चुका है—फिर आज भी वे पूर्ण रूप से उदासीन क्यों न हो सके ? पाठक, एक बार कल्पना के नेत्रों से भगवान बुद्ध देव के पवित्र साधन-पीठ पर बैठे हुए इन संन्यासी के करुणाकातर मुख-मण्डल की ओर देखो, समझ सकोगे, यह ध्यान, यह साधना अपनी मुक्ति की कामना से नहीं है। एक उत्पीड़ित, उपेक्षित, दुःखी, पतित जाति के प्रतिनिधि के रूप में,—तीस करोड़ मानवों के कातर आर्त नाद की असीम प्रतिध्वनि को वक्ष में धारण कर वे बोधिद्रुम के नीचे आज ध्यानमग्न हैं। इसी सिद्धासन पर कितने ही वर्ष पूर्व एक दूसरे महापुरुष निखिल विश्व के दुःखों को दूर करने की कामना से ध्यानमग्न हुए थे—भारत के अतीत इतिहास में वह एक स्मरणीय दिन था और एक दिन आएगा जब भावी सन्तान अपने महिमा-समुज्ज्वल अतीत इतिहास में इस दिन को भी सुवर्णाक्षरों से लिखकर रखेंगे।

बुद्ध-गया मठ के महन्तमहाराज स्वामीजी की प्रसिद्धि की बात बहुत दिनों से सुनते आ रहे थे। आज उन्हें अप्रत्याशित रूप से अतिथि के रूप में प्राप्त कर महन्तजी के आनन्द की सीमा न रही। स्वामीजी को किसी प्रकार असुविधा न होने पाए इसलिए स्वयं उन्होंने सभी प्रकार की व्यवस्था कर

दी। कुछ दिन ध्यान के आनन्द में बिताकर स्वामीजी ने वाराणसी की ओर यात्रा की।

स्वामीजी के उपदेशों, शिक्षा तथा उत्साह द्वारा उद्‌बुद्ध होकर कुछ बंगाली युवक एकत्र होकर अनाथ, रोगग्रस्त, असहाय तीर्थयात्रियों की सेवा के लिए अग्रसर हुए थे। एक छोटा सा मकान किराये पर लेकर वे राजपथ तथा गंगाघाट से बूढ़े, रोगी नरनारियों को उठाकर वहाँ पर ले जाते थे और यथा-साध्य औषध, पथ्य, सेवा आदि द्वारा उनके कष्ट को कम करने की चेष्टा करते थे। श्रद्धा व निष्ठा के साथ नारायण मानकर दीन-दुखियों की सेवा में आत्मोत्सर्ग करनेवाले युवकों की यह दृढ़ता देखकर स्वामीजी को बड़ा हर्ष हुआ था। यह कहकर कि बेलुड़ मठ में बैठकर उनके आदर्श को कार्य रूप में परिणत करने के लिए अभी तक कोई नहीं आ रहा है, वे कभी कभी खिन्न हो जाते थे, परन्तु आज इन थोड़े से युवकों का कार्य देख उनका वह दुःख दूर हुआ। वे गर्व तथा आनन्द के साथ अपने मानसपुत्रों की कार्य-प्रणाली का पर्यवेक्षण करने लगे। उत्साह देते हुए वे बोले, "वत्स, तुम लोगों ने सत्य मार्ग जान लिया है। मेरा प्रेम तथा आशीर्वाद सदा तुम्हारा कल्याण करे। साहस के साथ अग्रसर होते जाओ, अपने अभावों के लिए निराश न होना — धन आएगा। तुम्हारी इस छोटी सी संस्था की नींव पर भविष्य में जो कुछ होगा वह तुम्हारी वर्तमान प्रियतम कल्पनाओं को भी लाँघ जायगा।"

स्वामीजी ने इस नवीन 'रामकृष्ण सेवाश्रम' की प्रथम रिपोर्ट के साथ जनसाधारण के निकट आर्थिक सहायता की प्रार्थना कर एक आवेदन-पत्र लिखा। स्वामीजी से उत्साह व आशीर्वाद प्राप्त कर युवकों का कर्मोत्साह सौगुना बढ़ गया। काशीधाम में सेवाधर्म के सुवर्ण-सौध की नींव चिर काल के लिए स्थापित हो गई। उसके बाद कितनी बाधाएँ, विपत्तियाँ, असुविधाएँ आईं, पर उन सब के साथ संग्राम कर सेवाश्रम वर्तमान स्थिति तक पहुँच गया है — आत्मत्याग के उस सुदीर्घ यशस्वी इतिहास को लिखने के लिए

यहाँ स्थान नहीं है। स्वामीजी की भविष्य वाणी आज सफल हुई है। उसके बाद देखते ही देखते भारत के अनेकानेक स्थानों में सेवाश्रमों की स्थापना हुई। त्यागी ब्रह्मचारी व संन्यासीगण बारी बारी से रोगियों को नारायण जानकर चुपचाप उनकी सेवा करते हुए स्वयं धन्य हो रहे हैं — देश को धन्य कर रहे हैं। काशी रामकृष्ण सेवाश्रम के प्रतिष्ठाताओं में अन्यतम चारुचन्द्र दास महाशय — जो आजीवन सतत उत्साह के साथ इस संस्था की सेवा करते हुए इस समय परलोक सिधार गए हैं, वह विवेकानन्दगतप्राण ख्यातिविहीन स्वदेशसेवक नीरव कर्मी, — बंगाली थे इसलिए क्या हम आज गर्व का अनुभव नहीं करेंगे ?

नवीन स्थापित रामकृष्ण मठ के जो सब संन्यासी सेवाव्रत को मुक्ति का अन्यतम उपाय जानकर 'नारायण' की सेवा में सर्व प्रथम अग्रसर हुए थे उन्होंने राष्ट्र के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग करने की दिव्य प्रेरणा को केवल स्वामीजी के ओजपूर्ण उपदेशों से ही प्राप्त नहीं किया था। उन्हें विवेकानन्द का जीवन आदर्श के रूप में प्राप्त हुआ था — जिनके प्रतिदिन के छोटे छोटे कार्यों में भी सेवा का यह भाव मिला हुआ रहता था। किस प्रकार दुःखी, पतित, लाचार व्यक्तियों के हृदय से अपना हृदय मिलाकर उनके दुःख, दीनता तथा व्यथा का अनुभव किया जाता है — और उसके बाद कृतज्ञ चित्त से असीम निष्ठा के साथ उसके प्रतिकार का उपाय अवलम्बन किया जाता है, — इस बात को उन्होंने स्वामीजी के जीवन में अनेक बार प्रत्यक्ष किया था।

१९०१ ई० के अन्तिम भाग में स्वामीजी की बुद्ध-गया-यात्रा से कुछ दिन पूर्व बेलुड़ मठ में एक मर्मस्पर्शी घटना हुई, जिससे दीनदुखियों के प्रति उनकी अपार कृपा की स्मृतिरेखा सेवाव्रती कर्मियों के हृदय में चिर काल तक अंकित रहेगी।

"मठ की जमीन को साफ करने के लिए प्रति वर्ष कुछ संथाल स्त्री-

पुरुष आते थे। स्वामीजी उनके साथ कभी कभी हँसी-खेल करते थे तथा उनके सुख-दुःख की बात बड़े ध्यान से सुनते थे। एक दिन कलकत्ता से कुछ विशिष्ट भद्र पुरुष मठ में स्वामीजी के साथ साक्षात्कार करने आए। स्वामीजी उस दिन संथालों के साथ गप्पें लड़ाने में इतने मस्त थे कि स्वामी सुबोधानन्द ने आकर उन्हें जब उन सब व्यक्तियों के आने का समाचार दिया तो वे बोल उठे, 'मैं अब किसी से मिल न सकूँगा, इनके साथ बड़े मजे में हूँ।' और वास्तव में उस दिन स्वामीजी उन सब दीन-दुखी संथालों को छोड़ आगन्तुक भद्र महोदयों से मिलने न गए। संथालों में से एक व्यक्ति का नाम था केष्टा। स्वामीजी का केष्टा से बहुत स्नेह था। कभी कभी जब स्वामीजी उससे बात करने जाते थे तो वह कहता था, 'अरे स्वामी बाप, तू हमारे काम के समय यहाँ न आया कर—तेरे साथ बात करने पर हमारा काम बन्द हो जाता है और बूढ़ा बाबा आकर हमें बकता है।' यह बात सुनकर स्वामीजी की आँखों में आँसू भर आए और वे बोले, 'नहीं नहीं, बूढ़ा बाबा (स्वामी अद्वैतानन्द) नहीं बकेगा, तू अपने देश की बातें बता'—और यह कहकर वे उनके पारिवारिक सुख-दुःख की बातें छेड़ देते थे।"

एक दिन स्वामीजी ने केष्टा से कहा,—"अरे, तुम लोग हमारे यहाँ खाओगे?" केष्टा बोला, "हम अब तुम्हारा छुआ नहीं खाते, हमारी शादी हो गई है, तुम लोगों का छुआ नमक खाने पर जात जाएगी बाप।" स्वामीजी बोले, "नमक क्यों खाएगा? बिना नमक की तरकारी पका देंगे, फिर तो खाएगा न?" केष्टा इस बात में राजी हो गया। इसके बाद स्वामीजी के निर्देश पर मठ में उन सब संथालों के लिए पूड़ी-तरकारी, मिठाई, दही आदि का प्रबन्ध किया गया और वे स्वयं बैठकर उन्हें खिलाने लगे। खाते खाते केष्टा बोला, "अरे स्वामी बाप, तुम्हें ऐसी चीज़ें कहाँ से मिलीं—हमने तो कभी ऐसा नहीं खाया।" स्वामीजी उन्हें सन्तोषपूर्वक खिलाकर' बोले, "तुम लोग जो नारायण हो—आज मेरे नारायण का भोग हुआ।'

स्वामीजी जो दरिद्रनारायण की सेवा करने को कहते थे उसे वे इस प्रकार स्वयं करके दिखा गए हैं।

भोजन के बाद जब संथालगण आराम करने गए तो स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "इन्हें देखा, मानो साक्षात् नारायण हैं—ऐसा सरल भाव—ऐसा निष्कपट सच्चा प्रेम और कभी नहीं देखा था।" बाद में मठ के संन्यासियों को लक्ष्य करके बोले,—"देखो ये लोग कैसे सरल हैं। इनका दुःख कुछ दूर कर सकोगे? नहीं तो गेरुआ वस्त्र पहनकर फिर क्या किया? दूसरों के हित के लिए सर्वस्व का अर्पण,—इसी का तो नाम है वास्तव संन्यास। इन्हें कभी कुछ अच्छा खाद्य पदार्थ प्राप्त ही न हुआ। इच्छा होती है, मठ-फट सब बेचकर इन सब गरीब दुःखी दरिद्रनारायणों में बाँट दूँ। हमने तो वृक्षतल को ही सहारा बनाया है। अहो, देश के लोगों को खाना नसीब नहीं हो रहा है—हम किस प्राण से मुँह में ग्रास उठा रहे हैं? * * * देश के लोगों को दोनों समय दो दाने अन्न न पाते देख कभी कभी मन में आता है—छोड़ दूँ यह शंख फूँकना और घण्टा हिलाना, छोड़ दूँ लिखना पढ़ना तथा स्वयं मुक्त होने की चेष्टा भी—सब लोग मिलकर गाँव गाँव में घूमकर चरित्र व साधना के बल पर धनियों को समझाकर धन संग्रह कर लाएँ और दरिद्रनारायणों की सेवा करते हुए हम जीवन बिता दें।—

"अहो, देश के गरीब दुखियों के लिए कोई नहीं सोचता है। जो राष्ट्र की रीढ़ की हड्डियाँ हैं,—जिनके परिश्रम से अन्न पैदा हो रहा है,—जिन मेहतर-भंगियों का एक दिन काम बन्द होने पर शहर में हाहाकार मच जाता है, उनके साथ सहानुभूति करें, उनके सुख-दुःख में सान्त्वना दें,—देश में ऐसा कोई भी नहीं है रे! यह देखो न—मद्रास प्रान्त में हिन्दुओं की सहानुभूति न पाकर हज़ार हज़ार पेरिआ ईसाई बनते जा रहे हैं। ऐसा न समझना कि केवल पेट भरने के लिए ही ईसाई बनते हैं, बल्कि हमारी सहानुभूति नहीं पाते इसलिए ईसाई बन रहे हैं। हम दिन रात केवल उनसे कहते

हैं, 'मत छुओ, मत छुओ।' देश में क्या और दया धर्म है रे बाबा? केवल छुआछूत वालों का दल — ऐसे आचार के मुँह पर झाड़ू मार — लात मार! इच्छा होती है—तुम्हारी छुआछूत की सीमा को तोड़ अभी निकल जाऊँ — 'कौन कहाँ पतित है, दुःखी, दीन, दरिद्र, कौन कहाँ हो' यह कहकर उन सभी को श्रीरामकृष्ण देव के नाम पर बुला लाऊँ। इनके उठे बिना माँ न जागेगी। हम यदि इनके अन्न-वस्त्र की व्यवस्था न कर सके तो फिर किया क्या! हाय! वे दुनियादारी कुछ भी नहीं जानते, इसलिए रात दिन मेहनत करके भी अन्न-वस्त्र की व्यवस्था नहीं कर सक रहे हैं। आओ, सब मिलकर इनकी आँखें खोल दें — मैं दिव्यदृष्टि से देख रहा हूँ। इनमें और मुझमें एक ही ब्रह्म, एक ही शक्ति मौजूद है — केवल विकास की ही न्यूनाधिकता है। सभी अंगों में रक्त का संचार हुए बिना किसी भी देश को कभी कहीं पर उठते देखा है? निश्चित जानना कि एक भी अंग के बिगड़ जाने पर — अन्य सब अंग भले ही सबल रहें, शरीर किसी काम का नहीं रहता।

स्वामीजी अपने कर्मजीवन में इस अथक सेवाव्रत को वास्तव रूप दे सके थे, इसीलिए तो आज उनके आवेगपूर्ण आह्वान से राष्ट्र जाग्रत हुआ है। इसीलिए तो आज 'भीरु बंगाली' अपनी सदियों की दुर्बलता को फेंककर दुर्भिक्ष, बाढ़, प्लेग, महामारी के साथ संग्राम कर रहे हैं — और आगामी युग का वह दिन भी निकट जान पड़ रहा है जब इसी महापुरुष के ईप्सित सेवाव्रतधारी शूरवीर-गण आविर्भूत होकर स्वदेश के मुख को उज्ज्वल करेंगे। कवि की यह भविष्य वाणी अवश्य ही सार्थक होगी इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं—

"वीर संन्यासी विवेकेर वाणी छुटे छे जगत्मय,
बांगालीर छेले, बाघे ओ बलदे घटाबे समन्वय।"

अर्थात् "वीर संन्यासी विवेकानन्द की वाणी समग्र पृथ्वी भर में फैल रही है, बंगाल का सपूत बाघ और बैल में मेल करा देगा।"

श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव को निकट जानकर स्वामीजी काशी से बेलुड़ मठ में लौट आए। काशी की आबहवा से स्वामीजी कुछ स्वस्थ हुए थे। परन्तु मठ में आकर रोग इतना बढ़ गया कि वे शय्याग्रहण करने के लिए बाध्य हो गए। श्रीरामकृष्णोत्सव के दिन आनन्द पर एक विषाद की छाया दिखने लगी। अनेक व्यक्ति स्वामीजी के दर्शन की इच्छा से आए थे। पर संकल्प सिद्ध होने का कोई उपाय न देख वे निराश हो गए। स्वामीजी ने इच्छा की थी कि जनता के सम्मुख आएँगे, परन्तु प्रातःकाल दो-चार आगन्तुकों के साथ वार्तालाप करके उन्हें इतनी थकावट मालूम होने लगी कि और अधिक बाहर आने का साहस वे न कर सके।

मठ का विशाल प्रांगण जनपूर्ण था। कहीं कीर्तन हो रहा है तो कहीं प्रसाद बाँटा जा रहा है। इस आनन्दोत्सव में स्वामीजी को सम्मिलित होने में असमर्थ देख अनेक व्यक्ति दुःखी हुए। उस दिन श्री० शरच्चन्द्र चक्रवर्ती महाशय स्वामीजी के पास बैठे थे। स्वामीजी की धीरे धीरे बढ़ती हुई रोग-यंत्रणा तथा शारीरिक अस्वस्थता को देख उनका मुख म्लान हो गया, उनका हृदय विदीर्ण हो गया और वे आँसू बहाने लगे। स्वामीजी ने शिष्य का मनोभाव समझकर कहा, "क्या सोच रहे हो? शरीर पैदा हुआ है, नष्ट भी होगा। यदि मैं तुम लोगों में अपने भावों को कुछ कुछ भी प्रविष्ट कराने में समर्थ हो सका, तभी जानूँगा कि मेरा शरीरधारण सार्थक हुआ है।"

थोड़ी देर बाद भगिनी निवेदिता ने कुछ अंग्रेज़ महिलाओं के साथ आकर गुरुदर्शन के बाद थोड़ी ही देर में बिदा ली। स्वामीजी को कष्ट होगा, यह सोचकर वह अधिक देर तक न ठहरीं। दिन के ढाई बजे के बाद शरदबाबू एक बार उत्सव-प्रांगण का परिदर्शन कर आए और आकर स्वामीजी से उत्सव की बातें बताने लगे। शिष्य के मुँह से पचास हजार लोगों के एकत्रित होने का समाचार सुन उन्हें देखने के लिए उन्होंने बड़े कष्ट से खिड़की के डण्डे को पकड़कर धीरे से खड़े होकर उस जनसमुदाय के प्रति दृष्टिपात किया।

कहा, 'अधिक से अधिक तीस हज़ार।' अधिक देर तक खड़े रहना उनके लिये असम्भव था। थोड़ी देर बाद वे फिर से शय्या पर लेट गए।

इस दिन उत्सव के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि इस समय जिस प्रणाली से उत्सव चल रहा है उसे बदलकर चार-पाँच दिनों के उत्सव की व्यवस्था करना अच्छा होगा। प्रथम दिन शास्त्रपाठ व व्याख्या, दूसरे दिन वेदान्त का विचार व मीमांसा, तीसरे दिन प्रश्नोत्तर सभा, चौथे दिन श्रीरामकृष्ण देव की जीवनी तथा उनके प्रदर्शित आदर्श व मार्ग के सम्बन्ध में भाषण व चर्चा और अन्तिम दिन प्रसादवितरण व दरिद्रनारायणसेवा। उत्सव के उपलक्ष्य में ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे श्रीरामकृष्ण देव के जीवन-गठन योग्य भाव सभी शिक्षित व्यक्तियों के हृदय में प्रविष्ट हों। महोत्सव का अनुष्ठान यदि उनके भाव-प्रचार के केन्द्र के रूप में परिवर्तित न हो तो ऐसा समझना निरर्थक है कि कुछ लोग मिलकर केवल हल्ला-गुल्ला करने से ही श्रीरामकृष्ण देव के भाव का प्रचार हो गया। सामयिक धर्मभाव की उत्तेजना में कीर्तन, नृत्य आदि द्वारा विशेष कुछ भी न होगा।

लगातार औषध-सेवन तथा नियम कानून के नियंत्रण में रहते हुए स्वामीजी विरक्त हो गए। उन्होंने सुना कि उनके गुरुभाईगण गम्भीर दार्शनिक तत्व आदि की आलोचना होने की आशंका से अनेक जिज्ञासु व्यक्तियों को उनके साथ साक्षात्कार करने की अनुमति नहीं देते हैं, अनेक व्यक्ति प्रतिदिन निराश होकर खिन्न मन से मठ से लौट जाते हैं। एक दिन उन्होंने गुरुभाइयों को बुलाकर कहा, "देखो, इस देह को रखकर और क्या होगा? पर-कल्याण में इसका पतन हो जाय। श्रीरामकृष्ण देव ने असहनीय रोगयंत्रणा को सहन करके भी जीवन के अन्तिम दिन तक परहित के लिए उपदेश दिया है। मुझे भी क्या ऐसा ही करना उचित नहीं? तृण जैसी यह मामूली देह रहे या जाय, मैं इसकी परवाह नहीं करता। सत्य के अनुसन्धानकारी व्यक्तियों के साथ आलोचना करने में जो मुझे आनन्द होता है इसकी तुम लोग कल्पना

भी नहीं कर सकोगे। अपने स्वदेशवासी भाइयों की आत्मा की अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत करने में सहायता करने के लिए बार बार जन्म ग्रहण करने से भी मैं विचलित नहीं होता।"

इससे पूर्व स्वामीजी जब कभी स्वस्थता का कुछ अनुभव करते थे उसी समय कोई न कोई काम आरम्भ कर देते थे। अलस होकर बैठे रहना उनके लिए बिल्कुल असम्भव था। मार्च मास के प्रथम भाग से जीवन के अन्तिम दिन तक, इन चार मास में शारीरिक अस्वस्थता की परवाह न करते हुए उन्होंने नाना प्रकार से जो असाधारण परिश्रम किया था वह वास्तव में विस्मय-कर है। जिस समय वे एकाग्र चित्त से किसी कार्य में युक्त होते थे उस समय वे इस बात को मानो सम्पूर्ण रूप से भूल जाते थे कि वे रुग्ण हैं। इस समय उन्होंने कुछ पुस्तकें लिखने का संकल्प किया था, परन्तु खेद है कि उस कार्य का प्रारम्भ मात्र हुआ था; वे एक भी पुस्तक को सम्पूर्ण न कर सके थे।

स्वामीजी आडम्बरपूर्ण क्रियाकलाप के विशेष विरोधी थे। मठ की नित्य नैमित्तिक ठाकुर पूजा यथासम्भव सादगी के साथ समाप्त कर वे ब्रह्मचारी तथा संन्यासियों को अधिकांश समय साधना, शास्त्रचर्चा, वेदपाठ आदि कार्यों में ही बिताने का निर्देश देते थे। मठ के प्रतिदिन की कार्यावली की शृंखला को कायम रखने के लिए उन्होंने प्रत्येक कार्य का समय निर्दिष्ट कर दिया था। मठ के प्रत्येक व्यक्ति पर वे तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे — जान बूझकर यदि कोई किसी नियम का उल्लंघन करता था तो वे उस पर असन्तुष्ट होते थे और कठोर भाषा में उसकी भर्त्सना भी करते थे।

रात्रि के तीन बजे शय्यात्याग करके स्वामीजी ध्यानमग्न होते थ। ध्यान के कमरे में उनके लिए एक अलग आसन रखा रहता था। दूसरे संन्यासी व ब्रह्मचारीगण उन्हें घेरकर बैठते थे। जब तक स्वामीजी न उठते थे तब तक किसी को उठने का अधिकार न था, और आवश्यकता भी न होती थी। महापुरुषों की पवित्र चिन्ताधारा के प्रभाव से प्रत्येक का ही मन बाह्य विषय

से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होता था। एक अभूतपूर्व आनन्द की अनुभूति से चित्त भर जाता था। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने एक दिन कहा था, "नरेन के साथ ध्यान करने बैठने पर जैसा ध्यान जमता है वैसा मैं जब अकेला बैठता हूँ तब नहीं जमता।" कभी कभी स्वामीजी दो घण्टे से अधिक समय तक ध्यानासन पर बैठे रहते थे। उसके बाद 'शिव शिव' कहते कहते आसन से उठकर श्रीरामकृष्ण देव को प्रणाम कर कोई श्यामासंगीत अथवा शिव संगीत गाते गाते नीचे उतर आते थे और प्रांगण में टहलते थे। मुखमण्डल पर ध्यानजन्य अपूर्व प्रशान्ति, विशाल विस्तृत नेत्रों में भाव के आवेग से ईषत् लालिमा, अर्धबाह्य दशा में लापरवाही से टहलना आदि देखकर ऐसा लगता था कि मानो वास्तव में वे इस पृथ्वी के मनुष्य नहीं हैं।

इसके बाद शास्त्रचर्चा प्रारम्भ होती थी। स्वामीजी स्वयं उपस्थित रहकर शिष्यों का विचार श्रवण करते थे तथा जटिल स्थानों की स्वयं मीमांसा कर देते थे। प्रातःकाल उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि वेदान्त शास्त्रों का अध्ययन व अध्यापन चलता था। स्वामीजी ने स्वयं कुछ दिनों से शिष्यों को पाणिनी तथा लघुकौमुदी पढ़ाना शुरू किया था। दोपहर में भोजन के बाद फिर पठन-पाठन चलता था। तीसरे प्रहर में ब्रह्मचारी व संन्यासी गण कुछ देर विश्राम करते, तत्पश्चात् उनमें से कुछ भ्रमण के लिए निकल जाते, और कोई कोई मठ-कार्य में लग जाते थे। सन्ध्या-आरती के शंख-घण्टा बजने के साथ ही सब लोग ध्यान-गृह में एकत्र होते थे। ध्यान के समय पर यदि कोई अनुपस्थित रहता था तो स्वामीजी उसकी भर्त्सना करते थे। कोई भी ब्रह्मचारी शारीरिक अस्वस्थता के अतिरिक्त अन्य किसी भी कारण से मठ की दैनिक नियमावली का उल्लंघन करने पर उस दिन के लिए मठ में भोजन न पाता था। आस-पास के गाँवों से भिक्षा माँगकर उस दिन के लिए उसे उदरपूर्ति करनी पड़ती थी। स्वामीजी एक ओर जिस प्रकार उदार, दयालु व स्नेहपरायण थे, दूसरी ओर उसी प्रकार कठोर, न्यायपरायण तथा निर्मम थे। व्यक्तिविशेष की—

वह कितना ही प्रिय पात्र क्यों न हो — छोटी से छोटी त्रुटि को भी वे क्षमा न करते थे। वे जानते थे, उदारता व क्षमा की अधिकता होने पर भविष्य में मठ के आदर्श की रक्षा करना असम्भव हो जायगा। वास्तव में इस समय बहिर्जगत् के यश-मान, प्रतिपत्ति आदि सभी बातें सम्पूर्ण रूप से भूलकर उन्होंने अपनी सारी शक्ति 'मनुष्य-गठन' के कार्य में नियुक्त कर दी। इस प्रकार अप्रैल व मई मास व्यतीत हुए। भारत तथा बाहरी देशों में रामकृष्ण मिशन के प्रचारक संन्यासीगण बड़े उत्साह के साथ प्रचार-कार्य में नियुक्त थे। स्वामीजी के नवीन कर्मोत्साह को देख कोई यह न समझ सका कि वे महायात्रा के आयोजन में संलग्न हैं।

जून मास के प्रथम भाग से ही स्वामीजी मठ तथा रामकृष्ण मिशन सम्बन्धी बातों में सम्पूर्ण उदासीनता प्रकट करने लगे, किसी भी विषय में अब वे अपना मतामत व्यक्त न करते थे। कभी किसी कार्य में उनकी सलाह पूछने पर वे विरक्ति के साथ उन्हें स्वयं मीमांसा कर लेने का आदेश देते थे। आचार्य, नेता, गुरु, शिक्षा-दाता आदि उपाधियों को एक एक करके छोड़ इस समय वे अधिकांश समय ध्यानानन्द में ही निमग्न रहते थे। ध्यान की आकांक्षा को अधिक से अधिक बढ़ते देख उनके गुरुभाईगण चिन्तित हुए। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "वह जिस दिन अपने को पहचान सकेगा उस दिन फिर उसका शरीर न रहेगा"— यही बात बार बार सभी के मन में आने लगी। भगिनी निवेदिता ने लिखा है, "इस समय एक दिन स्वामीजी किसी गुरुभाई के साथ अतीत घटनाओं की चर्चा कर रहे थे, इतने में ही उन्होंने पूछा, 'अच्छा स्वामीजी, क्या आप समझ सके हैं कि आप कौन हैं?'

"स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया, 'हाँ, अब मैं समझ गया हूँ।' स्वामीजी का गम्भीर भाव देख अधिक प्रश्न करने का साहस तो किसी ने न किया, परन्तु सभी समझ गए कि अब किसी भी मुहूर्त में वे देहत्याग कर सकते हैं। परन्तु इस समय उनके शरीर से रोग के सभी लक्षण दूर हो गए

थे। चिन्तित व दुःखी गुरुभाइयों के साथ हास्य, खेल आदि करते हुए वे सदा ही अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाते थे। वे वास्तव में देहत्याग करेंगे, कोई इस बात को जानकर भी समझ नहीं सकता था।"

देहत्याग से एक सप्ताह पूर्व आचार्य देव ने स्वामी शुद्धानन्दजी को एक पंचांग लाने का निर्देश दिया। पंचाग के आ जाने पर उन्होंने स्वयं उसे देखभाल कर अपने कमरे में रख दिया। बीच बीच में वे गम्भीर ध्यान के साथ उसे देखते थे, उस समय उनके मुख का भाव देखकर ऐसा लगता था मानो वे किसी विशेष कार्य के लिए कोई दिन चुनना चाहते हैं, परन्तु किसी निर्णय पर पहुँच नहीं सक रहे हैं। स्वामीजी का देहान्त होने के बाद उनके गुरुभाईगण समझ सके कि स्वामीजी के बारम्बार पंचांग देखने का क्या मतलब था। भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने भी देहत्याग से कुछ दिन पूर्व एक शिष्य को पंचांग देखने के लिए बुलाया था। उसके बाद कुछ दिनों की विशेष बातें जान लेने के बाद श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था, "बस अब और आवश्यकता नहीं।" स्वामीजी ने भी श्री गुरुदेव की पद्धति का अनुसरण करते हुए महायात्रा का दिन निश्चित कर लिया था। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि स्वामीजी को पंचांग देखते समय किसी को थोड़ी देर के लिए भी इस बात का स्मरण न हुआ।

देहत्याग से तीन दिन पूर्व स्वामीजी मठ के विस्तृत मैदान में घूमते घूमते, जहाँ पर इस समय उनका समाधि-मन्दिर बना है उस स्थान को उँगली के इशारे से दिखाते हुए सहसा बोल उठे, "मेरा देहान्त होने पर उस स्थान पर अन्तिम संस्कार करना।" साथ में जो लोग थे उन्होंने चुपचाप सुन लिया, कोई प्रश्न करने की बात किसी के मन में न उठी।

बुधवार दिन, एकादशी थी। स्वामीजी ने उस दिन उपवास किया था। प्रातर्भोजन के समय शिष्यों को स्वयं परिवेशन करके भोजन कराने की इच्छा उन्होंने प्रकट की। भात के साथ पकाए हुए कटहर के बीज तथा आलू,

और दूध — यही भोजन की सामाग्रियाँ थीं। भोजन के समय स्वामीजी हास्य विनोद से सभी को हँसाने लगे। स्वामीजी को प्रफुल्लित देख शिष्यगण बहुत ही आनन्दित हुए। स्वामीजी जिस समय बालक की तरह हँसी-मज़ाक करते थे, उच्च हास्य तथा मधुर व्यवहार के साथ सभी से सरल भाव से मिलते थे उस समय उनके सामने किसी को लज्जा या संकोच नहीं होता था। परन्तु जब वे गम्भीर होकर बैठे रहते थे उस समय उनके पास होकर चले जाने में भी भय से हृदय काँप उठता था। आहार के बाद सब लोगों के उठ जाने पर स्वामीजी उनके हाथ धुलाने के लिये लोटे से स्वयं जल देने लगे और आचमन के बाद तौलिए से उनके मुँह और हाथों को पोंछने लगे।

"यह आप क्या कर रहे हैं स्वामीजी ? यह सब काम तो मुझे करना उचित है, मैं आपका सेवक हूँ, आप से सेवा ले नहीं सकता।" इस प्रकार आपत्ति उठाते ही महापुरुष गम्भीर भाव से स्वर्ग का माधुर्य लाते हुए बोले, "क्या ईसामसीह ने अपने शिष्यों के पैर नहीं धोए थे ?"

इस प्रश्न का उत्तर मन में उठा — "परन्तु वह तो उनका अन्तिम दिन था।" परन्तु रुद्ध कण्ठ से इसका उच्चारण किया न जा सका। दोनों ओंठ ज़रा हिलकर चुप रह गए।

१९०२ ई० चार जुलाई। तड़के ही शय्या त्यागकर स्वामीजी आज सभी के साथ एकत्र ध्यान करने न गए, अतीत की बातें चलाकर वे नाना प्रकार से वार्तालाप करने लगे। दूसरे दिन अमावस्या व शनिवार था। इसलिए मठ में उन्होंने श्री काली-पूजा करने की इच्छा प्रकट की। पूजा के आयोजन के सम्बन्ध में वार्तालाप हो रहा था इसी समय स्वामी रामकृष्णानन्द के पिता शक्तिसाधक तथा तंत्र-शास्त्र में पण्डित ईशानचन्द्र भट्टाचार्य महाशय मठ में पधारे। उन्हें देख स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। भट्टाचार्य महाशय के साथ परामर्श करके स्वामीजी ने उसी समय स्वामी शुद्धानन्द तथा बोधानन्द जी को पूजा की आवश्यक व्यवस्था करने के लिए निर्देश दिया। इसके बाद

थोड़ी सी चाय पीकर वे मठ के ठाकुर-घर में प्रविष्ट हुए। थोड़ी ही देर बाद देखा गया कि ठाकुर-घर के सभी दरवाजे व खिड़कियाँ बन्द कर दी गई हैं। इस प्रकार वे तो कभी दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द नहीं करते थे — इसका क्या कारण है? कौन कहे! लगातार तीन घण्टे व्यतीत हो जाने पर एक श्यामा संगीत गाने के बाद भाव के आनन्द में मग्न महापुरुष धीरे धीरे सीढ़ियों से उतरकर नीचे आए। "मन, चल निज निकेतने" गाना गुनगुनाते हुए वे मठ के प्रांगण में टहलने लगे। आज उस दिन की याद आती है — जिस दिन गुरु-शिष्य का पहले पहल साक्षात्कार हुआ था। उस दिन बालक नरेन्द्र-नाथ ने भाव के आनन्द में गद्गद होकर दक्षिणेश्वर के पवित्र देवालय में यही गाना गाया था और उनके सम्मुख अर्ध बाह्य दशा में बैठे श्रीरामकृष्ण आँखों से आँसू बहाते हुए उनके कैशोर लावण्योज्ज्वल स्निग्ध मुख की ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रहे थे। उस दिन बालक की आँखों में थी — सकरुण मौन-विनति! संसार की शठता, प्रवंचना, अन्याय, अविचार के शत शत शोचनीय चित्रों को देख व्यथितहृदय बालक ने उस दिन माँगी थी — मुक्ति, निर्वाण, भगवद्दर्शन। आज उन्हीं नेत्रों में है गम्भीर समवेदना से कातर कल्याण की वर्षा करनेवाली पवित्र दृष्टि — मुखमण्डल पर है ब्रह्मविद् की उद्भासित ज्योति — जगत् के कल्याण के व्रत में पूर्ण आत्मदान की गौरव-पूर्ण महिमा — सिद्धसंकल्प महायोगी की असीम प्रशान्ति! वह था एक दिन — और आज है एक दूसरा दिन! इन दोनों के बीच कैसी विराट चेष्टा, महान् प्रयास! टहलते टहलते आत्मस्थ महायोगी क्या यही सोच रहे हैं? मन ही मन एकान्त में धीरे धीरे न जाने वे क्या कह रहे हैं? स्वामी प्रेमानन्दजी पास ही खड़े थे। उन्होंने सुना, स्वामीजी आप ही आप कह रहे हैं, "यदि इस समय कोई दूसरा विवेकानन्द होता तो वह समझ सकता, विवेकानन्द ने क्या किया है। परन्तु समय पर अवश्य अनेक विवेकानन्द जन्म ग्रहण करेंगे।" — स्वामी प्रेमानन्दजी चौंक उठे, क्योंकि वे जानते थे, स्वामीजी का मन

उच्चतम भावभूमि पर आरूढ़ हुए बिना तो वे ऐसी बातें कभी नहीं करते थे। महामाया का खेल कौन समझे ? सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि वाले महापुरुष स्वामी प्रेमानन्द भी देखकर भी देख न सके, समझकर भी न समझ सके कि उनके प्यारे गुरुभाई विवेकानन्द आज देहत्याग का संकल्प लेकर योगारूढ़ हुए हैं।

नियमित समय पर भोजन की घण्टी होते ही स्वामीजी ठाकुर-घर के नीचे के बरामदे में सभी के साथ एकत्र मिलकर भोजन करने बैठे। स्वामीजी अस्वस्थ होने के बाद से बहुधा सभी के साथ मिलकर भोजन न करते थे। आज सहसा उस नियम का व्यतिक्रम होते देखकर भी किसी के मन में कोई सन्देह न हुआ, बल्कि सहसा अप्रत्याशित रूप से स्वामीजी के साथ एकत्र भोजन करने का सौभाग्य प्राप्त कर सभी बड़े आनन्दित हुए। स्वामीजी अस्वाभाविक आग्रह के साथ भोजन करने लगे और गुरुभाइयों के साथ हास्यालाप में रत हुए। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा कि दूसरे दिनों की अपेक्षा आज उनका शरीर अधिक स्वस्थ लग रहा है।

भोजन के बाद थोड़ी देर विश्राम करके ही स्वामीजी ने ब्रह्मचारियों को संस्कृत क्लास में बुला लिया। अन्य दिनों ढाई तीन बजे के समय पाठ शुरू होता था, आज एक बजकर पन्द्रह मिनट पर ही पाठ प्रारम्भ हुआ। लघु-कौमुदी व्याकरण का पाठ चल रहा था — विषय नीरस होने पर भी लगातार तीन घण्टे में किसी ने किसी प्रकार विरक्ति का अनुभव न किया। कभी मज़ाक वाली छोटी छोटी कहानियाँ कहकर, कभी सूत्रों की नाना प्रकार की आकर्षक व्याख्या करते हुए स्वामीजी कठिन कठिन स्थानों को भी सरलता से समझने योग्य तथा आकर्षक बनाने लगे। प्रसंग-क्रम में स्वामीजी बोले कि इसी प्रकार कहानी, उपमा तथा हँसी के साथ उन्होंने एक दिन अपने सहपाठी मित्र स्वर्गीय दाशरथी सन्याल (हाईकोर्ट के वकील) को एक रात्रि में ही इंग्लैण्ड का सारा इतिहास सिखा दिया था। व्याकरण की अध्यापना समाप्त होने पर ऐसा दिखा कि स्वामीजी कुछ थक-से गए हैं।

तीसरे प्रहर में स्वामीजी स्वामी प्रेमानन्दजी को साथ लेकर मठ के बाहर घूमने गए। उस दिन दोनों बातें करते हुए बेलुड़ बाज़ार तक गए थे। अन्य बातों के संग में वेद-विद्यालय की बात भी उठी। स्वामी प्रेमानन्दजी ने प्रश्न किया, "स्वामीजी, वेदपाठ से क्या उपकार होगा?" स्वामीजी ने उसी समय गम्भीर भावपूर्ण परन्तु थोड़े शब्दों में उत्तर दिया, "कम से कम इससे अनेक कुसंस्कार अवश्य नष्ट हो जायँगे।"

बाहर से लौटकर स्वामीजी मठ के बरामदे में बैठे और संन्यासी तथा ब्रह्मचारियों के साथ वार्तालाप करने लगे तथा छोटों से स्नेह के साथ कुशल प्रश्न पूछकर उन्हें समयोचित उपदेश आदि देने लगे। सन्ध्या आरती का समय हुआ। ब्रह्मचारीगण एक एक करके स्वामीजी को प्रणामकर ठाकुर-घर की ओर चले। आचार्य देव धीरे धीरे दुमंजले पर अपने कमरे में पधारे।

एक ब्रह्मचारी सदा ही स्वामीजी के साथ साथ रहते थे। स्वामीजी ने उन्हें अपने कमरे के सभी खिड़की व दरवाजों को खोल देने का आदेश दिया। बाहर गहन अन्धकार, भागीरथी पर अगणित दीपों के प्रतिबिम्ब मृदु तरंग से काँप रहे थे। ऊपर अगणित नक्षत्रों को छाती में धारणकर आकाश निस्तब्ध था — आत्ममग्न विवेकानन्द ने धीरे धीरे खिड़की के सामने आकर दक्षिणेश्वर की ओर दृष्टिपात किया। उस गहरे अन्धकार को भेदकर उनकी दिव्य दृष्टि क्या देख रही थी — कौन जाने। बहु दिन पूर्व काशीपुर के बगीचेवाले मकान में श्रीरामकृष्ण ने जिस अनुभूति के द्वार को रुद्ध किया था — क्या आज कर्म-श्रान्त संन्यासी की निर्निमेष दृष्टि के सम्मुख वही धीरे धीरे उन्मुक्त हो रहा है? विवेकानन्द की ज्ञान-दृष्टि के सम्मुख जिस 'कागज़ की तरह बारीक' आवरण की बात श्रीरामकृष्ण कहा करते थे उसी रहस्यपूर्ण आवरण के धीरे धीरे अन्तर्हित हो जाने से क्या चरम आत्मोपलब्धि का आनन्द-निकेतन उद्भासित हो उठा है? काफी देर बाद मानो एकाएक होश संभाल विवेकानन्द लौटकर खड़े हो गए। ब्रह्मचारीजी को बाहर बैठ जप करने का निर्देश देकर वे स्वयं

जपमाला हाथ में लिये पद्मासन में बैठ गए। एक घण्टे बाद आसन से उठकर स्वामीजी कमरे में बिस्तर पर लेट गए और ब्रह्मचारीजी को बुलाकर उन्होंने पंखा करने के लिए कहा।

जपमाला हाथ में लिये सोये हुए महापुरुष की देह निःस्पन्द व स्थिर है। उस समय करीब रात्रि के नौ बजे का समय था, इसी समय उनका हाथ काँप उठा और साथ ही वे निद्रित शिशु की तरह अस्पष्ट स्वर से थोड़ा क्रन्दन कर उठे। दो गम्भीर दीर्घ निश्वास के पतन के साथ ही साथ उनका मस्तक सिरहाने से हिल गया। स्वामीजी को इस स्थिति में देख, ब्रह्मचारीजी यह न समझ सके कि क्या करना चाहिए; वे घबड़ा उठे और नीचे जाकर बड़े बड़े संन्यासियों को उन्होंने यह समाचार सुनाया। उन्होंने जल्दी ही आकर देखा कि योगीवर अनन्त निद्रा में शयन कर रहे हैं। अमावस्या की रात्रि के अन्धकारपूर्ण घूँघट की आड़ में जगन्माता ने अपने व्यग्र बाहुओं को प्रसारित कर रणश्रान्त वीर पुत्र को अपनी गोदी में उठा लिया है !!

* * * *

जो कुछ आँखों के सामने था वह आँखों से ओझल हो गया ! किस उद्देश्य से संसाररूपी रंगमञ्च पर किसने यह अभिनय किया, कौन हैं विवेकानन्द — कौन हैं रामकृष्ण परमहंस ? मृत्यु की यवनिका द्वारा नेपथ्यभूमि आवृत है। कालस्रोत में कहाँ तक जाकर यह अभिनय समाप्त होगा ? मानव का क्षुद्र ज्ञान क्या भूत, क्या भविष्य — किसी भी दिशा में अन्त तक पहुँच नहीं सकता। इसीलिए वर्तमान को पकड़कर रखने की इस प्रकार अथक चेष्टा ! परन्तु आज जो कुछ है,— कल वह नहीं रहता — बहता रहता है केवल अनन्त कालस्रोत;— गरज उठती हैं बीच बीच में केवल ऊँची ऊँची लहरें।

बंगाल के जीवन स्रोत में राजा राममोहन से लेकर अनेक तरंगों के उत्थान व पतन का हमने निरीक्षण किया है। शताब्दी के अन्त तथा प्रथम भाग में फिर यह एक तरंग का अभिघात !! दक्षिणेश्वर में गंगाजी के पूर्व तट

पर एक दिन इसकी उत्पत्ति हुई,— बेलुड़ में पश्चिम तट पर एक दूसरे दिन इसका विलय हुआ! इसके अप्रतिहत वेग से ऐटलान्टिक के दुस्तर लवणाम्बु-राशि की दोनों तटभूमि प्रकम्पित — प्रतिध्वनित हैं!! समझा गया — गंगा में स्रोत है और बंगाली नहीं मरे। परन्तु जो कुछ आँखों के सामने प्रकट हो उठता है और देखते ही देखते डूब जाता है, वह केवल वर्तमान में ही सीमित नहीं है, परन्तु इसका भूत व भविष्य हम सम्पूर्ण रूप से जान नहीं सकते। कौन कहेगा, विवेकानन्द कहाँ से आए थे, कौन उन्हें लाया था? और यह भी कौन कह सकता है, इस अभ्युदय की परिसमाप्ति कब — कितनी दूर — कहाँ होगी?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हरिः ॐ तत्सत्

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. श्रीरामकृष्णवचनामृत — तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय संस्करण)—मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग—मूल्य ७॥)

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत — (विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)— दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. परमार्थ-प्रसंग — स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

७. विवेकानन्दजी के संग में — (वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं. मूल्य ५।)

८. भारत में विवेकानन्द ५)
९. ज्ञानयोग (प्र. सं.) ३)
१०. पत्रावली (प्रथम भाग) (प्र. सं.) २=)
११. पत्रावली (द्वितीय भाग) (प्र. सं.) २=)
१२. देववाणी (प्र. सं.) २=)
१३. धर्मविज्ञान (द्वि. सं.) १॥=)
१४. कर्मयोग (द्वि. सं.) १॥=)
१५. हिन्दू धर्म (द्वि. सं.) १॥)
१६. प्रेमयोग (तृ. सं.) १।=)
१७. भक्तियोग (तृ. सं.) १।=)
१८. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (तृ. सं.) १।)
१९. परिव्राजक (च. सं.) १।)
२०. प्राच्य और पाश्चात्य (च. सं.) १।)
२१. महापुरुषों की जीवनगाथायें (द्वि. सं.) १।)
२२. राजयोग (प्र. सं.) १=)
२३. स्वाधीन भारत! जय हो! (प्र. सं.) १=)
२४. धर्मरहस्य (द्वि. सं.) १)
२५. भारतीय नारी (द्वि. सं.) ॥।)

२६. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ (द्वि. सं.) ।।।≈)
२७. शिक्षा (द्वि. सं.) ।।≈)
२८. शिकागो-वक्तृता (ष. सं.) ।।≈)
२९. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. सं.) ।।≈)
३०. मेरे गुरुदेव (च. सं.) ।।≈)
३१. कवितावली (प्र. सं.) ।।≈)
३२. शक्तिदायी विचार (द्वि. सं.) ।।≈)
३३. वर्तमान भारत (तृ. सं.) ।।)
३४. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि. सं.) ।।)
३५. पवहारी बाबा (द्वि. सं.) ।।)
३६. मरणोत्तर जीवन (द्वि. सं.) ।।)
३७. मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनायें (प्र. सं.) ।।)
३८. सरल राजयोग (प्र. सं.) ।।)
३९. मेरी समर-नीति (प्र. सं.) ।≡)
४०. ईशदूत ईसा (प्र. सं.) ।≈)
४१. विवेकानन्दजी से वार्तालाप (प्र. सं.) १।≈)
४२. विवेकानन्दजी की कथायें (प्र. सं.) ।।)
४३. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्र. सं.) ।।≈)
४४. वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार —स्वामी शारदानन्द, (प्र. सं.) ।≈)

मराठी विभाग

१-२. श्रीरामकृष्ण-चरित्र — प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति) ४।
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ४।≈
३. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत (पहिली आवृत्ति) ५।।)
४. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा — (तिसरी आवृत्ति) ।।≈
५. कर्मयोग — (पहिली आवृत्ति) – स्वामी विवेकानंद १।।≈
६. शिकागो-व्याख्यानें — (दुसरी आवृत्ति) – स्वामी विवेकानंद ।।≈
७. माझे गुरुदेव — (दुसरी आवृत्ति) – स्वामी विवेकानंद ।।≈
८. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण — (पहिली आवृत्ति) – स्वामी विवेकानंद ।।–
९. शिक्षण — (पहिली आवृत्ति) – स्वामी विवेकानंद ।।–
१०. पवहारी बाबा — (पहिली आवृत्ति) – स्वामी विवेकानंद ।।
११. साधु नागमहाशय-चरित्र (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य) – (दुसरी आवृत्ति) २ रु.

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर – १, म. प्र.